☐ प्रकाशक :
श्रीचन्द बैंगानी
मन्त्री
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

☐ प्रथम संस्करण १९७९

☐ मूल्य : पचीस रुपये

☐ मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

वंदना

वंदामि महाभागं,
महामुणि महायस महावीरं ।
अमर-णर-रायमहित,
तित्थकरमिमस्स तित्थस्स ।।१।।

एक्कारस वि गणधरे,
पवायए पवयणस्स वंदामि ।
सव्व गणधरवंस
वायगवंस पवयण च ।।२।।

(विशेषावश्यकभाष्य, १०५४, १०५६)

समर्पण

इतिहास स्रष्टा आचार्यश्री तुलसी
और युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ को

१ प्रशस्या. पुण्यार्हाः परहितरता· प्राप्तयशस·,
प्रवीणाः प्राचार्या प्रतिनिधिपदे ये भगवताम् ।·
प्रणम्याः प्रत्यहं प्रणिहितधिय प्राज्ञपुरुषा.,
प्रसीदेयु. पूज्याः प्रशमरसपीता. प्रमुदिताः ।।·
२ महाभागा मान्या मथितमदना मानरहिता,
विवेकज्ञा विज्ञा विशदमतयो वाचकमुखा. ।·
समोद स्वल्पार्घ्यं लघुकृतिमय सघतिलका,
महान्त. स्वीकुर्युर्गुणगणयुता विश्वमहिता ।।२।।

आशीर्वचन

जैन धर्म अपनी मौलिकता और वैज्ञानिकता के कारण अपने अस्तित्व को एक शाश्वत धर्म के रूप मे अभिव्यक्ति दे रहा है। भगवान महावीर इस युग के अन्तिम तीर्थंकर थे। उनके बाद आचार्यों की एक बहुत लम्बी शृखला कडी से कडी जोडती रही है। सब आचार्य एक समान वर्चस्व वाले नही हो सकते। नदी की धारा मे जैसे क्षीणता और व्यापकता आती है वैसे ही आचार्य-परपरा मे उतार-चढाव आता रहा है। फिर भी उस शृखला की अविच्छिन्नता अपने आप मे एक ऐतिहासिक मूल्य है।

पचीस सौ वर्षों के इतिहास का एक सर्वांगीण विवेचन महत्त्वपूर्ण कार्य अवश्य है पर है असभव। फिर भी कुछ दूरदर्शी आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित कर रखा है, अन्यथा जैन धर्म के इतिहास को कोई ठोस आधार नही मिल पाता।

पिछले कुछ वर्षों मे कई स्थानो से आचार्य-परपरा के सम्बन्ध मे ग्रन्थ लिखे गए। किन्तु उनमे कही पर साम्प्रदायिकता का रग आ गया, कही पर ऐतिहासिकता अक्षुण्ण नही रही और कही तथ्यो का सकलन व्यवस्थित रूप से नही हो सका।

मैं बहुत बार सोचता था कि जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों का सिलसिलेवार अध्ययन प्रस्तुत किया जाए तो इतिहास-पाठको को अच्छी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी के प्रसग पर मैंने अपने धर्म-सघ को साहित्य-सृजन की विशेष प्रेरणा दी। उसी क्रम मे साध्वी सघमित्रा ने यह काम अपने हाथ मे लिया।

हमारे धर्मसघ की यह स्पष्ट नीति है कि हमे साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण से काम करना है। प्रस्तुत लेखन मे भी इस दृष्टिकोण को बराबर ध्यान मे रखा गया है। इसके लिए साध्वी सघमित्रा ने अनेक ग्रन्थो का अवलोकन किया और निष्ठा एव एकाग्रता के साथ अपने काम को आगे बढाया।

दशाब्दियो पूर्व तक इतिहास मे साहित्य-सृजन के क्षेत्र मे मुनिजन अग्रणी रहे हैं। साध्वियो द्वारा लिखित साहित्य की कोई उल्लेखनीय धारा नही है। इन

वर्षो मे हमारे धर्म-सघ मे साधुओ की भाति साध्विया भी इस क्षेत्र मे गतिशील है।

साध्वी सघमित्रा द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म के प्रभावक आचार्य' इतिहास के जिज्ञासुओ की जानकारी के धरातल को ठोस बनाए तथा सुधी पाठको की आलोचनात्मक समीक्षा-कषोपल पर चढकर पूर्णता की दिशा मे अग्रसर बने, यह अपेक्षा है।

आचार्य तुलसी

सत्सग भवन,
चण्डीगढ
५ मई, १९७९

प्रस्तावना

जैन-शासन सामुदायिक साधना की दृष्टि मे अपूर्व है। भारतीय साधना की परपरा मे उसकी परपरा को चिरजीवी परपरा कहा जा सकता है। यद्यपि व्यक्तिगत साधना की व्यवस्था भी सुरक्षित है, फिर भी सामुदायिक साधना की पद्धति ही मुख्य रही है। उस समूची पद्धति का प्रतिनिधित्व करने वाले दो शब्द है—गण और गणी। भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल मे नौ गण और ग्यारह गणधर थे। यह विभाग केवल व्यवस्था की दृष्टि से था। उत्तरवर्ती काल मे गण अनेक हो गए। उनमे मौलिक एकता भी नही रही। सम्प्रदाय भेद बढते गए। बडे गण छोटे गणो मे विभक्त होते गए। फिर भी गण की परपरा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न निरतर चलता रहा। फलत आज भी जैन शासन परपरा के रूप मे सुरक्षित हैं। गणो के आपसी भेद चलते थे। बौद्ध और वैदिक विद्वानो के आघात भी चलते थे। इस परिस्थिति मे प्रभावक आचार्य ही जैन-शासन के अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते थे। इस पचीस सौ वर्ष की लबी अवधि मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है। उन्होने अपनी श्रुत-शक्ति, चारित्र-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति के द्वारा अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा की और जैन-शासन की भी प्रभावना बढाई। हजारो वर्षो की लबी अवधि मे अनेक गणो के अनेक प्रभावी आचार्य हुए। उन सबका आकलन करना एक दुर्गम कार्य है। साध्वी सघमित्रा ने उस दुर्गम कार्य को सुगम करने का प्रयत्न किया है।

आचार्य-परपरा को जानने के मुख्य स्रोत हैं—स्थविरावलिया, पट्टावलिया, प्रभावक-चरित्र, प्रबधकोश आदि-आदि ग्रन्थ। आगम के व्याख्या ग्रथो—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णियो, और टीकाओ मे यत्र-तत्र कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। साध्वी सघमित्रा ने श्वेताम्बर और दिगबर परपरा के उपलब्ध उन सभी स्रोतो का इस प्रस्तुत कृति मे उपयोग किया है।

प्रस्तुत ग्रथ मे सभी परपरा के आचार्यों का जीवन-वृत्त वर्णित है। उनके आधारभूत प्रामाणिक स्रोत भी सन्दर्भ रूप मे सकलित है। लेखिका ने बडी लगन और परिश्रम के साथ प्रस्तुत ग्रथ की रचना की है। श्रम और सूझ-बूझ के साथ लिखा गया यह ग्रन्थ पाठको के लिए रुचिवर्धक, ज्ञानवर्धक और शक्तिवर्धक

सिद्ध होगा।

आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे सतत प्रवाहित साहित्य सरिता मे अवगाहन कर कोई भी व्यक्ति धन्यता का अनुभव कर सकता है। साध्वी सघमित्रा जी को भी अपनी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध होगा। भिक्षु-शासन की साहित्यिक गरिमा को वढाने मे जिनकी अगुलियो का योग है, वे सव साधुवाद के योग्य है। उस अर्हता मे साध्वी सघमित्रा ने भी अपना योग दिया है, इसका मैं अनुभव करता हू।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अणुव्रत विहार,
नई दिल्ली,
१५ मई, १९७९

प्रस्तुति

निर्ग्रन्थ शासन

निर्ग्रन्थ सत्संयम, त्याग और अहिंसा की भूमिका पर अधिष्ठित है। अनन्त ज्ञानालोक पुञ्ज महायशस्वी तीर्थंकर उसके संस्थापक और संचालक होते हैं। तीर्थंकर की अनुपस्थिति में इस महत्त्वपूर्ण दायित्व का निर्वहण आचार्य करते हैं।

आचार्य विशुद्धतम आचार सम्पदा के स्वामी होते हैं। वे छत्तीस गुणो से अलंकृत होते हैं। दीपक की तरह स्वय प्रकाशमान बनकर जन जन के पथ को आलोकित करते हैं और तीर्थंकरो की शिक्षा-पतवार को लेकर सहस्रो-सहस्रो जीवन नौकाओ को भवाब्धि के पार पहुँचाते हैं।

जैन शासन और भगवान महावीर

वर्तमान जैन शासन भगवान महावीर की अनुपम देन है। सर्वज्ञोपलब्धि के बाद अध्यात्म प्रहरी, मुक्तिदूत, तप पूत तीर्थंकर महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। अहिंसा, अभय, मैत्री का स्नेह प्रदान कर समता का दीप जलाया। अध्यात्म के आयाम उद्घाटित किए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पुरुष और नारी सभी के लिए धर्म की समान भूमिका प्रस्तुत की। अपनी अनन्त महासम्पदा से जन-जन को लाभान्वित कर एव समुचित व्यवस्था क्रम से जैन सघ को मार्ग-दर्शन देकर भगवान महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

आचार्यो की गौरवमयी परम्परा का प्रारम्भ

भगवान महावीर की विशाल सघ सम्पदा को जैनाचार्यों ने सम्भाला। जैनाचार्य विराट् व्यक्तित्व एव उदात्त कृतित्व के धनी थे। वे सूक्ष्म चिन्तक एव सत्यद्रष्टा थे। धैर्य, औदार्य और गाम्भीर्य उनके जीवन के विशेष गुण थे। सहस्रो-सहस्रो श्रुत-सम्पन्न मुनियो को लील लेने वाला विकराल काल का कोई भी क्रूर आघात एव किसी भी वात्याचक्र का तीव्र प्रहार उनके मनोबल की जलती मशाल को न मिटा सका, न बुझा सका और न उनकी विराट् ज्योति को मद कर सका।

प्रसन्नचेता जैनाचार्यों की धृति मदराचल की तरह अचल थी।

उदार-चेता

जैनाचार्य उदात्त विचारो के धनी थे। उन्होने अपने सघ व सम्प्रदाय की ही सीमा को सब कुछ न मानकर अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से ही चिन्तन किया। जन-जन के हित की बात कही। शास्त्रार्थ प्रधान युग मे भी समन्वयात्मक भाव-भूमि को परिपुष्ट किया। समग्र धर्मो के प्रति उनका सद्भाव, स्याद्वाद-सिद्धान्त से अनुस्यूत माध्यस्थ दृष्टिकोण एव अनाग्रहपूर्ण प्रतिपादन जैनाचार्यों की सफलता का मूल मत्र था।

दायित्व का निर्वाह

श्रमण परम्परा मे अनेक जैनाचार्य लघुवय मे दीक्षित होकर सघ के शास्ता बने। पर उन्होने आचार्य पद से अलकृत हो जाने मे ही जीवन और कर्त्तव्य की इतिश्री नही मान ली थी। अपने दायित्व का वहन उन्होने प्रतिक्षण जागरूक रहकर किया। "सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरन्ति" भगवान महावीर का यह आगम वाक्य उनका अभिन्न सहचर था।

जैनाचार्यो की ज्ञानाराधना

सद्धर्म धुरीण जैनाचार्यों की ज्ञानाराधना विलक्षण थी। मदिर और उपाश्रय ही उनके (ज्ञानकेन्द्र) विद्यापीठ थे। श्रुतदेवी के वे स्वय कर्मनिष्ठ उपासक बने। "सज्झाय-सज्झाण रयस्स तायिणो" इस आगम वाणी को उन्होने जीवन-सूत्र बनाकर ज्ञान-विज्ञान का गम्भीर अध्ययन किया। दर्शन के महासागर मे उन्होने गहरी डुबकिया लगाई। फलत जैनाचार्य दिग्गज विद्वान् बने। ससार का विरल विषय ही होगा जो उनकी प्रतिभा से अछूता रहा। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, साहित्य, सगीत, इतिहास, गणित, रसायन शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र आदि विभिन्न विषयो के ज्ञाता, अन्वेष्टा एव अनुसधाता जैनाचार्य थे।

भारतीय ग्रन्थ राशि के जैनाचार्य पाठक ही नही स्वय निर्माता थे। उनकी लेखनी अविरल गति से चली। विशाल साहित्य का निर्माण कर उन्होने सरस्वती के भडार को भरा। उनका साहित्य स्तवन प्रधान एव गीत प्रधान ही नही था। काव्य एव महाकाव्य का निर्माण, विशाल काय पुराणो की सरचना, व्याकरण एव कोश की सृष्टि भी उन्होने की।

दर्शन क्षेत्र मे जैनाचार्यो ने गभीर दार्शनिक दृष्टिया प्रदान की एव योग के सम्बन्ध मे नवीन व्याख्याए भी प्रस्तुत की, न्यायशास्त्र के स्वय प्रस्थापक बने। जैन शासन का महान् साहित्य जैनाचार्यों की मौलिक सूझ-बूझ एव उनके अनवरत

परिश्रम का परिणाम है।

विवेक दीप

परागम प्रवीण, बुद्धि उजागर, भवाब्धि पतवार, कर्मनिष्ठ, करुणा कुबेर एव जन-जन हितैषी जैनाचार्यों की असाधारण योग्यता से एव उनकी दूरगामी पद यात्राओ से उत्तर, दक्षिण के अनेक राजवश प्रभावित हुए। शासन शक्तियो ने उनका भारी सम्मान किया। विविध मानद उपाधियो से जैनाचार्य विभूषित किये गए पर किसी प्रकार की पद-प्रतिष्ठा उन्हे दिग्भ्रान्त न कर सकी। पूर्व विवेक के साथ उन्होने महावीर सघ को सरक्षण दिया एव विस्तार भी। आज भी जैनाचार्यों के समुज्ज्वल एव समुन्नत इतिहास के सामने प्रवुद्धचेता व्यक्ति नतमस्तक हो जाते है। मेरे मानस पर भी जैनाचार्यों की विरल विशेषताओ का प्रभाव लम्बे समय से अकित था।

सयोगत भगवान् महावीर की पच्चीसवी निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उनकी अर्चना मे साहित्य समर्पित करने का शुभ्र चिन्तन तेरापथ के अधिनायक युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के तत्वावधान मे चला। जैन दर्शन से सम्बन्धित पच्चीस विषय चुने गए थे उनमे किसी एक विषय पर सौ पृष्ठो जितनी सामग्री लेखन का निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। मैंने अपनी सहज रुचि के अनुसार "जैन धर्म के प्रभावक आचार्य" इस विषय को चुना और हार्दिक निष्ठा से लिखना प्रारभ किया। मेरी लेखनी जैसे ही आगे बढी, मुझे अनुभव हुआ कि प्रारभ मे यह विषय जितना सरल लग रहा है उतना ही दुरूह है। इस प्रसग पर कवि माघ का भावपूर्ण पद्य स्मृति-पटल पर उभर आया—

तुगत्वमितिरा नाद्रौ नेद सिन्धावगाहता।
अलघनीयताहेतुरुभय तन्मनस्विनि ।।

सागर गहरा होता है ऊचा नही, शैल उन्नत होता है गहरा नही, अत इन्हे मापा जा सकता है। पर उभय विशेषताओ से समन्वित होने के कारण महापुरुषो का जीवन अमाप्य होता हैं।

अभिव्यक्ति की इस विशेषता को अनुभूत कर लेने पर भी प्रभावक आचार्यो के जीवनवृत्त को शब्द-पटल पर चित्रित करने का मैंने प्रयास किया है। मै जानती हू, सौ पृष्ठो की मर्यादा का अतिक्रमण करके भी मनस्वी आचार्यो के जीवन महासागर से बिन्दु मात्र ही ले पाई हू, पर देवार्चना की शुभ वेला मे दो-चार अक्षत उपहार से जैसी तृप्ति भक्ति-भावित मानस को होती है, वैसी ही तृप्ति इस स्वल्प सामग्री के प्रस्तुतीकरण मे मुझे हुई है।

साधना जीवन की मर्यादा के अनुरूप जितना इतिहास एव साहित्य मैं बटोर पाई हू, उसी के आधार पर यह लेखन है। जिसमे सम्भवत बहुत कुछ अनदेखा,

अनजाना रहने के कारण अनकहा भी रह गया है। सुविज्ञ पाठक एव इतिहास-प्रेमी इस पुस्तक के सम्बन्ध मे मुझे अपनी प्रतिक्रियाओ से अवगत कराएगे तो यथासम्भव द्वितीय सस्करण मे उनका उपयोग कर सकू इस बात की ओर पूरा प्रयत्न रहेगा।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने मुझे जैन परपरा मे दीक्षित कर मेरा अनल्प उपकार किया है। उन्होने मेरी ज्ञान की आराधना, दर्शन की आराधना और चरित्र की आराधना को सवर्द्धित करने का सदा प्रयत्न किया है। मैं उनकी प्रभुता और कर्त्तव्य परायणता के प्रति समर्पित रही हू। मैंने उनकी दृष्टि की आराधना की है और उससे बहुत कुछ पाया है। उनके द्वारा प्राप्त के प्रति मैं कृतज्ञ हू और प्राप्य के प्रति आशान्वित हू। उन्होंने आशीर्वचन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है। मैं उनके इस अनुग्रह के प्रति प्रणत हू।

युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की प्रज्ञा ने मुझे सदा सचेत रखा है और दर्शन चेतना को जागृत रखने का सदुपाय बताया है। कृपाकाक्षी नही आत्माकाक्षी बनो—इस सूत्र ने मुझे सदा उबारा है। मैं महाप्रज्ञ की ज्ञानाराधना से और चारित्रिक निष्ठा से बहुत लाभान्वित हुई हू। उनके अध्यात्म से ओत-प्रोत सरक्षण मे तेरापथ का साध्वी समाज त्रिरत्न की आराधना मे प्रगति करेगा—यह आशा-दीप सदा प्रज्वलित रहे। प्रस्तुत ग्रथ के लेखन मे उनका मार्ग-दर्शन मेरे लिए प्रकाश-स्तभ रहा है। उन्होंने भूमिका लिखकर मेरे उत्साह को बढाया है। शत-शत वन्दन।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभा से प्राप्त स्नेह और सद्भाव के प्रति भी मैं प्रणत हू और आशा करती हू कि उनकी देखरेख मे साध्वी-समाज विशेप प्रगति करेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन मे पार्श्ववर्तिनी साध्वियो (स्वयप्रभा जी, ललितप्रभा जी, शीलप्रभा जी, सोमलता जी) का सहयोग अत्यन्त मूल्यवान रहा है। विशेष सस्मरणीय बने है जवेरचद जी डागल्या जो व्यापार कार्य मे व्यस्त रहते हुए भी इस कृति की सम्पूर्ण प्रतिलिपि मे उत्साह पूर्वक श्रम और समय का यथेप्सित अनुदान कर सके है।

यह सम्पूर्ण कृति पाठको के हाथ मे है। उनके द्वारा इस कृति का समीक्षात्मक एव समालोचनात्मक अध्ययन मेरी प्रसन्नता मे सहयोगी बनेगा।

साध्वी सघमित्रा

उदयपुर, राजस्थान
१ मई, १९७९

अनुक्रम

खण्ड-२

खण्ड १

आचार्यों के काल का संक्षिप्त सिंहावलोकन

अध्यात्म-प्रधान भारत

भारत अध्यात्म की उर्वर भूमि है। यहा के कण-कण मे आत्मनिर्झर का मधुर सगीत है, तत्त्वदर्शन का रस है और धर्म का अकुरण है। यहा की मिट्टी ने ऐसे नररत्नो को प्रसव दिया है जो अध्यात्म के मूर्त रूप थे। उनके हृदय की हर धडकन अध्यात्म की धडकन थी। उनके ऊर्ध्वमुखी चिंतन ने जीवन को समझने का विशद दृष्टिकोण दिया। भोग में त्याग की बात कही और कमलदल की भाति निर्लेप जीवन जीने की कला सिखाई।[1]

चौबीस अवतार ने इस अध्यात्म-प्रधान धरा पर जन्म लिया। गौतम बुद्ध को बोधिसत्त्वो के माध्यम से पुन-पुन यही आना रुचिकर लगा और जैन तीर्थंकरो का सुविस्तृत इतिहास इसी आर्यावर्त के साथ जुडा।

जैन परम्परा और तीर्थंकर

जैन परम्परा मे तीर्थंकरो का स्थान सर्वोपरि होता है। नमस्कार महामन्त्र मे सिद्धो से पहले तीर्थंकरो का स्मरण किया जाता है। तीर्थंकर सूर्य की भाति ज्ञानरश्मियो से प्रकाशमान् और अपने युग के अनन्य प्रतिनिधि होते हैं। चौबीस तीर्थंकरो की क्रमव्यवस्था के अनुस्यूत होते हुए भी उनका विराट् व्यक्तित्व किसी तीर्थंकर-विशेष की परम्परा के साथ आवद्ध नही होता। मानवता के सद्यः उपकारी तीर्थंकर होते हैं।

परम्परा प्रवहमान सरिता का प्रवाह है। उसमे हर वर्तमान क्षण अतीत का आभारी होता है। वह ज्ञान, विज्ञान, कला, सभ्यता, सस्कृति, जीवन-पद्धति आदि गुणो को अतीत से प्राप्त करता है और स्व स्वीकृत एव सहजात गुण सत्त्व को भविष्य के चरणो मे समर्पण कर अतीत मे समाहित हो जाता है।

तीर्थंकर साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता एव स्वनिर्भर होते हैं। अत वे उपदेशविधि और व्यवस्थाक्रम मे किसी परम्परा के वाहक नही, अनुभूत सत्य के उद्घाटक होते हैं।[2]

भारत भूमि पर वर्तमान अवसर्पिणी काल मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ थे।

.........तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वप्रभु और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर थे।[३] परम्परा के रूप मे पार्श्वप्रभु ने ऋषभनाथ से लेकर मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों की ज्ञाननिधि एव सघ-व्यवस्था से न कुछ पाया और न कुछ भगवान् महावीर को दिया। सबकी अपनी भिन्न परम्परा थी और सबका भिन्न शासन था। पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणो को महावीर के सघ मे प्रवेश करते समय चतुर्याम साधना पद्धति को छोडकर पचमहाव्रत साधना प्रणाली को स्वीकार करना पडा था।[४] यह प्रसग भिन्न परम्परा का स्फुट सकेतक है।

वर्तमान जैन परम्परा और भगवान् महावीर

वर्तमान जैन शासन की परम्परा भगवान् महावीर से सबन्धित है। महावीर का निर्वाण वि० पूर्व ४७० वर्ष मे हुआ था। भगवान् महावीर के शासन मे इन्द्रभूति गौतम प्रमुख १४ हजार साधु, चन्दनबाला प्रमुख ३६ हजार साध्वियां थी।[५] आनद प्रमुख १ लाख ५९ हजार उपासक और जयन्ती प्रमुख ३ लाख १८ हजार उपासिकाए थी। यह व्रतधारी श्रावकश्राविकाओ की सख्या थी। श्रेणिक, उदयन, चडप्रद्योत, चेटक प्रमुख उस युग का महान् शासक वर्ग भगवान् महावीर का अनुयायी था।

सघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के सघ की सचालन विधि सुनियोजित थी। उनके सघ मे ग्यारह गणधर, नौ गण और सात पद थे।[६] गण की शिक्षा-दीक्षा मे सातो पदाधिकारियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता। आचार्य गण सचालन का कार्य करते। उपाध्याय प्रशिक्षण की व्यवस्था करते और सूत्रार्थ की वाचना देते। स्थविर श्रमणो को सयम मे स्थिर करते। प्रवर्तक आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धार्मिक प्रवृत्तियो का सघ मे प्रवर्तन करते। गणी श्रमणो के छोटे समूहो का नेतृत्व करते। गणधर दिनचर्या का ध्यान रखते और गणावच्छेदक सघ की अन्तरग व्यवस्था करते तथा धर्म शासन की प्रभावना मे लगे रहते।

महावीर सघ और उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के समकालीन श्रमण परम्परा के अन्य पाच विशाल सम्प्रदाय विद्यमान थे।[७] उनमे कुछ सम्प्रदाय महावीर के सघ से भी अधिक विस्तृत थे। उन पाचो सम्प्रदायो का नेतृत्व क्रमश (१) पूरणकाश्यप (२) मखलिगोशालक (३) अजितकेश कबलि (४) पकुधकात्यायन (५) सजयवेलट्ठिपुत्र कर रहे थे। परिस्थितियो के वात्याचक्र से वे पाचो सम्प्रदाय काल के गर्भ मे विलीन हो गए। वर्तमान मे उनका साहित्यिक रूप ही उपलब्ध है।

बौद्धधारा विदेश की ओर अधिक प्रवाहित हुई और भारत से विच्छिन्न-प्राय हो गयी। वर्तमान मे भारत भूमि पर महावीर (निर्ग्रंथ ज्ञातपुत्र) का सम्प्रदाय ही गौरव के साथ मस्तक ऊचा किए है। यह श्रेय कुछ विशिष्ट क्षमताओ और प्रतिभाओ को है। भगवान महावीर की उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा मे प्रखर प्रतिभासम्पन्न तेजस्वी, वर्चस्वी, मनस्वी, यशस्वी, अनेक आचार्य हुए।

जैन शासन की श्रीवृद्धि मे उनका अनुदान अनुपम है। वे त्याग-तपस्या के उत्कृष्ट उदाहरण, नव-नवोन्मेष प्रज्ञा के धारक एव महान् यायावर श्रमण थे। तप, नियम, ज्ञानवृक्षारूढ अमितज्ञानी तीर्थंकरो ने भव्यजनो के उद्बोधनार्थ अर्थागम प्रदान किया। गणधरो ने गूथा, सूत्रागम का निर्माण किया। आचार्यों ने उनको सरक्षण दिया। प्राणोत्सर्ग करके भी श्रुत-सपदा को काल के क्रूर दुष्काल मे विनष्ट होने से बचाया। उन्होने दूरगामिनी पदयात्रा से अध्यात्म को विस्तार दिया और भगवान महावीर के भव सतापहारी सदेश को जन-जन तक पहुचाया।

काल-विभाजन

भगवान् महावीर से अब तक के आचार्यों का युग महान् गरिमामय है। मैंने इनको तीन भागो मे विभक्त किया है—आगम युग, उत्कर्ष युग, नवीन युग।

(१) आगम युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष तक
(विक्रम पूर्व ४७० से वि० स० ५३० तक)

(२) उत्कर्ष युग—वीर निर्वाण १००० वर्ष से २००० वर्ष तक
(वि० स० ५३० से १५३० तक)

(३) नवीन युग—वीर निर्वाण २००० से २५०० तक
(वि० सं० १५३० से २०३० तक)

यह विभाजन तत्कालीन प्रवृत्तियो के प्रमुख आधारो को सामने रखकर किया गया है।

आगम युग

आगम युग वीरनिर्वाण से प्रारभ होकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समय तक सपन्न होता है। एक सहस्र वर्ष की अवधि का यह काल विविध घटना-प्रसगो को अपने मे सजोए हुए है। इस काल की मुख्य प्रवृत्ति 'आगमिक' थी। वीरवाणी को स्थायित्व प्रदान करने के लिए इस युग मे कई क्रम चले। गणधर रचित अगागम निधि' का आलवन लेकर उपागो की रचना हुई और पाठ्यक्रम की सुविधा हेतु अनुयोग व्यवस्था के माध्यम से आगम-पठन की नवीन पद्धति स्थापित हुई। इन प्रवृत्तियो का प्रमुख सबध आगम से था। आचार्य सुधर्मा आगम-निधि के प्रदाता थे। आगमधर आचार्यों मे वे ही एक ऐसे आचार्य थे जिन्होने भगवान महावीर

की सन्निधि मे बैठकर आगमबोध प्राप्त किया था। वर्तमान मे प्राप्त द्वादशाङ्गी के रचनाकार वे स्वय ही थे। आगमपुरुष आचार्य सुधर्मा से बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रभाव इस कालसीमा मे व्यापक रूप से विद्यमान रहा, अत मैंने इस सहस्र वर्ष के काल को आगम युग के नाम से सबोधित किया है।

आचार्य सुधर्मा और जम्बू

भगवान महावीर की परपरा आचार्य सुधर्मा से प्रारभ होती है। दिगम्बर परपरा मे यह श्रेय गणधर गौतम को है। सुधर्मा की जैन सघ को सबसे महत्त्वपूर्ण देन द्वादशागी की है। द्वादशागी का दूसरा नाम गणिपिटक भी है।[९] बौद्ध दर्शन मे जो स्थान त्रिपिटक का है और वैदिक दर्शन मे जो स्थान वेदत्रयी का है, वही स्थान जैन दर्शन मे गणिपिटक का है।

सुधर्मा के इस आगम वैभव को उनके बाद आचार्य जम्बू ने सुरक्षित रखा था। इन दोनो आचार्यों का जैन सघ मे अत्यत गौरवमय स्थान है। महावीर के बाद ये दो ही आचार्य ऐसे थे जिन्होने सर्वज्ञत्वश्री का वरण किया था। इनके बाद यह श्री किसी को उपलब्ध नही हो सकी थी।[१०]

श्रुतकेवली परम्परा

जैन परपरा मे छह श्रुतकेवली हुए हैं[११]

(१) प्रभव (२) शय्यभव (३) यशोभद्र (४) सभूतिविजय (५) भद्रबाहु (६) स्थूलभद्र।

इन छह श्रुतकेवलियो मे आचार्य भद्रबाहु का स्थान बहुत ऊचा है। आचार्य जम्बू के बाद वीर नि० ६४ (वि०पू० ४०६) से श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यो की नाम परपरा विभक्त हो गयी थी। वह परपरा भद्रबाहु के समय मे एक बिंदु पर आ टिकी थी। दिगम्बर परम्परा मे जम्बूस्वामी के बाद श्रुतकेवली विष्णु नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और तदनन्तर भद्रबाहु का नाम आता है।[१२] इन आचार्यों का कालमान १६२ वर्ष का है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जम्बू के बाद प्रभव से भद्रबाहु तक का कालमान १७० वर्ष का है। इन दोनो मे ८ वर्ष का अन्तर है। भद्रबाहु के पास सम्पूर्ण द्वादशागी सुरक्षित थी, इसे दोनो सम्प्रदाय एकस्वर से स्वीकार करते है।

द्वादशवर्षीय दुष्काल और आगमवाचना

आचार्य जम्बू के बाद दस बातो का विच्छेद हो गया था।[१३] श्रुत की धारा आचार्य भद्रबाहु के बाद क्षीण हो गई। इसका प्रमुख कारण उस युग का द्वादशवर्षीय अकाल था। इस समय काल की काली छाया से विक्षुब्ध अनेक श्रुतधर श्रमण

स्वर्गवासी बन गए थे। इससे श्रुत की धारा भी छिन्न-भिन्न हो गयी।

दुष्काल की परिसमाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को सकलित करने के लिए वी० नि० १६० (वि० पू० ३१०) के लगभग श्रमण सघ पाटलिपुत्र (मगध) मे एकत्रित हुआ था। आचार्य स्थूलभद्र इस महा सम्मेलन के व्यवस्थापक थे। सभी श्रमणो ने मिलकर तथा एक दूसरे से पूछकर प्रामाणिक रूप से ग्यारह अगो का पूर्णत सकलन इस समय कर लिया था। सुधर्मा युग की यह सर्वप्रथम वाचना थी। कुछ श्रमणो ने इसे मान्य नही किया। यही से जैन सघ मे श्रुतभेद की धुधली-सी रेखा भी उभर गयी थी।

टूटती श्रुत-शृ खला और आर्य स्थूलभद्र

इस समय भद्रबाहु के अतिरिक्त बारहवा अग किसी के पास सुरक्षित नही था। यह श्रुत-व्युच्छित्ति का सबसे पहला धक्का जैन सघ को लगा था। इस क्षति-पूर्ति के लिए प्रतिभा-सम्पन्न आर्य स्थूलभद्र प्रमुख विशाल श्रमण सघ नेपाल पहुचा और आचार्य भद्रबाहु से बारहवे अग की वाचना ग्रहण कर टूटती हुई श्रुत-शृखला मे आर्य स्थूलभद्र सयोजक कडी बने। श्रुतकेवली की परम्परा मे आचार्य स्थूलभद्र अन्तिम थे। उनके बाद कोई श्रुतकेवली भी नही हुआ। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूल-भद्र को अन्तिम चार पूर्वों की अर्थ-वाचना नही दी थी। अत अर्थदृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु थे। अत उनके स्वर्गवास के साथ वी० नि० १७० (वि० पू० ३००) के लगभग अर्थत चौवदह पूर्वो का विच्छेद हुआ।[१४]

दशपूर्वधर परम्परा और उल्लेखनीय प्रसग

दशपूर्वधर दस आचार्य हुए है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कन्दिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मगू (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त (१०) आर्यवज्र।[१५]

दशपूर्वधर दस आचार्यों मे आचार्य महागिरि एव सुहस्ती के जीवन-प्रसग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आर्य महागिरि प्रथम दशपूर्वधर आचार्य थे एव जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। आर्य सुहस्ती द्वितीय दश-पूर्वधर आचार्य थे। आर्य महागिरि व आर्य सुहस्ती दोनो गुरुभाई आचार्य थे तथा आर्य स्थूलभद्र के प्रधान शिष्य थे।

आगम मे तीन प्रकार के स्थविर माने गए है—(१) जाति-स्थविर (२) श्रुत-स्थविर (३) पर्याय-स्थविर। साठ वर्ष की अवस्था प्राप्त व्यक्ति 'जाति स्थविर', ठाण और समवायाग का धारक निर्ग्रन्थ 'श्रुत स्थविर' एव बीस वर्ष साधुत्व पालने वाला 'पर्याय स्थविर' होता है।[१६]

आर्य स्थूलभद्र के सन्ध्या काल मे आर्य महागिरि जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर एव पर्याय-स्थविर भी वन चुके थे। आर्य सुहस्ती उस समय न जाति-स्थविर थे, न श्रुत-स्थविर थे, न पर्याय-स्थविर ही।

आर्य स्थूलभद्र ने भावी आचार्य पद के लिए गम्भीरता से अध्ययन किया और उन्होने इस पद पर दोनो की नियुक्ति एकसाथ की। निशीथ चूर्णि के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने आचार्य पद का दायित्व आर्य महागिरि को न देकर आर्य सुहस्ती को प्रदान किया था।[17]

दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली की परम्परा मे आचार्य सम्भूतविजय के उत्तराधिकारी आचार्य स्थूलभद्र एव स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आचार्य सुहस्ती थे।

आर्य महागिरि के बहुल आदि आठ प्रमुख शिष्य थे। उनमे से आर्य महागिरि के उत्तराधिकारी गणाचार्य बलिस्सह थे। आर्य महागिरि के अन्य शिष्य भी जैन धर्म के महान् प्रभावक थे।

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य महागिरि के आठवे शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त (षडुलूक) से त्रैराशिक मत की स्थापना हुई। षडुलूक वैशेषिक सूत्रो के कर्त्ता भी माने गए है। त्रैराशिक मत की स्थापना का इतिहास सम्मत समय वी० नि० ५४४ (वि० स० ७४) है। इस आधार पर त्रैराशिक मत के सस्थापक आर्य महागिरि के शिष्य रोहगुप्त प्रमाणित नही होते। समवायाग टीका के अनुसार श्रीगुप्त के शिष्य रोहगुप्त (षडुलूक) से अन्तरजिका नगर मे त्रैराशिक मत का जन्म हुआ था।

आर्य महागिरि के प्रशिष्य परिवार से निह्नववाद के प्रसव का इतिहास निर्विवाद है।

कौडिन्य के शिष्य मुनि अश्वमित्र के द्वारा वी० नि० २२० (वि० पू० २५०) के पश्चात् सामुच्छेदिकवाद की स्थापना हुई।

धनाढ्य के शिष्य गग मुनि के द्वारा उल्लुका नदी के तीर पर वी०नि० २२८ (वि० पू० २४२) के पश्चात् द्वैक्रियवाद की स्थापना हुई।

कौडिन्य और धनाढ्य दोनो आर्य महागिरि के शिष्य एव अश्वमित्र व गग दोनो शिष्य के शिष्य होने के कारण आर्य महागिरि के प्रशिष्य थे।

धनाढ्य का दूसरा नाम धनगुप्त भी था।

सामुच्छेदिकवाद के अभिमत से प्रत्येक क्षण नारक आदि सभी जीव उच्छिन्न भाव को प्राप्त होते रहते है। यह एकान्तिक पर्यायवाद का समर्थक है, एव बौद्ध दर्शन के निकट है।

द्वैक्रियवाद के अभिमत से शीत-उष्ण आदि दो विरोधी धर्मों का एकसाथ अनुभव किया जा सकता है।

त्रैराशिकवाद के अभिमत से जीव, अजीव और नो अजीव रूप तीन राशि की सिद्धि मानी गई है।

आर्य महागिरि और सुहस्ती के गण भिन्न-भिन्न होते हुए भी प्रीतिवश दोनो आचार्य एकसाथ विचरण करते थे।[१८]

आर्य सुहस्ती के स्थविर आर्य रोहण आदि बारह प्रमुख शिष्य थे। इनसे उद्देहगण, उडुपाटित गण आदि गणो का और प्रत्येक गण से कई शाखाओ और कुलो का जन्म हुआ। इन शाखाओ-प्रशाखाओ मे मानव गण से पनपी एक शाखा का नाम सौराष्ट्रिका है। यह सौराष्ट्रिका शब्द आचार्य सुहस्ती के शिष्य गण का सौराष्ट्र क्षेत्र से सम्बद्ध होने का सकेतक है। विद्वानो का अनुमान है श्रमणो द्वारा धर्म प्रचार का कार्य सौराष्ट्र तक विस्तृत हो चुका था।

कई महत्त्वपूर्ण घटनाए आचार्य सुहस्ती के जीवन से सम्बद्ध है।

आचार्य सुहस्ती के शिष्य वर्ग मे आहार-गवेषणा-सम्बन्धी शिथिलाचार को पनपते देखकर आचारनिष्ठ आर्य महागिरि द्वारा साम्भोगिक विच्छेद की घटना सर्वप्रथम इस समय घटित हुई थी।[१९]

अवन्ती के श्रीसम्पन्न वसुभूति श्रेष्ठी को अध्यात्मवोध देने का श्रेय भी आचार्य सुहस्ती को है।

गणाचार्य, वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य की परम्परा भी आचार्य सुहस्ती के समय से प्रारम्भ हुई।

आचार्य सुहस्ती और सम्राट् सप्रति

जैन शासन की प्रभावना मे भी आचार्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति का महान् योगदान है। मौर्यवशी कुणाल पुत्र सम्राट् सम्प्रति आचार्य सुहस्ती से सम्यक्त्व रत्न प्राप्त कर जैन दर्शन का व्रतधारी श्रावक वना और उसने जैन दर्शन प्रभावी जो यशस्वी कार्य किए वे इतिहास के पृष्ठो मे अकित रहेगे। जैन सम्राट् सम्प्रति जैन राजाओ मे प्रथम सम्राट् था जिसने अपने राजपुरुषो को जैन धर्म का प्रशिक्षण देकर श्रमण परिधान सहित उन्हे अनार्य क्षेत्रो मे प्रेपित किया एव उनसे अधार्मिक लोगो मे जैन सस्कारो के वीज वपन करवाकर अनार्य भूमि को आगमधर चरित्रनिष्ठ श्रमणो के लिए विहरण योग्य वना दिया था।[२०]

जैन धर्म और सम्राट् खारवेल

उडीसा प्रान्त का महाप्रतापी शासक खारवेल सुदृढ जैन उपासक था। वह महाराज चेटक के पुत्र शोभनराय के उत्तराधिकारियो मे से था। उनका दूसरा नाम महामेघवाहन भी था। जैनाचार्यो की शृखला मे आचार्य भद्रवाहु और

आचार्य स्थूलभद्र के साथ सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य था। आचार्य सुहस्ती के साथ सम्राट् सम्प्रति का, आचार्य सिद्धसेन के साथ विक्रमादित्य द्वितीय का, आचार्य समन्तभद्र के साथ शिवकोटि महाराज का, आचार्य पूज्यपाद के साथ सम्राट् अमोघवर्ष का, आचार्य बप्पभट्टि के साथ आमराजा का, आचार्य हेमचन्द्र के साथ जयसिंह सिद्धराज तथा चौलुक्य कुमारपाल का और आचार्य हीरविजयजी व जिनचन्द्र सूरि के साथ बादशाह अकबर का इतिहास गौरवमय शब्दो मे लिखा हुआ है पर महाराज खारवेल का उल्लेख इस लम्बी शृखला मे कही और किसी आचार्य के साथ नही हुआ। इससे इतिहासकारो ने सम्राट् खारवेल को पार्श्वापत्यिक सघ का अनुयायी माना है।

जैन प्रचार-प्रसार का व्यापक रूप मे जो कार्य कलिगाधिपति खारवेल ने किया वह वास्तव मे अद्वितीय था। अपने समय मे उन्होने एक वृहद् जैन सम्मेलन का आयोजन किया जिसमे आस-पास के अनेक जैन भिक्षु, आचार्य, विद्वान् तथा विशिष्ट उपासक सम्मिलित हुए।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप मे धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज जैसे शब्दो से सम्बोधित किया गया। हाथीगुफा (उडीसा) के शिलालेख मे इसका विशद वर्णन है।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार महामेघवाहन भिक्षुराज खारवेल सम्राट् ने कुमारी पर्वत पर यह श्रमण सम्मेलन आयोजित किया था। इस सम्मेलन मे महागिरि परपरा के बलिस्सह, बोद्धिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि २०० जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एव आर्य सुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि ३०० स्थविरकल्पी श्रमण थे। आर्या पोइणी आदि ३०० साध्विया, भिखुराय, चूर्णक, सेलक आदि ७०० श्रमणोपासक और पूर्णमित्रा आदि ७०० उपासिकाए विद्यमान थी।

श्यामाचार्य ने इस अवसर पर पन्नवणा सूत्र की, उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र की और स्थविर आर्य बलिस्सह ने अगविद्या प्रभृति शास्त्रो की रचना की थी।

बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि स्थविर श्रमणो ने खारवेल सम्राट् की प्रार्थना से सुधर्मा रचित द्वादशागी का सकलन किया एव भोजपत्र, ताडपत्र और वल्कल पर उसे लिपिबद्ध कर आगम वाचना के ऐतिहासिक पृष्ठो मे महत्त्वपूर्ण अध्याय जोडा।

श्रमण वर्ग ने धर्मोन्नति हेतु मगध, मथुरा, वग आदि सुदूर प्रदेशो मे विहरण करने की प्रेरणा सम्राट् खारवेल से इसी सम्मेलन मे प्राप्त की थी। प्रस्तुत सम्मेलन की मुख्य प्रवृत्ति आगम वाचना के रूप मे निष्पन्न हुई।

सम्राट् खारवेल वी० नि० ३०० (वि० पू० १७०) के आसपास सिंहासन

पर आरुढ हुए और वी० नि० ३३० (वि० पू० १४०) के बाद उनका स्वर्गवास हुआ था। अत वी० नि० ३०० से ३३० के बीच मे इस आगम वाचना का काल सभव है।

जैन शासन को प्रभावना मे विशिष्ट विद्यासम्पन्न आचार्यो का योग

आचार्य कालक इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्वान् थे और प्रवल धर्म प्रचारक भी।

जैन इतिहास ग्रन्थो मे प्रमुखत. कालक नामक चार आचार्यो का उल्लेख है। प्रथम कालक श्यामाचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे निगोद-व्याख्याता, शक्र-सस्तुत एव पन्नवणा सूत्र के रचनाकार थे। उनका कालमान वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) है।

द्वितीय कालक गर्दभिल्लोच्छेदक विशेपण से विशेषित है। वे सरस्वती के वधु थे। उनका समय वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) है।[१]

तृतीय कालक वी० नि० ७२० (वि० २५०) मे हुए है। उनके जीवन-सवधी घटना-विशेष उपलब्ध नही है।

चतुर्थ कालक वी० नि० ९९३ (वि० ५२३) मे हुए हैं। वालभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण की पट्ट परपरा मे वे सत्ताईसवे पुरुप थे। सभवत देवर्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम वाचना के समय नागार्जुनीय वाचना के प्रतिनिधि रूप मे आचार्य कालक (चतुर्थ) उपस्थित थे।

विदेश जाकर विद्यावल से शको को प्रभावित करने वाले द्वितीय कालक थे। प्रतिष्ठानपुर का राजा शातवाहन उनका परम भक्त था। यह वही शातवाहन था जिसने भृगुकच्छ नरेश नभसेन से कई युद्ध किए और वार-वार उनसे वह पराभूत होता रहा। शातवाहन ने अत मे षड्यन्त्र रचकर भृगुकच्छ नरेश पर विजय पायी।

वलमित्र और भानुमित्र के द्वारा पावस काल मे निष्कासित किए जाने पर अवन्ति से आचार्य कालक प्रतिष्ठानपुर मे आए और राजा शातवाहन की प्रार्थना पर उन्होने वहा चतुर्थी को सम्वत्सरी पर्व मनाया। श्रमणो ने सम्वत्सरी पर्व के प्रवर्तित दिन को एक रूप मे मान्य किया—यह आचार्य कालक के श्रुतसम्पन्न व्यक्तित्व का ही प्रभाव था। चतुर्थी को सम्वत्सरी मनाने का यह समय वी० नि० ४५७ से ४६५ (वि० पू० १५ से ७) तक अनुमानित किया गया है। पावस काल मे आचार्य कालक को निष्कासित करने वाले वलमित्र भानुमित्र के अवन्ति शासन का लगभग यही समय है।

श्रुताध्ययन मे प्रमत्त शिष्यो को छोडकर आचार्य कालक एकाकी अवन्ति से स्वर्णभूमि की ओर पस्थित हो गये थे। अपने प्रशिष्य सागर को वोध देते हुए

उन्होने कहा—"शिष्य ! श्रुत का कभी गर्व मत करना। तीर्थंकरो के पास जितना ज्ञान था उतना गणधरो के पास नही था। गणधरो का सम्पूर्ण ज्ञान आचार्य नही ले सके। हमारे पूर्वाचार्यों के पास जो था वह पूर्णत हमारे पास नही है। धूलि को मुट्ठी मे भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रक्षेप करते रहने पर वह हमेशा कम-कम होती जाती है।" आचार्य कालक की ये प्रवृत्तिया श्रुतज्ञान को परिपुष्ट करने वाली हैं। शिष्य-प्रशिष्यो को अनुयोग प्रदान करने का महत्त्व-पूर्ण कार्य आचार्य कालक ने किया है।[१२]

आचार्य पादलिप्त और आचार्य खपुट भी आचार्य कालक की भाति इस युग के विशिष्ट प्रभावोत्पादक विद्या के धनी थे। आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर के राजा मुरुण्ड को, मानखेटपुर के राजा भीम को, ओकारपुर के राजा कृष्ण को प्रभावित कर उन्हे जैन शासन के प्रति दृढ आस्थाशील बना दिया। आचार्य खपुट ने भी गुडशस्त्रपुर नरेश को विद्यावल से झुका लिया।

अतिशय विद्या के धनी आचार्य कालक, खपुट और पादलिप्त का जीवन-इतिहास प्रस्तुत श्रुतकाल मे समाहित है। इन आचार्यो की मुख्य प्रवृत्ति आगमिक नही थी पर विद्यावल से जैन धर्म के प्रसार मे अनुकूल वातावरण का निर्माण कर प्रकारान्तर से इन्होने आगम प्रवृत्ति का निर्वाध पथ प्रशस्त किया था।

पूर्वो की परम्परा का विच्छेद-क्रम

दशपूर्वधारी दश आचार्य हुए हैं। उनमे प्रथम दशपूर्वधर आचार्य महागिरि एव द्वितीय दशपूर्वधर आचार्य सुहस्ती थे। विलक्षण वाग्मी आर्य वज्रस्वामी अन्तिम दशपूर्वधर थे। उनका स्वर्गवास वी०नि० ५८४ (वि० स० ११४) मे हुआ। उन्हीके साथ दशपूर्वधर की धारा विलुप्त हो गई थी। दिगम्बर परम्परा के अनुसार दशपूर्व की ज्ञान सम्पदा वी० नि० १८३ (वि० पू० २८७) वर्ष तक सुरक्षित रही। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वधर थे।

श्रुतधर आचार्य वज्रस्वामी के पास आर्यरक्षित ने नौ पूर्व पूर्ण एव दशमपूर्व का अर्धभाग ग्रहण किया था। दृष्टिवाद को पढने की प्रेरणा आर्यरक्षित को माता रुद्रसोमा से प्राप्त हुई थी। क्षीण होती हुई पूर्वज्ञान की धारा को सुरक्षित रख लेने के प्रयत्नो मे नारी द्वारा पुरुष को दिशावोध आगम युग की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। साहित्य लेखन की निष्पक्ष धारा मे कभी यह पहलू विस्मृत नही किया जा सकता। आर्यरक्षित का स्वर्गवास वी० नि० ५९२ (वि० १२२) के आसपास हुआ था। आर्य दुर्वलिकापुष्यमित्र नौ पूर्वधर थे। दुर्वलिकापुष्यमित्र का स्वर्गवास वी० नि० ६१७ (वि० १४७) है। उनके वाद नौ पूर्व के ज्ञाता भी नही रहे, पर पूर्वज्ञान की परम्परा वी० नि० १००० वर्ष तक सुरक्षित रही है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार अंग आगम के ज्ञाता एवं अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के विद्वान् आचार्य धरसेन थे। उनके पास विशाल पूर्वो का आंशिक ज्ञान सुरक्षित था। उन्होंने पूर्वांश को सुरक्षित रखने के लिए मेधावी शिष्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि को वाचना प्रदान की।

आगम विच्छेद-क्रम

भगवान् महावीर की वाणी का प्रत्यक्ष श्रवण कर त्रिपदी के आधार पर गणधरों ने आगम-वाचना का कार्य किया। वीर निर्वाण के बाद उस आगम सम्पदा का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी तक अंगागम का ज्ञान प्राप्त रहा। एकादशांगी के अन्तिम ज्ञाता आचार्य ध्रुवसेन थे। सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, लोहार्य—ये चार आचार्य एक आचारांग सूत्र के ज्ञाता थे। आचार्य लोहार्य के बाद आचारांग सूत्र का कोई ज्ञाता नहीं हुआ। लोहार्य का समय वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक का है। अतः दिगम्बर मत से वी० नि० ६८३ (वि० २१३) तक आगम की उपलब्धि मानी जाती है। उसके बाद आगम का सर्वथा विच्छेद हो गया।

श्वेताम्बर परम्परा सर्वथा आगम-विच्छेद की परम्परा को स्वीकार नहीं करती। इस परम्परा के अनुसार आगम वाचनाकार आचार्यों के सत्प्रयत्नों से आगम-संकलना का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ और इससे आगमों की सुरक्षा होती रही है। आज भी जैन समाज के पास एकादशांगी आगम निधि के रूप में भगवान महावीर की वाणी का प्रसाद उपलब्ध है। दुष्काल की घड़ियों में आगम-निधि क्षत-विक्षत हुई, पर उसका पूर्ण लोप नहीं हुआ था।

आगमपरक साहित्य

आगम युग में जैनाचार्यों द्वारा महत्त्वपूर्ण आगमपरक साहित्य का निर्माण भी हुआ। द्वादशांगी की देन आचार्य सुधर्मा की है जिसका उल्लेख पहले ही कर दिया गया है। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव, छेद सूत्रों के रचयिता आचार्य भद्रबाहु, और प्रज्ञापना के रचयिता श्यामाचार्य थे। दशवैकालिक, छेद सूत्र एवं प्रज्ञापना को अंग बाह्य आगम माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति, षट्खण्डागम के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त, भूतबलि, कषाय प्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्ट प्राभृत साहित्य आदि ग्रन्थों के रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द इस युग के महान् साहित्यकार थे।

आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र जैन तत्त्वो का सग्राहक सूत्र है। जैन तत्त्वो के विवेचन मे यह आधारभूत ग्रन्थ माना गया है।

षट्खण्डागम, कषाय प्राभृत और समयसार आदि ग्रन्थो को दिगम्बर परम्परा मे आगमवत् उच्चतम स्थान प्राप्त है।

आगमयुग का यह साहित्य आगमपरक होने के कारण आगम प्रवृत्ति को ही परिपुष्ट करता है।

अनुयोग व्यवस्था

अनुयोग व्यवस्था आगम के पठन-पाठन का एक सुव्यस्थित और सुनियोजित क्रम (सूत्र और अर्थ का समुचित सम्बन्ध) है। अनुयोग चार है—(१) द्रव्यानुयोग (२) चरणकरणानुयोग (३) धर्मकथानुयोग (४) गणितानुयोग। पहले इन चारो अनुयोगो की भूमिका पर प्रत्येक आगम सूत्र का पठन-पाठन होता था। यह अत्यन्त दुरूह पठन प्रणाली थी। आर्य दुर्बलिकापुष्यमित्र जैसे प्रतिभासम्पन्न शिष्य भी इस अध्ययन क्रम मे असफल होते प्रतीत हुए। आर्यरक्षित ने इस कठिनता का अनुभव किया और शिक्षार्थी श्रमणो की सुविधा के लिए आगम पठन पद्धति को चार भागो मे विभक्त कर दिया।[२३] आगम वाचना की दिशा मे यह एक शैक्षणिक क्रान्ति थी। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ही था कि इस अनुयोग व्यवस्था को सघ ने निर्विरोध स्वीकार कर लिया।[२४]

परम्परा-भेद का जन्म

वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अविभक्त जैन श्रमण-सघ श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विशाल शाखाओ मे विभक्त हो गया था। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वी०नि० ६०९ (वि० स० १३९) मे दिगम्बर मत की स्थापना हुई। दिगम्बर मत के अनुसार वी० नि० ६०६ (वि० १३६) मे श्वेताम्बर मत का अभ्युदय हुआ।

भेद का प्रमुख कारण वस्त्र था। दोनो परम्पराओ का नामकरण भी वस्त्र-सापेक्ष है। एक परम्परा मुनियो के द्वारा वस्त्र ग्रहण को परिग्रह नहीं मानती। दूसरी परम्परा सर्वथा इसके विरोध मे है। आचार्य जम्बू के बाद जिनकल्पी अवस्था का विच्छेद और 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'—सयम धारणार्थ वस्त्र ग्रहण परिग्रह नही है इस आगम-वाक्य से आचार्य शय्यभव द्वारा वस्त्र का प्रबल समर्थन अन्तर्विरोध की प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। दोनो परम्पराओ मे प्रथम जन्म किसका हुआ यह अनुसन्धान का विषय है।

जैन सघ मे नाना गणो, कुलो, गच्छो और शाखाओ के निर्माण का सुविस्तृत

इतिसास है। महावीर के शासनकाल मे नौ गण थे। आचार्य भद्रबाहु, महागिरि एव सुहस्ती के शिष्यो से नौ गणो का जन्म हुआ। उनके नाम इस प्रकार है[२५]—

(१) गोदास गण (२) उत्तर बलिस्सइ गण (३) उद्देह गण (४) चारण गण (५) उडुपाटित गण (६) वेश पाटिक गण (७) कामर्द्धि गण (८) मानव गण (९) कोटिक गण।

इन गणो से कई शाखाओ और कुलो का उदभव हुआ। कल्पसूत्र स्थाविरावली मे उनका उल्लेख इस प्रकार है—(१) तामलिप्तिका, (२) कोटिवर्षिका, (३) पाण्डुवर्धनिका, (४) दासीखर्वटिका—ये चार शाखाए गोदास गण की थी।

(१) कोशम्बिका (२) शुक्तिमतिका (३) कोडवाणी (४) चन्द्रनागरी—ये चार शाखाए उत्तर बलिस्सह गण थी।

(१) उदुबरिज्जिका (२) मासपूरिका (३) मतिपत्तिका और सुवर्णपत्तिका—ये चार शाखाए, (१) नागभूतिक (२) सोमभूतिक (३) उल्लगच्छ (४) हत्थिलिज्ज (५) नन्दिज्ज (६) पारिहासिक—ये ६ कुल उद्देह गण के थे।

(१) हारितमालागारी (२) सकासिका (३) गवेधुका (४) वज्रनागरी—ये चार शाखाए, तथा (१) वत्थलिज्ज (२) वीचिधम्मक (३) हालिज्ज (४) पुसमित्तेज्ज (५) मालिज्ज (६) अज्जवेडय (७) कण्णसह—ये सात कुल चारण गण के थे।

(१) चपिज्जिया (२) भद्दिज्जिया (३) काकदिया (४) मेहलिज्जिया ये चार शाखाए तथा (१) भद्दजस्स (२) भद्दगुत्त (३) जस्सभद्द—ये तीन कुल उडुपाटित गण के थे।

(१) सावत्थिया (२) रज्जपालिया (३) अन्तरज्जिया (४) खेमलिज्जिया—ये चार शाखाए तथा (१) गणिक (२) मेहिक (३) कामर्द्धिक (४) इन्द्रपूरक—ये चार कुल वेशपाटिक गण के थे।

कामार्द्धिक गण की कोई शाखा नही थी। वेशपाटिक गण का एक कुल था।

(१) कासमिज्जिया (२) गोयमिज्जिया (३) वासिट्ठिया (४) सोरिट्ठिया—ये चार शाखाए तथा (१) इसिगुत्तिय (२) इसिदत्तिय (३) अभिजसत—ये तीन कुल माणव गण के थे।

(१) उच्चानागरी (२) विज्जाहरी (३) वइरी (४) मज्जिमिल्ला—ये चार शाखाए तथा (१) वभलिज्ज (२) वच्छलिज्ज (३) वाणिज्ज (४) पण्णवाहणय—ये चार कुल कोटिक गण के थे।

आर्य सातिसोणिक के शिष्य परिवार से अज्जसेणिया अज्जातावसा, अज्जकुवेरा, अज्जइसिपालिया, आर्य समित से ब्रह्मदेविया, आर्यवज्र से वज्रशाखा,

आर्यवज्र के शिष्य परिवार से अज्जानाइली, अज्जपडमाव अज्ज जयति शाखा का जन्म हुआ था।

आचार्य वज्रसेन के चार शिष्यो से उन्ही के नाम पर निवृति, नागेन्द्र, विद्याधर और चन्द्रकुल का विकास हुआ। आगमयुग मे इन शाखाओ और कुलो का अभ्युदय व्यवस्था मात्र था।

सिद्धान्त-भेद और क्रिया-भेद के आधार पर श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दो शाखाओ मे जैन सघ प्रथम बार विभक्त हुआ था। यापनीय सघ की समन्वयात्मक नीति ने इन दोनो के बीच समझौता करने का प्रयत्न भी किया पर जो खाई बन गई थी वह मिट न सकी।

श्वेताम्बर परम्परा का मुनि समुदाय वी० नि० ८८२ (वि० ४१२) मे दो भागो मे स्पष्ट रूप से विभक्त हो गया था। एक पक्ष चैत्यवासी सम्प्रदाय के नाम से तथा दूसरा पक्ष सुविहितमार्गी नाम से प्रसिद्ध हुआ। चैत्यवासी मुनि मुक्त भाव से शिथिलाचार को समर्थन देने लगे थे। शिथिलाचार की धारा सर्वज्ञत्व उच्छिन्न होने के बाद श्रमण वर्ग मे प्रविष्ट हुई। आचार्य महागिरि के द्वारा साभोगिक विच्छेद की घटना का प्रमुख कारण श्रमणो द्वारा शिथिलाचार का सेवन था। दस पूर्वधर आचार्य सुहस्ती की विनम्र प्रार्थना पर आर्य महागिरि ने साभोगिक विच्छिन्नता के प्रतिबन्ध को हटा दिया था पर भविष्य मे मनुष्य की माया-बहुल प्रवृत्ति का चिन्तन कर उन्होने साभोगिक व्यवहार सम्मिलित नही किया था। उसके बाद सुदृढ अनुशासन के अभाव मे श्रमणो द्वारा सुविधावाद को प्रश्रय मिलता गया। सम्प्रदाय के रूप मे इस वर्ग की स्थापना वी० नि० की नवी (वि० की ५वी) सदी के उत्तरार्द्ध मे हुई। श्वेताम्बर परम्परा के भेद बीज का आगम युग की सहस्राब्दी मे प्रथम बार अकुरण हुआ था।

स्कन्दिल और नागार्जुन

जैन परम्परा मे आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप मे प्रसिद्ध है। नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल ब्रह्मद्वीपसिंह के शिष्य थे एव प्रभावक चरित्र मे इनको विद्याधर वश के और श्री पादलिप्त सूरि के कुल मे माना है।

आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन के समय मे पुन दुष्काल की काली घटाए घिर आई थी। इसमे श्रुतधरो की और श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल-सम्पन्नता के बाद आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे द्वितीय आगम वाचना हुई।[१] इसमे उत्तर भारत विहारी श्रमण भी सम्मिलित थे। यह वाचना मथुरा मे होने के कारण माथुरी कहलाई। इस समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे भी आगम वाचना हुई। यह वाचना वल्लभी मे होने के कारण 'वल्लभी वाचना' के

आचार्य हुए ।[३०] नवे नन्द के महामेधावी मत्री शकटाल की रोमाचकारी मृत्यु, नन्द राज्य का पतन, तदनन्तर मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई । मौर्य साम्राज्य के वाहक चन्द्रगुप्तादि सात नरेश हुए । जैन ग्रन्थो के उल्लेखानुसार उनके नाम इस प्रकार हैं—चन्द्रगुप्त, विन्दुसार, अशोक, कुणाल, सम्प्रति, पुण्यरथ एव वृहद्रथ । इन सात पीढियो के एक सौ साठ वर्ष के राज्यकाल मे सम्राट् सम्प्रति के राज्य को सर्वोन्नत माना गया ।[३१] इस युग मे आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती युग-प्रभावी आचार्य हुए एव जैन शासन की महान् श्रीवृद्धि हुई ।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति इस युग की आगम वाचना का कार्य है । वीर निर्वाण के सहस्राब्दी काल मे चार आगम वाचना हुई उसमे सर्वतो विशिष्ट आगम वाचना आचार्य देवर्द्धिगणी की है । आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन की वाचना आचार्य देवर्द्धिगिणी की आगम वाचना से लगभग एक सौ पचास वर्ष पूर्व हो गई थी । वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी मे होने वाली यह आगम वाचना सबसे अन्तिम वाचना थी । इसके बाद जैन शासन मे सर्वमान्य वाचना नही हो पाई । अत आगम वाचना युग के विशिष्ट वाचनाकार आचार्य देवर्द्धिगणी की जैन शासन को युग-युग तक प्रकाश प्रदान करने वाली आगम वाचना के साथ एक हजार वर्ष का आगम युग समाप्त हो जाता है ।

उत्कर्ष युग

उत्कर्ष युग वीर निर्वाण की ग्यारहवी (वि० ५३०) सदी से प्रारम्भ होकर वीर निर्वाण २००० (वि० १५३०) वर्ष तक का काल जैन शासन के उत्कृष्ट उत्कर्ष का काल था । इस युग मे महान् तेजस्वी एव वर्चस्वी आचार्य उदित हुए जो महान् दार्शनिक थे । विविध भाषाओ के अध्येता और विविध विषयो के वे निष्णात विद्वान् थे । उनकी स्वच्छ-सुतीक्ष्ण प्रतिभा के दिव्य प्रकाश मे उस युग का सम्पूर्ण वातावरण अग्निस्नात स्वर्ण की भाति चमक उठा और जैन शासन की अभूतपूर्व प्रगति हुई, अत इस काल को उत्कर्ष युग की सज्ञा प्रदान की गई है ।

न्याय युग का उद्भव

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य सिद्धसेन, दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य समन्तभद्र एव आचार्य अकलक भट्ट इस युग के उज्ज्वल नक्षत्र थे । इन आचार्यों का अभ्युदय जैन दर्शन का अभ्युदय था । इनका जन्म न्याय का जन्म था ।

आचार्य सिद्धसेन

जैन साहित्य मे आज न्याय शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त है उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य सिद्धसेन को है। न्यायावतार की रचना से उन्होने न्यायशास्त्र की नीव डाली। नयवाद का विशद विश्लेषण सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन के ग्रन्थो मे प्राप्त होता है।

प्रमाण शास्त्र के विपय मे भी आचार्य सिद्धसेन ने गम्भीर चर्चा की है। अनुमान-प्रमाण की परिभापा और स्वार्थ-परार्थ के रूप मे भेद-विभाजन का सर्वथा मौलिक चिन्तन सिद्धसेन का है। पक्ष, हेतु, दृष्टात, दूपण आदि विभिन्न पक्षो पर चिन्तन प्रस्तुत कर आचार्य सिद्धसेन ने स्वतन्त्र रूप से न्याय पद्धति की रचना की। अत आचार्य सिद्धसेन के साहित्य से न्याययुग के नवीन प्रभात का उदय हुआ था।

आचार्य समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र का न्याययुग मे अनुपम योग है। आगम मे निहित अनेकान्त सामग्री को दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हे है। आचार्य समन्तभद्र महान् स्तुतिकार और अगाध आस्थाशील थे। उनके ग्रन्थ स्तुति-प्रधान हैं। उन्होने वीतराग प्रभु की स्तुति के साथ एकान्तवाद का निरसन, अनेकान्तवाद की स्थापना कर अनेकान्त दर्शन को व्यापक रूप प्रदान किया। आप्त मीमासा मे उन्होने आप्त पुरुपो की परीक्षा तर्क के निकप पर की है।

सुनय और दुर्नय की व्यवस्था, स्याद्वाद की परिभापा का स्थिरीकरण और सप्तभगी की व्यवस्था आचार्य समन्तभद्र की देन है।

आचार्य अकलक भट्ट

आचार्य अकलक भी न्याययुग के महान् उजागर थे। न्याय विनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाण सग्रह के द्वारा उन्होने न्याय की समुचित व्यवस्था की है। आज भी उनके साहित्य मे प्रतिष्ठित न्याय अकलक के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने आचार्य अकलक की न्याय पद्धति का अनुसरण किया है। एव आचार्य माणिक्यनन्दी ने अपने ग्रन्थो मे अकलक न्याय को व्यापक विस्तार दिया है।

आचार्य अकलक की अष्टशती टीका जैन दर्शन के गूढतम अनेकान्त दर्शन की प्रकाशिका है।

न्याय युग की प्रतिष्ठा

न्याय युग की प्रतिष्ठा मे मल्लवादी, पात्र केशरी, विद्यानन्द, अभयदेव, माणिक्यनन्दी, वादिराज, प्रभाचन्द्र वादिदेव, रत्नप्रभ, मल्लिषेन आदि आचार्यों का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। इन आचार्यों ने द्वादशार नयचक्र,त्रिलक्षण कदर्थन, प्रमाण-परीक्षा, वाद महार्णव, परीक्षामुख, न्यायविनिश्चय विवरण, न्याय कुमुदचन्द्र, प्रमेय कमल मार्तण्ड, प्रमाण नयतत्त्वालोक, प्रमाण मीमासा, रत्नाकरावतारिका और स्याद्वादमञ्जरी जैसे ग्रन्थ निर्माण कर न्याय व्यवस्था को पूर्ण उत्कर्ष पर चढा दिया था। जैन ग्रन्थो मे नव्यन्यायशैली के प्रतिष्ठापक उपाध्याय यशोविजय जी थे।

योग और ध्यान के सदर्भ मे

योग और ध्यान के विषय मे भी जैनाचार्यों ने मौलिक दृष्टिया प्रस्तुत की। आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र और कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र योग के महान् प्रतिष्ठापक थे। आचार्य शुभचन्द्र का 'ज्ञानार्णव' और आचार्य हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र' योग विषय की प्रसिद्ध कृतिया हैं। आचार्य हरिभद्र के 'योग विन्दु', 'योगदृष्टि समुच्चय', 'योगविंशिका', 'योगशतक' और 'षोडशक' इन पाचो ग्रन्थो मे पातजल योगदर्शन के साथ समन्वय तथा जैन दर्शन से सम्वन्धित नवीन यौगिक दृष्टियो की अवतारणा भी है। मित्रा, तारा, बला, दीप्रा आदि आठ दृष्टियो का प्रतिपादन जैनाचार्यों के मौलिक चिन्तन का परिणाम है।

प्राकृत व्याख्या ग्रन्थो का निर्माण

भगवान् महावीर की वाणी गणधरो द्वारा प्राकृत भाषा मे निवद्ध हुई, यह आगम साहित्य के रूप मे जैन समाज के पास उपलब्ध थी। आगम ग्रन्थो की शैली अत्यन्त सक्षिप्त एव गूढ थी। उसमे सुगमता मे प्रवेश पाने के लिए जैनाचार्यों ने प्राकृत व्याख्या साहित्य का निर्माण किया। निर्युक्ति रचना के साहित्यकार आचार्य भद्रवाहु, भाष्य साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, चूर्णि साहित्य के रचनाकार आचार्य जिनदास महत्तर इस युग के महान आगम व्याख्याकार आचार्य थे। चूर्णियाँ सस्कृत-मिश्रित प्राकृत मे हैं।

निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य के रूप मे रचित विशाल व्याख्या साहित्य जैन इतिहास का गौरवमय पृष्ठ है।

जैनाचार्यों का यह साहित्य सुप्राचीन भारत की सभ्यता एव सस्कृति की झाकी प्रस्तुत करने वाला निर्मल दर्पण है।

जैन साहित्य और सस्कृत भाषा

यह युग सस्कृत भाषा के आरोहण का काल था। जैनेतर विद्वानो द्वारा सस्कृत भाषा मे विशाल ग्रन्थराशि का निर्माण हो रहा था। यह विद्वानो की भाषा समझी जाने लगी थी। धर्म-प्रभावना के कार्य मे इस भाषा का आलम्बन अनिवार्य हो गया था।

सस्कृत भाषा-प्रधान इस युग मे सस्कृतविज्ञ सक्षम जैनाचार्यों का आविर्भाव हुआ। महान् टीकाकार आचार्य शीलाक, सोलह वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद पर आरूढ होने वाले नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव, समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि, सरस टीकाकार आचार्य नेमिचन्द्र आदि सस्कृत भाषा मे आगम के व्याख्या ग्रन्थो को प्रस्तुत करने वाले दिग्गज विद्वान् थे। उन्होने विशाल टीका ग्रन्थो का निर्माण कर सस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है।

सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता आचार्य पूज्यपाद, भक्तामर स्तोत्र के कर्त्ता आचार्य मानतुग, १४४४ ग्रन्थो के रचयिता आचार्य हरिभद्र, धवला तथा जयधवला के कर्त्ता आचार्य जिनसेन और विजयसेन, उत्तरपुराण के रचयिता आचार्य गुणभद्र, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थवार्तिक आदि नौ ग्रन्थो के रचयिता आचार्य विद्यानन्द, कुन्दकुन्द के ग्रन्थो के व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र, रूपक ग्रन्थ—उपमितिभव-प्रपञ्चकथा के रचनाकार आचार्य सिद्धर्षि, अमितगति श्रावकाचार के रचयिता आचार्य अमितगति, गोम्मटसार जैसी अमूल्य कृति के रचनाकार आचार्य नेमिचन्द्र, यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य सोमदेव, कविमूर्धन्य आचार्य रामचन्द्र, कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र आदि विद्वान् जैनाचार्य इस युग के अनुपम रत्न थे। इन आचार्यों की प्रखर प्रतिभा और समर्थ लेखनी ने सस्कृत साहित्य को ज्ञानालोकमय बना दिया था।

जैन साहित्य और लोकभाषा

जैनाचार्य लोकरुचि के भी ज्ञाता थे। उन्होने एक ओर सस्कृत भाषा मे उच्चतम साहित्य का निर्माण कर उसे विद्वद्भोग्य बनाया दूसरी ओर लोकभाषा को भी प्रश्रय दिया। वे जनभाषा मे बोले और जनभाषा मे साहित्य की रचना कर विभिन्न देशो की भाषा को समृद्ध किया। इससे उनके प्रति लोकप्रीति बढी और वह धर्म-प्रभावना मे अधिक सहायक सिद्ध हुई। आज पूर्वाचार्यों के प्रयत्न परि-

णामस्वरूप प्राकृत, सस्कृत, सस्कृत के अतिरिक्त तमिल, आसामी, बिहारी, राजस्थानी आदि भाषाओ मे जैन साहित्य उपलब्ध है।

जैनाचार्यों का शास्त्रार्थ-कौशल

भगवान महावीर के निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि मे भारत भू-मण्डल पर विभिन्न धर्मो व सम्प्रदायो के वाद कुशल आचार्यो द्वारा शास्त्रार्थो का जाल-सा विछ गया था। जैनाचार्यो ने इस समय अपनी चिन्तन शक्ति को उस ओर मोडा। उनकी स्फुरणशील मनीषा ने अनेक सभाओ मे दिग्गज विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की और जैन धर्म की प्रभावना मे उन्होने चार चाद लगा दिए।

जैनाचार्य और जैन धर्म का विस्तार

जैनाचार्यों ने जैन धर्म को व्यापक विस्तार दिया। उनके द्वारा प्रदत धर्म का सन्देश सामान्य जनो से लेकर राजप्रासाद तक पहुचा। दक्षिणाञ्चल के राजवश—चोलवश,होयसलवश, राष्ट्रकूटवश, पाण्ड्यवश, कदम्बवश और गगवश के राज-परिवार जैन थे। दक्षिण नरेश शिवकोटि ने आचार्य समन्तभद्र से, शिलादित्य ने आचार्य मल्लवादी से, दुर्विनीत कोगुणी ने आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) से, आचार्य अमोघवर्ष ने आचार्य वीरसेन और जिनसेन से अध्यात्म का वोध प्राप्त किया था। युद्ध-विजेता दण्डनायक सेनापति चामुण्डराय, गगधर और हुल्ल ने जैनाचार्यों से प्रभावित होकर जैन शासन की अनुपम प्रभावना की थी।

भारत के उत्तराञ्चल मे भी राजशक्तियो पर जैनाचार्यों का अप्रतिहत प्रभाव था। आचार्य सिद्धसेन ने सात राजाओ को प्रतिवोध दिया था। कूर्मार के राजा देवपाल और अवन्ति के विक्रमादित्य उनके परम भक्त बन गए थे। ग्वालियर के राजा वत्सराज का पुत्र 'आम आचार्य वप्पभट्टि के साथ गाढ मैत्री सम्बन्ध रखता था। बगाल के अधिपति धर्मराज और राजा 'आम' का परस्पर पुरातन वैर आचार्य वप्पभट्टी की उपदेशधारा से सदा-सदा के लिए उपशान्त हो गया था।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा पर मुग्ध होकर जयसिंह और कुमारपाल ने अपना सम्पूर्ण राज्य ही उनके चरणो मे समर्पित कर दिया था। राजा हर्षदेव की सभा मे आचार्य मानतुग का, परमार नरेश भोज एव जयसिह की सभा मे आचार्य माणिक्यनन्दी एव आचार्य प्रभाचन्द्र का, सोलकी नरेश जयसिह प्रथम की सभा मे आचार्य वादिराज का, चालुक्य वशी कृष्णराज तृतीय की सभा मे आचार्य सोमदेव का विशेष स्थान था।

मुगल सम्राटो को प्रतिवोध देनेवाले आचार्यों मे आचार्य जिनप्रभ सर्वप्रथम थे। उन्होने मुगल नरेश तुगलक को वोध देकर जैन शासन के गौरव को बढाया।

जैनाचार्यों के शास्त्रार्थों, प्रवचनो एव दूरगामी यात्राओ से उत्तर-दक्षिण का भारत भूमण्डल जैन सस्कारो से प्रभावित हो गया था। इस युग मे जैनाचार्यो ने जो कुछ किया वह अनुपम एव असाधारण था। साहित्य की महान् समृद्धि और राजनीति पर धर्मनीति की विजय जैनाचार्यो की सूझ-बूझ का परिणाम था। एक सहस्र वर्ष के इस काल का अकुश एक प्रकार से जैनाचार्यों के हाथ मे ही था। शासक वर्ग अनन्य परामर्शदाता थे। जैन धर्म विकास के लिए यह युग महान् उत्कर्ष का युग था।

नवीन युग

उत्कर्ष का चरम विन्दु क्रान्ति का आमन्त्रण है। क्रान्ति की निष्पत्ति नवीन प्रभात का उदय है। आचार्य देवर्द्धिगणी के बाद वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि के पूर्वार्ध मे चैत्यवासी सम्प्रदाय को निर्वाध गति से पनपने का अवसर मिला। कठोर चर्या पालन करने वाले सुविहितमार्गी श्रमण चैत्यवासी श्रमणो के बढते हुए वर्चस्व के सामने पराभूत हो गए। श्रमण वर्ग, यति वर्ग एव भट्टारक वर्ग मे सुविधावाद पनपने लगा। उग्र विहार चर्या को छोडकर वे मठाधीश बन गए। जन्त्र, मन्त्र, तन्त्रो के प्रयोग से वे राजसम्मान पाकर राजगुरु कहलाने लगे। छत्र-चामर आदि को नि सकोच भाव से धारण कर वे राजशाही ठाट मे रहने लगे। जनमानस मे इन सारी प्रवृत्तियो के प्रति भारी असन्तोष था। असन्तोष का ज्वार वीर निर्वाण की इक्कीसवी शताब्दी मे प्रथम चरण मे विस्तार के साथ प्रकट हुआ। साध्वाचार की विशृंखलित मर्यादाओ ने क्रान्ति को जन्म दिया।

क्रान्ति का प्रथम चरण

उस समय जैन सम्प्रदायो मे सर्वत्र क्रान्ति की आधी उठ रही थी। दिगम्बर परपरा मे वी०नि० १९७५ से २०४२ (वि० १५०५ से १५७२) के बीच क्रान्तिकारी तारण स्वामी हुए। उन्होने मूर्तिपूजा के विरोध मे एक क्रान्ति की। इस क्रान्ति की निष्पत्ति तारण-तरण समाज के रूप मे हुई। इस समाज के अनुयायी मन्दिरो के स्थान पर सरस्वती भवन बनाने और मूर्तियो के स्थान पर शास्त्रो की प्रतिष्ठा करने लगे थे। उस समय भट्टारक शक्ति बलवान थी। उसके सामने यह नवोदित सघ अधिक पनप नही सका है।

भट्टारक सम्प्रदाय के शिथिलाचार पर कइयो के मन मे आग भभक रही थी। कुछ लोग आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द के ग्रन्थो का अध्ययन कर अध्यात्म की ओर झुके और वे अध्यात्मी कहलाने लगे। पडित बनारसीदास जी का समर्थन पाकर इस अध्यात्मी परम्परा से दिगम्बर तेरापन्थी का जन्म हुआ। तेरापन्थ के

अभ्युदय के साथ ही इतर पक्ष दिगम्बर 'वीसपथी' कहलाया। दिगम्बर परम्परा की यह क्रान्ति 'क्रान्ति युग' का प्रथम चरण था।

क्रान्ति का द्वितीय चरण

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे भी इस समय महान् क्रान्तिकारी लोकाशाह पैदा हुए। लोकाशाह का युग एक ऐसा युग था जिसमे श्वेताम्बर धर्मगच्छो के सचालन का दायित्व यतिवर्ग के हाथ मे था। यति चैत्यो मे निवास करते थे। उनके सामने साधुत्व का भाव गौण और लोकरञ्जन का भाव प्रमुख था। परिग्रह को पापमूलक बताने वाले स्वय धन-सम्पदा का निरकुश भोग करने लगे। नाना प्रकार की सुविधाए उनके जीवन मे प्रवेश पा चुकी थी। इन सबके विरुद्ध मे लोकाशाह की धर्म क्रान्ति का स्वर गुजरात की धरा से गूज उठा।

लोकाशाह गुजरात के थे। उनके पिता का नाम हेमाभाई था। मूलत वे सिरोही राज्य के अन्तर्गत अरहटवाडा ग्राम के निवासी थे और अहमदाबाद मे आकर रहने लगे थे। यति वर्ग का अहमदाबाद मे प्रबल प्रभुत्व था।

लोकाशाह मे बचपन से ही सहज धार्मिक रुचि थी एव उनकी लिपि कलापूर्ण थी। वे मोती-से गोल व सुन्दर अक्षर लिखते थे। यतियो ने आगम लिखने का कार्य उन्हे सौपा। लोकाशाह लिपिकार ही नही थे वे गभीर चिन्तक, सूक्ष्म अध्येता एव समुचित समीक्षक भी थे। आगम लेखन मे रत लोकाशाह ने एक दिन अनुभव किया—आगम-प्रतिपादित सिद्धान्त और साध्वाचार के मध्य भेदरेखा उत्पन्न हो गई है।

लोकाशाह ने कई दिनो तक चिन्तन-मनन किया और एक दिन उन्होने निर्भीकतापूर्वक क्रान्ति का उदघोष कर दिया। सैकडो लोगो को लोकाशाह की नीति ने आकृष्ट किया। कोट्याधीश लक्खमसी भाई ने गहराई से समझा और वे लोकाशाह के मत का प्रबल समर्थन करने लगे।

लक्खमसी भाई द्वारा शिष्यत्व स्वीकार कर लेना लोकाशाह की सफलता मे एक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

एक बार कई सघ तीर्थयात्रार्थ जा रहे थे। अधिक वर्षा के कारण उन्हें वहा रुकना पडा जहा लोकाशाह थे। लोकाशाह का प्रवचन सुनकर सैकडो व्यक्ति सुलभबोधि बने। पैंतालीस व्यक्तियो ने लोकाशाह की श्रद्धा के अनुरूप वी० नि० २००१ (वि० स० १५३१) मे श्रमण दीक्षा ली और उन्होने चैत्यो मे रहना छोडा।

इनका नवोदित गच्छ लोकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोकाशाह द्वारा श्रमण दीक्षा ग्रहण करने का कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होता।

लोकागच्छ का विकास शीघ्र गति से प्रारम्भ हुआ। इस गच्छ की एक शती पूर्ण होने मे पूर्व ही सैकडो व्यक्तियो ने लोकाशाह की नीति के अनुरूप निर्ग्रन्थ

दीक्षा स्वीकार कर मुनि-जीवन मे प्रवेश पाया। सर्वत्र लोकागच्छ की चर्चा प्रारभ हो गई। लोकाशाह का लोकागच्छ के शिशुकाल मे ही वी० नि० २०११ (वि० स० १५४१) मे स्वर्गवास हो गया था। अत इनके गच्छ का सगठन सुदृढ नही हो पाया। स्वस्थ नेतृत्व के अभाव मे सघ व्यवस्थाए छिन्न-भिन्न होनी प्रारम्भ हो गईं।

कई विद्वानो के अभिमत से लोकागच्छ के आठ पट्टधर लोकाशाह की नीति का सम्यक् अनुगमन करते रहे। तदनतर परस्पर सौहार्द और एकसूत्रता की कमी के कारण सगठन की जडें खोखली हो गई। लोकागच्छ के सामने एक विकट परिस्थिति पैदा हो गई। धर्मसकट की इस घडी मे ऋषिलवजी, धर्मसिंह जी एव धर्मदास जी जैसे क्रियोद्धारक आचार्यो का अभ्युदय हुआ। उन्होने साधु-जीवन की मर्यादाओ का दृढता से अनुगमन किया। लोकाशाह की धर्मक्रान्ति को प्रबल वेग दिया एव स्थानकवासी सम्प्रदाय की व्यवस्थित नीव डाली।

पाच सौ वर्षों के इतिहास को अपने मे समाहित किए हुए यह स्थानकवासी परम्परा विभिन्न शाखाओ और उपशाखाओ मे विभक्त है। इस परम्परा का स्थानकवासी नाम अर्वाचीन है, इसका पूर्व नाम साधुमार्गी था।

आचार्य धर्मदास जी के निन्यानवे शिष्य थे। आचार्य धर्मदास जी का स्वर्ग-वास होते ही उनका शिष्य समुदाय बाईस भागो मे विभक्त हो गया। इससे आचार्य धर्मदास जी की परम्परा से बाईस शाखाओ का जन्म हुआ। और उनकी प्रसिद्धि 'बाईस टोला' नाम से हुई। आज यह सम्प्रदाय 'स्थानकवासी' नाम से अधिक विश्रुत है।

समय के लम्बे अन्तराल मे इनमे से अधिकाश शाखाओ का आज लोप हो गया है। नयी शाखाओ का उद्भव भी हुआ है। विभिन्न शाखाओ को सगठित करने के उद्देश्य से विक्रम की इक्कीसवी सदी के प्रथम दशक मे स्थानकवासी मुनियो का बृहद् श्रमण सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन 'सादडी सम्मेलन' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अवसर पर सौहार्दपूर्ण विचार विनिमय के वातावरण मे भिन्न-भिन्न शाखाओ के आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक मुनिजनो ने आचार्य आत्माराम को प्रमुख पद पर चुना और उनके नेतृत्व मे अधिकाश स्थानकवासी सम्प्रदायो ने अपना सहज समर्पण कर दिया। इस सगठित सघ का नाम श्री वर्धमान स्थानक-वासी जैन श्रमण सघ हुआ।

स्थानकवासी परम्परा की दूसरी शाखा 'साधुमार्गी' के नाम से प्रसिद्ध है। वह श्रमण सघ के साथ नही है।

गोडल सम्प्रदाय, लीबडी सम्प्रदाय और आठकोटि सम्प्रदाय ये तीनो ही स्थानकवासी परम्परा की शाखाए है। गोडल और लीबडी सम्प्रदाय सौराष्ट्र मे है तथा आठकोटि सम्प्रदाय कच्छ मे है।

क्रान्ति का तृतीय चरण

तीन सौ वर्षों के बाद राजस्थान (मेवाड) से क्राति की एक और आधी उठी। यह क्राति आगमिक आधार पर स्थानक तथा दान-दया-सम्बन्धी आचारमूलक वैचारिक क्राति थी। इस क्राति के जन्मदाता राजस्थान (मारवाड) के सपूत आचार्य भिक्षु थे। हर क्रातिकारी मानव के जीवन मे सघर्ष और तूफान आते है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। क्रातिकारी आचार्य भिक्षु के पथ मे भी नाना प्रकार की बाधाए उपस्थित हुई। स्थान न मिलने के कारण वे श्मशान भूमि मे रहे। पाच वर्ष तक उन्हे पर्याप्त भोजन भी नही मिला, पर किसी प्रकार के अभाव की एव सुख-सुविधा की चिन्ता किए बिना वे अविरल गति से अपने निर्धारित पथ पर बढते रहे एव निर्भीक वृत्ति से सत्य का प्रतिपादन करते रहे।

आचार्य भिक्षु मे किसी नये सम्प्रदाय के निर्माण का व्यामोह नही था। पर वे जिस पथ का अनुसरण कर रहे थे उस पर अन्य चरणो को बढते हुए देखा तब उन्होने मर्यादाए बाधी, सघ बना। इस सघ का नाम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थ है। तेरापन्थ का स्थापना दिवस वी० नि० २२८७ (वि० स० १८१७) है। क्राति युग के तृतीय चरण की निष्पत्ति तेरापन्थ के रूप मे उपलब्ध हुई।

वर्तमान मे तेरापन्थ का इतिहास लगभग २१५ वर्षो की अवधि मे समाहित है। इस स्वल्प समय मे भी तेरापन्थ धर्म सघ ने जैन धर्म की विभिन्न शाखाओं के समक्ष अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है और अपनी सगठनात्मक नीति से विश्व का ध्यान विशेष आकृष्ट किया है।

तेरापन्थ परम्परा मे नौ आचार्य हुए है। उनमे सर्वप्रथम अध्यात्म के सजग प्रहरी आचार्य भिक्षु थे। उन्होने इस तेरापन्थ महावृक्ष का बीज-वपन किया। पूज्य श्री भारमल्ल जी और रायचन्द जी ने उसे अकुरित किया। ज्योतिर्धर जयाचार्य के समुचित सरक्षण मे उसका पल्लवन हुआ। महाभाग मघवागणी और माणकगणी की शीतल छाया तथा डालगणी के तेजोमय व्यक्तित्व का समुचित ताप पाकर वह खिला और कमनीय कलाकार कालूगणी के श्रम-सिचन से वह फला।

वर्तमान मे युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी के स्वस्थ और सुखद नेतृत्व मे यह सघ बहुमुखी विकास पा रहा है।

नवीन युग और जैनाचार्य

नवीन युग मे आचार्य हीरविजय जी, आचार्य वज्रसेन, चतुर्थ दादा सज्ञक आचार्य जिनचन्द्र, आचार्य जिनवल्लभ आदि जैनाचार्यों का उल्लेख है जो नई क्राति के जन्मदाता नही थे पर मुगल सम्राटो को प्रतिबोध देने का तथा उन्हे जैन धर्म के अनुकूल बनाने का प्रभावी कार्य उन्होने अवश्य किया था। इस युग मे

अध्यात्म योगियो की धारा भी गतिशील बनी। यह धारा आनन्दघन जी से प्रारभ हुई। आचार्य बुद्धिसागर इसी यौगिक धारा के सन्त थे।

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य शान्तिसागर जी, देशभूषण जी, मन्दिर मार्गी परम्परा के आचार्य विजयानन्द सूरिजी, विजय राजेन्द्र जी, कृपाचन्द्र सूरि जी, विजय वल्लभ सूरि जी, सागरानन्द जी, स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी, जयमल्ल जी, अमोलक ऋषिजी, आत्माराम जी, जवाहरलाल जी, आनन्द ऋषि जी, तेरापन्थ परम्परा के आचार्य भिक्षु, जयाचार्य, मघवागणी, करुणानिधान कालूगणी जी आदि इस युग के विशेप उल्लेखनीय आचार्य है। इन की धर्म-प्रचार प्रवृत्ति, साहित्य-साधना, महान यात्राए तथा विविध प्रकार की अन्य कार्यपद्धतिया जैन धर्म की प्रभावना मे विशेष सहायक सिद्ध हुई है। विदेशो तक धर्मसदेश पहुचाने का श्रेय भी नवीन युग के आचार्यो को है।

नवीन युग की विशाल कडी तेरापन्थ के वर्तमान अनुशास्ता अणुव्रत प्रवर्तक युग-प्रधान आचार्य श्री 'तुलसी' है। उन्होने अणुव्रत के द्वारा जैन धर्म को व्यापक भूमिका पर युग के सामने प्रस्तुत किया है एव धर्म के सार्वजनीन, सार्वकालिक, शाश्वत सिद्धातो को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। नैतिक आचार सहिता को एव विश्वबन्धुता के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता हुआ यह आन्दोलन अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त कर रहा है।

शिक्षा, शोध, सेवा, साधना की सगमस्थली जैन विश्व भारती के अध्यात्म पक्ष को उजागर कर आचार्य श्री तुलसी ने जनमानस मे जैन सस्कारो को दृढता प्रदान की है।

जैन एकता की दिशा मे उनके द्वारा प्रदत्त पचसूत्री कार्यक्रम तेरापन्थ धर्म सघ की उदारता का परिपोषक है।

धर्म सम्प्रदायो के आधारभूत धर्मग्रन्थो मे सशोधन की बात प्राय मान्य नही रही है। जैनागमो के लिए भी यही स्थिति थी। आगमवाणी के एक भी वाक्य मे और वाक्य के एक भी वर्ण, मात्रा मे परिवर्तन करना दोषपूर्ण माना गया है। जैन दर्शन की इस दृढ मान्यता के आधार पर आगमो मे लिपिदोष के कारण हुई भूलो का सुधार पूर्वाग्रहग्रसित धार्मिको द्वारा स्वीकृत नही था। इससे आगम ग्रन्थो मे परस्पर पाठभेद और अर्थभेद भी उत्पन्न हो गए थे। आगमिक पद्यो के सम्यक् अर्थबोध हेतु आगम-सपादन का कार्य आवश्यक प्रतीत होने लगा था।

आगम-सपादन का यह महनीय कार्य वाचना-प्रमुख आचार्य श्री तुलसी के निर्देशन मे आरम्भ हुआ। उद्भट विद्वान्, गम्भीर दार्शनिक मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ जी) इस कार्य का सम्यक् सचालन कर रहे हैं। बीसो साधु-साध्विया इस कार्य मे सलग्न है। ऊर्जास्रोत, युग-प्रधान आचार्य

श्री तुलसी के सतत श्रमदान से यह कार्य दिन-प्रतिदिन गतिशील है।

धार्मिक जगत् मे यह एक महान क्रातिकारी कार्य है। इतिहास के पृष्ठो पर इस युग की यह विशेप सस्मरणीय घटना होगी।

वीर निर्वाण के दो सहस्राब्दी के बाद पाच सौ वर्षों के धार्मिक इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति धर्मक्राति रही है।

जैनाचार्यों के विशेप प्रयत्नो से पाच सौ वर्षों के इस काल मे अनेक प्रकार की नवीन प्रवृत्तियो का अभ्युदय हुआ। अत मैंने इस युग का नाम नवीन युग दिया है।

आचार्यो के काल-निर्णय मे एकमात्र आधारभूत प्राचीनतम महावीर-निर्वाण सम्वत् का उपयोग किया गया है और इसके साथ विक्रम सम्वत् का उल्लेख भी है। दो सम्वत् का उपयोग कर लेने के बाद ईस्वी सन्, शक सम्वत् आदि का उल्लेख आवश्यक प्रतीत नही हुआ। अत इनका उपयोग कही-कही हुआ है।

वीर निर्वाण के बाद आचार्य सुधर्मा से लेकर आचार्य देवर्द्धिगणी तक आचार्यों की परम्परा पट्टावलियो के अनुसार कई रूपो मे उपलब्ध है। उनमे से दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली गुरु-शिष्य क्रम की परम्परा मानी गई है। शेष पट्टावलिया प्राय युग-प्रधानाचार्यो की और वाचक वश या विद्याधर वश की परम्पराए है। विभिन्न पट्टावलियो मे तीन पट्टावलिया नीचे दी जा रही हैं•

दशाश्रुतस्कन्ध स्थविरावली

१ आचार्य सुधर्मा	१३ आचार्य वज्र	२५ आचार्य कालक
२ ,, जम्बू	१४ ,, रथ	२६ ,, सपलितभद्र
३ ,, प्रभव	१५ ,, पुष्यगिरि	२७ ,, वृद्ध
४ ,, शय्यभव	१६ ,, फल्गुमित्र	२८ ,, सघपालित
५ ,, यशोभद्र	१७ ,, धनगिरि	२९ ,, हस्ती
६ ,, सभूतविजय-भद्रबाहु	१८ ,, शिवभूति	३० ,, धर्म
७. ,, स्थूलभद्र	१९ ,, भद्र	३१ ,, सिंह
८ ,, सुहस्ती	२० ,, नक्षत्र	३२ ,, धर्म
९ ,, सुस्थित-सुप्रतिबद्ध	२१ ,, रक्ष	३३ ,, साडिल्य
१० ,, इद्रदिन्न	२२ ,, नाग	३४ ,, देवर्द्धिगणी
११ ,, दिन्न	२३ ,, जेहिल	
१२ ,, सिहगिरि	२४ ,, विष्णु	

वल्लभी युग-प्रधान पट्टावली

	आचार्य	काल
१	आचार्य सुधर्मा	२० वर्ष
२	" जम्बू	४४ ,,
३	" प्रभव	११ ,,
४	" शय्यभव	२३ ,,
५	" यशोभद्र	५० ,,
६	" सम्भूतिविजय	८ ,,
७	" भद्रबाहु	१४ ,,
८	" स्थूलभद्र	४६ ,,
९	" महागिरि	३० ,,
१०	" सुहस्ती	४५ ,,
११	" गुणसुन्दर	४४ ,,
१२	" कालक	४१ ,,
१३	" स्कदिल	३८ ,,
१४	" रेवतिमित्र	३६ ,,
१५	" मगू	२० ,,
१६	" धर्म	२४ ,,
१७	" भद्रगुप्त	४१ ,,
१८	" आर्यवज्र	३६ ,,
१९	" रक्षित	१३ ,,
२०	" पुष्यमित्र	२० ,,
२१	" वज्रसेन	३ ,,
२२	" नागहस्ती	६९ ,,
२३	" रेवतिमित्र	५९ ,,
२४	" सिंहसूरि	७८ ,,
२५	" नागार्जुन	७८ ,,
२६	" भूतदिन्न	७९ ,,
२७	" कालक	११ ,,
	कुल	९८१ वर्ष

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव 'युग प्रधान' पट्टावली

	नाम	वीर निर्वाण	विक्रम संवत्
१	आचार्य सुधर्मा	१ से २०	वि० पू० ४६६ से ४५०
२	,, जम्बू	२० से ६४	,, ४५० से ४०६
३	,, प्रभव	६४ से ७५	,, ४०६ से ३९५
४	,, शय्यंभव	७५ से ९८	,, ३९५ से ३७२
५	,, यशोभद्र	९८ से १४८	,, ३७२ से ३२२
६	,, संभूतविजय	१४८ से १५६	,, ३२२ से ३१४
७	,, भद्रबाहु	१५६ से १७०	,, ३१४ से ३००
८	,, स्थूलभद्र	१७० से २१५	,, ३०० से २५५
९	,, महागिरि	२१५ से २४५	,, २५५ से २२५
१०	,, सुहस्ती	२४५ से २९१	,, २२५ से १७९
११	,, गुणसुन्दर	२९१ से ३३५	,, १७९ से १३५
१२	,, श्याम	३३५ से ३७६	,, १३५ से ९४
१३	,, स्कंदिल	३७६ से ४१४	,, ९४ से ५६
१४	,, रेवतिमित्र	४१४ से ४५०	,, ५६ से २०
१५	,, धर्म सूरि	४५० से ४९५	,, २० से वि०२५
१६	,, भद्रगुप्त सूरि	४९५ से ५३३	वि० २५ से ६३
१७	,, श्रीगुप्त सूरि	५३३ से ५४८	,, ६३ से ७८
१८	,, वज्रस्वामी	५४८ से ५८४	,, ७८ से ११४
१९	,, आर्यरक्षित	५८४ से ५९७	,, ११४ से १२७
२०	,, दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७	,, १२७ से १४७
२१	,, वज्रसेन सूरि	६१७ से ६२०	,, १४७ से १५०
२२	,, नागहस्ती	६२० से ६८९	,, १५० से २१९
२३	,, रेवतिमित्र	६८९ से ७४८	,, २१९ से २७८
२४	,, सिंह सूरि	७४८ से ८२६	,, २७८ से ३५६
२५	,, नागार्जुन सूरि	८२६ से ९०४	,, ३५६ से ४३४
२६	,, भूतदिन्न सूरि	९०४ से ९८३	,, ४३४ से ५१३
२७	,, कालक सूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४	,, ५१३ से ५२४
२८	,, सत्यमित्र	९९४ से १०००	,, ५२४ से ५३०
२९	,, हारिल्ल	१००० से १०५५	,, ५३० से ५८५
३०	,, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५	,, ५८५ से ६४५

३१	"	(उमा) स्वाति सूरि	११११५ से ११६७	"	६४५ से ७२७
३२	"	पुष्यमित्र	११६७ से १२५०	"	७२७ से ७८०
३३	"	सम्भूति	१२५० से १३००	"	७८० से ८३०
३४	"	माठरसम्भूति	१३०० से १३६०	"	८३० से ८९०
३५	"	धर्मऋषि	१३६० से १४००	"	८९० से ९३०
३६	"	जेष्ठागगणी	१४०० से १४७१	"	९३० से १००१
३७	"	फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०	"	१००१ से १०५०
३८	"	धर्मघोष	१५२० से १५९८	"	१०५० से ११२८

आधार-स्थल

१ जहा पोम जले जाय नोवलिप्पइ वारिणा ।।

(उत्तरज्झयणाणि अ० २५।२६)

२ धम्मतित्थयरेजिणे ।

(समवाओ ११२)

३ उसभ अजिय सभवमभिनदण सुमइ सुप्पभ सुपास
ससि पुप्फदतसीयल सिज्जस वासुपुज्ज च ।।
विमलमणत य धम्म, सन्ति कुथु अर च मल्लि च
मुनिसुव्वयनमि नेमि, पास तह वद्धमाण च ।।

(नन्दीसूत्र-पट्टावली १।१८,१९)

४ चाउज्जामो य जो धम्मो जो धम्मो पचसिक्खिओ
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ।।

(उत्तरज्झयणाणि २३।२३)

५ चतुर्दश सहस्राणि, षट्त्रिंशत्सहस्राणि

(आवश्यक निर्युक्ति)

६ (क) भगवतो महावीरस्स नवगणा होत्था ।

(ठाण ९।३ सूत्र ६८०)

(ख) आयरितेति वा, उवज्झातेति वा, पावतीति वा, थेरेति वा, गणीति वा, गणधरेति वा, गणावच्छेदेति वा ।

(ठाण ३।३ सूत्र १७७)

७ तेन खलु समयेन राजगृहे नगरे षट्पूर्णाद्या शास्तारोऽसर्वज्ञा सर्वज्ञमानिन प्रतिवसतिस्म। तद्यथा—पूरणकाश्यपो, मश्करीगोशालिपुत्र, सजयी वैरट्टीपुत्रोऽजित केशकम्बल, ककुद कत्यायनो, निग्रथो ज्ञातपुत्र ।"

(दिव्यावदान १२-१४३-१४४)

८ (क) अत्थभासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तई ।।१८२।।

(आवश्यक, नि० पृ० ७९)

(घ) भगवता अत्थो भणितो, गणहरेहिं गंथो कओ वाइयो य इति।

(आव० चूर्णि, पृ० ३३४)

९ इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते

(समवायो १।२)

१० अपच्छिम केवली जंबूसामी सिद्धिं गमिही

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३८)

११ केवली चरमो जम्बूस्वाम्यथ प्रभव प्रभु।
शय्यम्भवो यशोभद्र सम्भूतविजयस्तत ॥३३॥
भद्रबाहु स्थूलभद्र श्रुतकेवलिनो हि षट् ॥३४॥

(अभि० चिन्तामणि, खण्ड प्रथम)

१२ महाबन्ध प्रस्तावना

१३ गण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजय-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्न ॥२५९३॥

(विशेषावश्यक भाष्य)

१४ चोदस पुव्वच्छेदो, वरिससते सत्तरे विणिद्दिट्ठो।
साहूम्मि थूलभद्दे, अन्ने य इमे भवे भावा ॥७०१॥

(तित्थोगाली पइन्ना)

१५ महागिरि सुहस्ती च सूरि श्रीगुणसुन्दर
श्यामार्यं स्कन्दिलाचार्यो रेवतीमित्रसूरिराट् ॥
श्रीधर्मो भद्रगुप्तश्च श्रीगुप्तो वज्रसूरिराट्
युगप्रधानप्रवरा दशैते दशपूर्विण ॥

(सबोधिका स्थविरावली विवरण पत्र ११९)

१६ तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, त जहा—जाति थेरे, सुयथेरे, परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिग्गथे जातिथेरे, ठाणसमवायधरेण समणे णिग्गथे सुयथेरे, वीसवास परियाएण समणे णिग्गथे परियायथेरे।

(ठाण ३।१८७)

१७ थूलभद्दसामिणा अज्ज सुहत्थिस्स नियओ गणो दिण्णो।

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग, २ पृ० ३६१)

१८ तहावि अज्जमहागिरि सुहत्थिय पीतिवसेण एक्कओ विहरति ॥

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ३६१)

१९ वद्धमाणसामिस्स सीसो सोहम्मो थूलभद्दे जाव सव्वेसिं एक्क सभोगो आसिरे।

(निशीथ सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृ० ३६०)

२० तद्वशे (मौर्य) तु विन्दुसारोऽशोकश्री कुणालस्तत्सुनुस्त्रिखण्डभरताधिप परमार्हतोऽनार्य-देशेष्वपि प्रवर्तित-श्रमणविहार सम्प्रति महाराजा चाभवत्।

(विविधतीर्थ कल्प, पृ० ६९)

२१ (क) चउसयतिपन्न (४५३) वरिसे, कालगगुरुणा सरस्सरी गहिआ।
चउसयसत्तरिवरिसे, वीराओ विक्कमो जाओ ॥५६॥

(रत्न सचय प्रकरण पत्र ३२)

(ख) तह गद्दभिल्लरज्जस्स, छेयगो कालगारिओ हो ही ।
छत्तीस गुणोवेओ गुणसयकलिओ यहाजुत्तो ॥१॥
(दुष्पमाकाल श्री समण सघ स्तोत्र अवचूरि)

२२ सागारियमप्पाहण, सुवन्न सुयसिस्स खत लक्खेण
कहणाएसिस्सा गमण धूली पुञ्जोवमाण च ॥२३६॥
आयरिया भणति सु दर, मा पुण गव्व करिज्जासि । ताहे धूली पुञ्ज पिछते करेंति-धूली हत्थेण घेत्तु तिसु ठाणेसु ओयारति—जहा एस धूली ठविज्जमाणी अक्खिप्पमाणी य सव्वत्थ परिसडई एव अत्थो वितित्थगरेहिंतो गणहराण, गणहरेहिंतो जाव अम्ह आयरि अुवज्झायाण पर एण आगय, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ता मा गव्व काहिसि, अज्ज कालिया सीसय सीसाण अणुयोग कहेउ ।
(वृहत्कल्प भाष्य, भाग १, पत्र ७३, ७४)

२३ कालियसुयच इसिभासिआइ तइओ अ सूरपन्नत्ती ।
सव्वोअ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो ॥१२४॥
(आवश्यक निर्युक्ति)

२४ वदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से ।
रयणकरडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥३२॥
(नन्दी थेरावली २)

२५ गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्वाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।
(ठाण ६।२६)

२६ "इत्थ दूसह दुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयलसघ मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खदिलायरियेण ।"
(विविध तीर्थ कल्प, पृ० १६)

२७ अत्थि मुहराउरीए सुयसमिद्धो खदिलो नाम सूरी तहा वलहि नयरीए नागज्जुणो नाम सूरी । तेहि य जाए वरिसिए दुक्काले निव्वउ भावओवि फुट्ठि (१) काऊण पेसिया दिसोदिस साहवो गमिउ च कहविदुत्थ ते पुणो मिलिया सुगाले, जाव सज्झायति ताव खडुखरुडीहूय पुव्वाहिय ।
(कहावली)

२८ श्रीकल्पसूत्र श्रीमहागिरिसतानीयश्रीदेवर्धिगणिक्षमाश्रमणैलिखित तस्मिन्वर्षे आनदपुरे ध्रुवसेननृपस्य पुत्रमरणे शोकार्त्तस्य समाध्यर्थं सभासमक्ष श्रीकल्पवाचना जाता इति वहुश्रुता ॥
(दुष्पमाकाल श्री श्रमण सघ स्तोत्र)

२६ "श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीरादशीत्यधिकनवशत (६८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीय-दुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जाताया, भविष्यद् भव्यलोकोपकराय श्रुतभक्तये च श्रीसङ्घाग्रहाद् मृतावशिष्टतदाकालीन सर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितानुत्रुटितानागमालापकाननुक्रमेण स्वमत्या सङ्कलय्य पुस्तकारूढ कृता । ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्सङ्कलनानन्तर सर्वे-षामपि आगमाना कर्त्ता श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण एव जात ।
(समाचारीशतक)

३० (क) सिरि जिणनिव्वाणगमणरयणिए उज्जेणीए चंडपज्जोअमरणे पालओराया अहिसित्तो । तेण य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्ज पाडलिपुर पि अहिट्ठिअ ।।
तस्स य वरिस ६० रज्जे—गोयम १२ सुहम्म ८ जम्बू ४४ जुगप्पहाण पुणो पाडलीपुरे ११, १०, १३, २५, २५, ६,६, ४, ५५ नवनद एव वर्ष १५५ रज्जे जबू शेष वर्षाणि ४, प्रभव ११, शय्यभव २३, यशोभद्र ५०, सम्भूतविजय ८, भद्रबाहु १४, स्थूलभद्र ४५, एव निर्वाणात् ।।२१५।।
(दुष्षमाकाल श्री श्रमण सघ अवचूरि)

(ख) ज रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थकरो महावीरो ।
त रयणिमवतीए, अभिसित्तो पालओ राया ।।६२०।।
पालग रण्णो सट्ठी, पुण पण्णसय वियाणिणदाणम् ।
मुरियाण सट्ठिसय, पणतीसा पूसमित्ताणम् (त्तस्मा) ।।६२१।।
(तित्थोगाली पइन्ना)

३१ जवमज्झमुरियवसे दाणे वणि निव्वाणदार सलोए ।
तस जीव पडिवक्कमओ पभावओ समण सघस्स ।।३२७८।।
यथा यवो मध्य भागे पृथुल आदावन्ते च हीन एव मौर्यवशोऽपि । तथाहि—चन्द्रगुप्तस्तावद् बलवाहनादि हीन आसीत्, ततो बिन्दुसारो बृहत्तर ततोऽप्यशोकश्रीबृहत्तम तत सम्प्रति सर्वोत्कृष्ट ततोभूयोऽपि तथैव हानिरवसातव्या एव भवमध्यकल्प सम्प्रति नृपतिरासीत् ।
(बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, पत्र १७-१८)

खण्ड २

आगम युग के प्रभावक आचार्य

अध्याय १

१. श्रमण-सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा

श्रमण सहस्रांशु आचार्य सुधर्मा का स्थान प्रभावक जैनाचार्यों की परम्परा मे अतीव आदरास्पद है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् महावीर के प्रत्यक्ष दर्शन से लाभान्वित एव उनकी सन्निधि मे साधनानन्द के मकरन्द कणो का पाथेय प्राप्त, पुण्य-श्लोक आचार्य सुधर्मा वीर निर्वाण से अब तक ढाई हजार वर्ष के अन्तराल काल मे एक है।

उनका जन्म कोल्लाग सन्निवेश निवासी ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० ८० (वि० पू० ५५०) वर्ष पूर्व हुआ। अग्निवेश्यायन गोत्रीय धम्मिल के वे पुत्र थे। माता का नाम भद्दिला था। वैदिक दर्शन का उन्हे अगाध ज्ञान था। समस्त ब्राह्मण समाज पर उनके पाण्डित्य का प्रभाव था। पाच सौ विद्यार्थी उनसे पढा करते थे।

श्रमण धर्म की भूमिका मे प्रवेश पाने का उनका जीवन-प्रसग अत्यन्त रोचक है। सर्वज्ञोपलब्धि के बाद श्रमण भगवान् महावीर एक बार जभियग्राम से मध्यम पावापुरी मे आए। उसी नगर मे सोमिल ब्राह्मण महायज्ञ कर रहा था। उन्नत विशाल कुलोत्पन्न, वेदविज्ञ ग्यारह विद्वान (गणधर) गोब्बर ग्रामवासी गौतम गोत्रीय, इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, कोल्लाक सन्निवेशवासी भारद्वाज गोत्रीय व्यक्त, अग्नि वैश्यायन गोत्रीय सुधर्मा, मोरिय सन्निवेशवासी वाशिष्ठ गोत्रीय मडित, काश्यप गोत्रीय मौर्यपुत्र, मिथिलावासी गौतम गोत्रीय अकपित, कोशल-वासी हारित गोत्रीय अचल भ्राता, तुगिय सन्निवेशवासी कौडिन्य गोत्रीय मेतार्य तथा राजगृहवासी कौडिन्यगोत्रीय प्रभास सभी सोमिल के यज्ञानुष्ठान की सफलता के लिए वहा आ रहे थे।[1] उनके साथ चौआलीस सौ शिष्यो का परिवार था। ग्यारह ही विद्वानो का गर्व आकाश को छू रहा था। समग्र ज्ञानसिन्धु पर वे अपना एकाधिपत्य मानने लगे थे। समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, अध्यात्म, धर्म, विज्ञान, कला और साहित्य किसी भी विषय पर उनसे लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति उनकी दृष्टि मे नही था।

उन्होने अपार जनसमूह को महावीर की ओर बढते देखा। उनका अह-नाग फुफकार उठा। सोचा—'कोई ऐन्द्रजालिक दम्भी-मायावी आया है। वह किसी

मन्त्र-तन्त्र से सबको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, पर हमारे सामने उसकी क्या हस्ती है ?समग्र कान्तार को कपा देने वाली पञ्चानन की दहाड के सामने क्या कोई टिक सका है ? पलक झपकते ही हम उसके प्रभाव को मिट्टी मे मिला देगे ।' कुछ समय तक ऊहापोह कर लेने के बाद अपने-अपने शिष्य परिवार सहित वे ग्यारह विद्वान् अपनी अजेय शक्ति की घोषणा करते हुए क्रमश भगवान् महावीर के समवसरण मे पहुचे। वे अपनी ज्ञानराशि से सर्वज्ञ भगवान् महावीर को अभिभूत कर देना चाहते थे ।उनका यह प्रयास मुष्टि-प्रहार से भीमकाय चट्टान को चूर्ण कर देने जैसा व्यर्थ सिद्ध हुआ।

विशाल जनसमूह के बीच भगवान् महावीर उच्चासन पर सुशोभित थे। उनके तेजोद्दीप्त मुखमण्डल की प्रभा को देखते ही ब्राह्मण पण्डितो के चरण ठिठक गए, नयन चुधिया गए। हिमालय के पास खडे होने पर उन्हे अपने मे बौनापन की अनुभूति हुई। सहस्राशु के महाप्रकाश मे उन्हे अपना ज्ञान जुगनू की तरह फुदकता-सा लगा।

अगाध ज्ञानसिन्धु के स्वामी ग्यारह ही पण्डित आत्मा, कर्मवाद, शरीर और चैतन्य का भिन्नाभिन्नत्व, पृथ्वी आदि मे भौतिकत्व-अभौतिकत्व स्वरूप विवेक, परलोक मे तद्रूप प्राप्ति का भावाभाव, वन्ध-मोक्ष, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, निर्वाण-सम्बन्धी एक-एक शका मे वैसे ही उलझे हुए थे जैसे हाथियो के मद को चूर्ण कर देने वाला शक्तिशाली शेर पेचदार लोहे की छोटी-सी जजीर मे उलझ जाता है। प्रथम सम्पर्क मे भगवान् द्वारा उच्चरित अपने नाम पुरस्सर सम्बोधन ने इन्द्रभूति गौतम को एक बार चौका अवश्य दिया था, पर तत्काल भीतर का दर्प बोल उठा, 'मुझे कौन नही जानता ?'[२] सूर्य को अपने विज्ञापन की आवश्यकता नही होती। तदनन्तर भगवान् महावीर से अपनी गुप्त शकाओ का रहस्योद्घाटन एव उनका सन्तोषप्रद समाधान पा इन्द्रभूति सहित क्रमश सभी पण्डितो का अभिमान हिम-खण्ड के पास रखे तापमापक यन्त्र के पारे की तरह नीचे उतर आया। वे भगवान् महावीर के चरणो मे फलो से लदी हुई शाखा की भाति झुक गये। पण्डितो ने जो कुछ पहले सोचा था, ठीक उसके विपरीत घटित हुआ। वे समझाने आए थे स्वय समझ गये। सिन्धु से विन्दु की तरह विराट् व्यक्तित्व मे उनका 'स्व' समाहित हो गया। सर्वतोभावेन भगवान् महावीर के चरणो मे समर्पित होकर उन्होने श्रमण धर्म की भूमिका मे प्रवेश पाया। भगवान् महावीर द्वारा यह पहला दीक्षा सस्कार वीर निर्वाण ३० (वि० पू० ५००) वर्ष पूर्व हुआ। चतुर्विध सघ स्थापना का यह प्रारम्भिक चरण था।

सयम साधना स्वीकार करने के वाद इन पण्डितो को गणधर लब्धि की प्राप्ति हुई। वे गणधर कहलाए और भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यमयी त्रिपदी के आधार पर उन्होने भवाब्धि मे तरी तुल्य द्वादशागी

की रचना की।[1] युग्म वाचना के समान होने के कारण ग्यारह गणधरो के नौ गण बने।[2] उन्होने अपने गण का सम्यक् सचालन किया। गणधर मडली मे सुधर्मा का स्थान पाचवा था। भगवान् महावीर की उपस्थिति मे नौ गणधर राजगृह की पावन धरा पर निर्वाण को प्राप्त हो गए थे।[3]

भगवान् महावीर का निर्वाण वि० पू० ४७० मे हुआ। उस समय गणधर इन्द्रभूति गौतम अन्यत्र प्रबोध देने गए हुए थे। निर्वाण की सूचना प्राप्त होते ही छद्मस्थता के कारण उनका हृदय शोकविह्वल हो गया। चिन्तन की धारा अन्तर्मुखी बनी। चेतना के ऊर्ध्वारोहण की अवस्था मे मोह का दुर्भेद्य आवरण टूटा। तदनतर ज्ञान-दर्शन वारक कर्माणुओ के क्षीण होते ही अखण्ड ज्ञान (केवल ज्ञान) की लौ उद्दीप्त हो गयी। ज्येष्ठ गणधर इन्द्रभूति गौतम सर्वज्ञ बन गए। सर्वज्ञ कभी परम्परा का वाहक नही होता। अत वीर निर्वाण के बाद सघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने सम्भाला।[4] इस समय उनकी अवस्था अस्सी वर्ष की थी। सर्वज्ञ प्रभु की सुखद सन्निधि मे तीस वर्ष रहने के कारण विविध अनुभूतियो का सबल उनके पास था। भगवान् महावीर जैसे सबल आधार के हिल जाने से एक बार सघ की नौका का डगमगा जाना स्वाभाविक था, पर सुधर्मा जैसे महान् आचार्य का सुदृढ आलम्बन सघ के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

उस युग मे आजीवक प्रभृति इतर धर्म सघ भी अपना वर्चस्व बढा रहे थे और अपनी कठोर चर्या से जनमानस को प्रभावित कर रहे थे। इन सबके बीच भगवान महावीर की सत्यसधित्सु दृष्टि एव स्याद्वादमयी नीति को प्रमुखता प्रदान कर आचार्य सुधर्मा ने जो नेतृत्व श्रमण सघ को दिया वह अद्भुत था, सुखद था।

शैलमालाओं के उत्तुग शिखर से छलकते निर्झर कणो का स्पर्श पा ग्रीष्मकाल के तापतप्त व्यक्ति को जैसा सन्तोष होता है वैसा ही सतोष उनकी वाक्धारा को पीकर श्रमण-सघ को मिला था। दिगम्बर परम्परा इस उत्तरदायित्व को निभाने का श्रेय गणधर गौतम को देती है।

जैन शासन आज आचार्य सुधर्मा का महान् आभारी है। आत्मविजेता भगवान् महावीर के उपपात मे बैठकर उनकी भवसतापहारिणी, जनकल्याणकारिणी वाणी-सुधा से अपने मनीषा घट को भरा और हमारे लिए अगाध आगम-ज्ञानराशि को सुरक्षित रखा। वर्तमान मे एकादशाग की आगम सम्पदा आचार्य सुधर्मा की देन है।[5]

आचार्य सुधर्मा उम्र मे भगवान महावीर से आठ वर्ष ज्येष्ठ थे। तीर्थ का सम्यक् प्रवर्तन करते हुए उन्हे बानवे वर्ष की वृद्ध अवस्था मे 'सर्वज्ञश्री' की उपलब्धि हुई। अविकल ज्ञान से मडित होकर प्रखर भास्वान् के समान वे भारत वसुधा पर चमके। सहस्रो सहस्रो व्यक्तियो को उनसे दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ।

आचार्य सुधर्मा पचास वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। उन्हे तीस वर्ष तक भगवान की सन्निधि प्राप्त हुई। वीर निर्वाण के वाद वारह वर्ष का उनका छद्मस्थ काल और आठ वर्ष का केवली काल है। उनके जीवन का पूरा एक शतक प्रभावक जैनाचार्यो की प्रलम्बमान शृखला मे प्रथम कडी है।

वैभारगिरि पर मासिक अनशन के साथ श्रमण सहस्राशु सुधर्मा वीर नि० २० (विक्रम पूर्व ४५०) मे देहवन्धन को तोडकर आत्मसाम्राज्य के अधिकारी वने।[८]

आधार-स्थल

१ इक्कारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवसा।
पावाइ मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥७६२॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्राक ३११)

२ हे इदभूई ! गोअम ! सागये मुत्ते जिणेण चिंतेइ।
नामपि मे विणाअइ अहवा को म न याणेइ ॥ ११२५॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्राक ३१३)

३ जग्रन्थ द्वादशाङ्गी भवजलधितरी ते निपद्यात्रयेण ॥२॥
(अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प, पृ० २५)

४ मम णव गणा एकारम गणधरा।
(ठाण ६। २२)

५ परिणिव्वुया गणहरा जीवते नाय ए नव जणाऊ ॥६५८॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्राक ३३९)

६ आसीत्सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्री वर्धमानप्रभुपट्टधुर्य ॥११॥
(पट्टावली समुच्चय, श्री महावीर पट्ट परम्परा, पृ० १२१)

७ अधुनैकादशाग्यस्ति सुधर्मास्वामिभाषिता ॥११४॥
(प्रभावक चरित, पत्राक ५८)

८ तत्पट्टे श्री सुधर्मा स्वामी पञ्चमगणधर प्रथमोदयस्य प्रथमाचार्यो बभूव। स च पचाशत् (५०) वर्षाणि गृहे त्रिशद्वर्षाणि (३०) वीरसेवाया तत श्रीवीरनिर्वाणात् द्वादशवर्षाणि छाद्मस्थ्ये अष्टौवर्षाणि केवलित्वे सर्वायु शतमेक प्रपाल्य श्रीवीरात् विंशतिवर्षे सिद्ध ॥
(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पत्राक १६३)

२. ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू

सर्वज्ञ श्रीसम्पन्न ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। उनके जीवन का हर प्रसंग साधना-शिलोच्चय के समुन्नत शिखर का जगमगाता दीप है। युग पर युग आए और बीत गए। अनन्त वैभव-भरे कलश रीत गए पर उस दीप की निर्धूमशिखा समय की परतो को चीरकर अकप जलती रही।

आचार्य जम्बू श्रेष्ठी पुत्र थे। उनका गृहस्थ जीवन आनन्द से भरा था। वे राजकुमार नही थे पर सुख-सुविधाओ के भोग मे राजकुमार से कम नही थे। उनका जन्म वी० नि० पू० १६ (वि० पू० ४८६) मे राजगृह मे हुआ। राजगृह मगध की राजधानी थी। सम्राट् श्रेणिक के शासन मे उसकी शोभा स्वर्ग को भी अभिभूत कर रही थी।

जम्बू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ऋषभदत्त राजगृह के इभ्य श्रेष्ठी थे। लक्ष्मी की अपार कृपा उन पर थी। मणि, रत्नो से बतियाती छते और स्वर्ण से चमकती पीताभ दीवारें उनके अत्यन्त समृद्ध जीवन की प्रतीक थी।

धारिणी सद्धर्मचारिणी महिला थी। गजगामिनी गति, मरालमनीषा, प्रबुद्धविवेक, वाणी-माधुर्य आदि गुण उसके जीवन के अलकार थे। सब तरह से सुखी होते हुए भी राजमहिषी धारिणी पुत्राभाव से चिन्तित रहती थी। एक दिन उसने श्वेतसिंह का स्वप्न देखा।[1] जसमित्र नामक निमित्तज्ञ ने उसे बताया था—"जिस दिन पुत्र का गर्भावतार होगा, तुम श्वेतसिंह का स्वप्न देखोगी।" निमित्तज्ञ के द्वारा की गई घोषणा के अनुसार धारिणी को विश्वास हो गया—एक दिन अवश्य ही सिंह शावक के समान पुत्र की उपलब्धि उसे होगी।

धारिणी शिष्ट, सुदक्ष और सुशिक्षित नारी थी। वह जानती थी, गर्भस्थ डिम्ब माता से भोजन ही ग्रहण नही करता, जननी के आचार-विचार-व्यवहार के सूक्ष्म सस्कारो का सक्रमण भी उसमे होता है। सदाचारिणी माता की सन्तान अस्सी प्रतिशत सदाचारिणी होती है। मनोविज्ञान की इस भूमिका से सुविज्ञ धारिणी सन्तान को सुसस्कारी बनाने के लिए विशेष सयम से रहने लगी और

धर्माराधना जागरूक होकर करने लगी।

गर्भस्थिति पूर्ण होने पर स्वप्न के अनुसार ही धारिणी को तेजस्वी पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। जम्बू-द्वीपाधिपति देव की विशेष रूप से आराधना जम्बू की गर्भावस्था मे धारिणी ने की थी अत शुभ मुहूर्त एव उल्लासमय वातावरण मे बालक का नाम जम्बू रखा गया। कथान्तर के अनुसार माता धारिणी ने जम्बू की गर्भावस्था मे जम्बू वृक्ष को देखा था। अत पुत्र का नाम जम्बू रखा गया।[२]

जम्बू अत्यन्त सुकुमार, सुविनीत, सरल-स्वभावी बालक था। सोने के चम्मच से दुग्धपान करने वाला और मखमली गद्दो मे पलने वाला शिशु सयमपथ का पथिक बनेगा, यह उस समय कौन सोचता था ?

सोलह वर्ष की अवस्था मे काम को अभिभूत कर देने वाली आठ रूपवती कन्याओ के साथ जम्बू का सम्बन्ध कर दिया गया। कभी-कभी जीवन मे ऐसे सुनहले क्षण उपस्थित होते हैं जो जीवन को सर्वथा नया मोड दे देते है।

एक दिन जम्बू ने मगध सम्राट् श्रेणिक के उद्यान मे आचार्य सुधर्मा का भव-सन्तापहारी प्रवचन सुना।[१] उसके सरल हृदय पर अध्यात्म का गहरा रग चढ गया था।

आचार्य सुधर्मा के पास जाकर जम्बू ने प्रार्थना की—"महामहिम मुनीश ! मुझे आपकी वाणी से भौतिक सुखो की विनश्वरता का बोध हो गया है। मैं शाश्वत सुख प्रदान करने वाले सयम मार्ग को ग्रहण करना चाहता हू।"

आचार्य सुधर्मा भव-भ्रमण भेदक दृष्टि का बोध कराते हुए बोले—"श्रेष्ठी पुत्र ! सयमी जीवन का अमूल्य क्षण महान् दुर्लभ है। धीर पुरुषो के द्वारा यही पथ अनुकरणीय है। तू पल-भर भी प्रमाद मत कर।"

जम्बू का मन भी मुनि-जीवन मे प्रविष्ट होने के लिए उतावला हो रहा था पर सद्य दीक्षित हो जाना जम्बू के वश की बात नही थी। इस महापथ पर बढने के लिए अभिभावको की आज्ञा आवश्यक थी।

जम्बू के निर्देश पर सारथि ने रथ की धुरी को घर की ओर उन्मुख कर दिया। तीव्र गति से दौडते हुए अश्वचरण जनाकीर्ण नगर द्वार तक आकर रुक गए। मार्ग-प्राप्ति की प्रतीक्षा मे अत्यधिक काल-विक्षेप की सभावना विरक्त जम्बू के लिए असह्य हो गई। स्वामी के सकेत की क्रियान्विति करते हुए सारथी ने रथागो को नगर के द्वितीय प्रवेश-द्वार की ओर घुमा दिया।

निर्दिष्ट प्रवेश-द्वार के निकट पहुचकर जम्बू ने देखा—लपलपाती तलवारो, सुतीक्ष्ण भालो, भारी-भरकम गोलको, नरसहारक तोपो, वपु विदारक कटारो, महाशिलाखण्ड की आकृति के भयानक शस्त्रो से द्वार का उपरितन भाग सुसज्जित था। यह सारा उपक्रम परचक्र के भय से सावधान रहने के लिए किया गया था। जम्बू ने सोचा—ये शस्त्र, ये भारी-भरकम लोहमय गोलक मौत का महा निमत्रण

है। किसी समय जीवन-समाप्ति की प्रथम सूचना है, चेतना के जागरण का आह्वान है और श्रेयकार्य को कल पर न छोडने की तीव्र ललकार है। द्वार को पार करते समय किसी भी शस्त्र के पतन की दुर्घटना मेरे रथ पर भी घटित हो सकती है। उस समय मैं, मेरा रथ, सारथि कोई भी नही बच सकता।'

जम्बू के हृदय मे ज्ञान की दिव्य किरण उदित हुई। रथ वापस मुडा। आचार्य सुधर्मा के पास पहुचकर जम्बू ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन की प्रतिज्ञा ले ली।

जम्बू का रथ त्वरित गति से चलता हुआ पुन घर की ओर बढा। माता-पिता के पास पहुचकर जम्बू ने उन्हे प्रणाम किया और बोला—"आचार्य सुधर्मा से मैंने अध्यात्म प्रवचन सुना है। मैंने मुनि बनने का निर्णय ले लिया है। आपके द्वारा अब आदेश प्राप्त करने की प्रतीक्षा है।"

पुत्र की बात सुनकर ऋषभदत्त का मुख म्लान हो गया। माता धारिणी की ममता रो पडी। नयन का सितारा, कुल का जगमगाता दीप, हृदय का हार, अपार सम्पत्ति को भोगने वाला जम्बू उनका इकलौता पुत्र था। अप्सरा-सी सुन्दर आठ कन्याओ के साथ उसका सम्बन्ध पहले ही निर्णीत हो चुका था। विवाहान्तर पुत्र के भोग-सम्पन्न सुखी जीवन को देखने की उनकी इच्छा अत्यन्त प्रबल हो रही थी।

मोह-विमूढ माता-पिता ने जम्बू के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"पुत्र! तुम ही हमारे लिए आधार हो। वार्धक्य अवस्था मे यष्टि की भाति आलम्बन हो। तुम्हारा विवाह रचकर उल्लासमय दिन देखने के हमने स्वप्न सजोए थे। वधुओ के आगमन की और पौत्र-दर्शन की भी आनन्ददायी कल्पना की थी। हमारी कामना को सफल करो और आठ वधुओ के साथ इस लक्ष्मी वधू का भी सानन्द भोग करो।" और भी नाना प्रकार के प्रलोभन दिए गए, पर कोई भी प्रलोभन जम्बू को मुग्ध न कर सका। उसके मानस मे ज्ञान की अकप लौ जल रही थी। जनक-जननी का आखिरी प्रस्ताव था—"पुत्र! हम तुम्हारे इस कार्य मे विघ्न बनना नही चाहते, पर आठ कन्याओ के साथ तुम्हारा सम्बन्ध हो चुका है। विवाह के लिए हम वचनबद्ध है। तुम्हारे इस कार्य से उनको धोखा होगा। हमारा वचन भी भग होगा। वत्स! तुम हमेशा हमारे आज्ञाकारी पुत्र रहे हो। अब भी हमारी बात को स्वीकार करो। आठो कन्याओ के साथ पाणिग्रहण की अनुमति प्रदान करो, विवाह के बाद हमारी ओर से तुम्हारे मार्ग मे कोई बाधा उपस्थित नही होगी प्रत्युत हम भी तुम्हारे साथ ही प्रव्रजित बनेगे।"

जम्बू जानता था—पाणिग्रहण के बाद उन आठो पत्नियो की आज्ञा आवश्यक होगी। यह विघ्न निश्चित दिखाई दे रहा था, पर माता-पिता के युक्ति-सगत कथन को इस बार वह टाल न सका। अपने साथ अभिभावक भी दीक्षित बनेगे,—यह दुगुने लाभ की बात वणिक् पुत्र को अधिक प्रभावित कर गई। जम्बू कुछ

झुका। उसने विवाह के लिए स्वीकृति दी। यह स्वीकृति रीति-निर्वहन मात्र थी। ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा मे वह अब भी मन्दराचल की तरह अचल था।

जम्बू के दृढ सकल्प की बात कन्याओ के अभिभावको को भी बता दी गई। इस सूचना से वे चिन्तित हुए। उनमे परस्पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ। व्यामोह के कारण वे किसी एक निर्णय पर नही पहुच पा रहे थे। यह चर्चा कन्याओ के कानो तक भी पहुची। उन्होने दृढ स्वर से अपने अभिभावको से कहा—"हमे आप जम्बू को दे चुके है। अब हमारा वर दूसरा नही हो सकता। राजा और सत पुरुषो का दान भी एक बार ही किया जाता है।' हमारे प्राण अब श्रेष्ठीकुमार जम्बू के हाथ मे है।"

कन्याओ का निश्चय सुनकर अभिभावको के विचार भी स्थिर हुए। सबने यही सोचा—माता-पिता के स्नेहिल आग्रह ने पुत्र को विवाह हेतु प्रस्तुत कर लिया तो ललनाओ का आग्रह-भरा अनुनय भी जम्बू के सयमार्थ बढते चरणो को अवश्य रोक लेगा। नैमित्तिक को पूछकर उस दिन से सातवे दिन विवाह लग्न निश्चित हुआ। ऋषभदत्त के मानस मे हर्ष की लहर पुन दौड गई। धारिणी के पैरो मे घूघरू बध गए। स्वजन-स्नेही, कुटुम्बजन उत्सव की तैयारी मे लगे। सारा वातावरण ही उल्लास से भर गया। आनन्द-प्रदायिनी मगल वेला मे धूम-धाम से जम्बू का विवाह सस्कार सम्पन्न हुआ। यथा नाम तथा गुण वाली समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, रूपश्री और जयश्री इन आठो रूपवती कन्याओ के साथ जम्बू ने घर मे प्रवेश किया। ऋषभदत्त का आगन जम्बू के दहेज से प्राप्त निन्यानवे करोड की धन-राशि से शीशमहल की तरह चमक उठा था।

अपने माता-पिता की प्रसन्नता हेतु जम्बू ने विवाह किया था। उत्सव के इस प्रसग पर विविध वाद्यो की मनमोहक झकार, कोकिल-कठो से उठते सगीत एव गुलाबी रग मे उछलती खुशिया विरक्त जम्बू को अपने लक्ष्य से विचलित न कर सकी।

रात्रि के नीरव वातावरण मे ससार नीद की गोद मे सोया था, पर ऋषभदत्त के घर भारी हलचल थी। धन का अपहरण करने के लिए समागत प्रभव आदि चोर अपने चौर्य कर्म मे व्यस्त थे एव तत्परता से ऋषभदत्त के प्रागण मे दीवारो और छतो पर इतस्तत' फलो से लदे वृक्ष पर मदोन्मत्त मर्कट की भाति छलाग भर रहे थे। ऋषभदत्त के उपरीतन प्रासाद मे अप्सरा-सी आठो पत्नियो के बीच बैठा जम्बू राग-भरी रजनी मे त्याग और विराग की चर्चा कर रहा था। समुद्रश्री आदि आठो कन्याओ ने कर्षक, नुपूर-पण्डिता, वानर-मिथुन, शख-धमक, सिद्धि-बुद्धि, ग्रामकूट-सूत, मासाहस शकुनि, विप्र-दुहितृ नागश्री क्रमश ये आठ कथाए जम्बू को ससार मे मुग्ध होने हेतु कही। जम्बू ने भी काक, विद्युन्माली,

अगारकारक, शिलाजतु वानर, जात्यारव-किशोर सोल्लक, त्रिसुहृद्, ललितांग कुमार इन आठ कथाओ के माध्यम से क्रमश पत्नियो के मन का समाधान किया। जम्बू के प्रत्येक स्वर मे अन्तर्मुखता की लहर उठ रही थी। कामिनियो के काम-बाण जम्बू को पराभूत करने मे निष्फल रहे। वनिताओ का विकार भाव उसके चित्त को तथा चतुर चोरो का दल उसके वित्त को हरण न कर सका।[७] प्रत्युत जम्बू द्वारा प्रस्तुत अध्यात्मचर्चा से मृगनयनी आठो पत्नियो के मानस का भी अन्धकार मिट गया। वासनाशक्ति क्षीण हो गई। वे जम्बू के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गयी। आगे से आगे बढती हुई वैराग्य की सबल तरगो ने सारे वातावरण को बदल दिया। ऋषभदत्त, धारिणी, आठो पत्नियो के माता-पिता और पाच सौ चोरो का एक सबल दल भी सयम-साधना के पथ पर बढने के लिए उत्सुक बना।

श्रेष्ठी कुमार जम्बू ५२७ व्यक्तियो के साथ वी० नि० १ (वि० पू० ४६९) मे आचार्य सुधर्मा के पास दीक्षित हुआ।[८] आचार्य पद पर आसीन होते ही आचार्य सुधर्मा को इतने विशाल परिवार के साथ जम्बू जैसे योग्य व्यक्ति का मिल जाना बहुत ही शुभ-सूचक रहा।

आगम की अधिकाश रचना जम्बू के प्रिय सम्बोधन से प्रारम्भ हुई। "जम्बू! सर्वज्ञ श्री वीतराग भगवान् महावीर से मैंने ऐसा सुना है।"[९] आचार्य सुधर्मा का यह वाक्य आगम साहित्य मे अत्यन्त विश्रुत है।

आचार्य जम्बू कुशाग्र बुद्धि के स्वामी थे। वे अपनी सर्वग्राही एव सद्य ग्राही प्रतिभा के द्वारा आचार्य सुधर्मा के अगाध ज्ञानसिन्धु को अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए।

समग्र सूत्रार्थज्ञाता, विश्रुतकीर्ति, छत्तीस मुनि-गुणो के धारक जम्बू को आचार्य सुधर्मा ने अपने पद पर आरूढ किया। छत्तीस वर्ष की अवस्था मे उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। आचार्य पदारोहण के समय जम्बू की अवस्था २८ वर्ष की थी।

पिता अपना वैभव पुत्रो को सौपकर जाता है, आचार्य सुधर्मा इसी प्रकार अपनी सर्वज्ञत्व सम्पदा जम्बू को समर्पित कर गए। अपूर्व ज्ञानराशि आचार्य जम्बू का आश्रय पाकर मुस्करा उठी।

जम्बू महान् समर्थ आचार्य थे। इनके समय तक धर्म सघ मे कोई भेदरेखा नही उभरी थी। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्परा सुधर्मा और जम्बू को समान सम्मान प्रदान करती है। इस समय तक विकास का कोई भी द्वार अवरुद्ध नही था।

पाच सौ सत्ताईस व्यक्तियो के साथ दीक्षित होने वाले आचार्य जम्बू चरम शरीरी थे एव अन्तिम सर्वज्ञ थे।[१०] वे सोलह वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। साधु–

पर्याय के कुल ६४ वर्ष मे ४४ वर्ष तक उन्होने युगप्रधान पद को अलकृत किया। उनकी सम्पूर्ण आयु ८० वर्ष की थी। ज्योतिर्धाम आचार्य जम्बू वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे निर्वाण पद को प्राप्त हुए।"

आधार-स्थल

१ अन्यदा धारिणीस्वप्ने श्वेतसिंह न्यभालयत् ॥५७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

२ सुनोर्जम्बूतरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधा व्यधात् ॥७१॥

(परिशिष्ट पव, सर्ग २)

३ आराम समोसरिय, पणमित्तु पहु पुरो निसन्नो य।
हरिसियहियओ निसुणेइ, देसण मउलियग्गकरो ॥१८३॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरिय, पत्राक १३६)

४ गच्छतो मेऽध्वनानेन शिलोपरि पतेद्यदि।
तदस्मि नाहं न रथो न रथ्या न च सारथि ॥१०७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५ स भणइ पव्वज्जाए, अणुजाणह ता ममम्मियाणि ॥१९६॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरिय, पत्राक १३६)

६ सकृज्जल्पन्ति राजान सकृज्जल्पन्ति साधव।
सकृत्कन्या प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥१२८॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

७ वित्त न नीत वनिता विकारैर्वित्त न नीत चतुरैश्च चौरै ॥२॥

(पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृष्ठ ४२)

८ पचमगणहारि सुहम्मसामिणा दिन्न पुन्न पव्वज्जो ॥८४७॥

(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, जम्बूचरिय, पत्राक १८५)

९ (क) सुय मे आयुस। तेण भगवता एवमक्खाय

(ठाण १।१)

(ख) अज्जसुहम्मो जम्बूस्वामि पुच्छत भणति—यहासुत वइस्सामि,

(श्री आचाराग चूर्णि, पत्राक २९८)

१० अपच्छिमकेवली जम्बू स्वामी

(विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ ३८)

११ तत्पट्टे २ श्री जम्बूस्वामी षोडश (१६) वर्षाणि गृहे, विंशति (२०) वर्षाणि व्रते चतुश्चत्वारिंशत् (४४) वर्षाणि युगप्रधान भावे। सर्वायुरशीति (८०) वर्षाणि प्रपाल्य श्री वीराच्चतु षष्टि (६४) वर्षाते सिद्ध।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पृ० १६३)

३. परिव्राट्-पुगव आचार्य प्रभव

स्तेन सम्राट् प्रभव उच्चकोटि का परिव्राट् बना, श्रमण सम्राट् बना, यह जैन इतिहास का अनुपम पृष्ठ है।

प्रभव कात्यायन गोत्रीय क्षत्रिय विन्ध्य राजा का पुत्र था। विन्ध्य पर्वत की घाटियो के आसपास वी० नि० ३० (वि० पू० ५००) वर्ष पूर्व वह जन्मा। राजमहलो मे पला-पुसा और एक दिन पितृस्नेह से विहीन होकर चोरो की पल्ली मे पहुच गया। जनसमूह को लूटता, कूदता-फादता विन्ध्याचल की घाटियो में शेर की तरह निर्भीक दहाडता प्रभव एक दिन पाच सौ चोरो का नेता बन बैठा। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी नामक दो विद्याए भी प्रभव के पास थी। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सबको निद्राधीन कर सकता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा तालो को खोल सकता था। अपनी इन दो विद्याओ से स्तेनाधिपति का बल बढा हुआ था। महाराज श्रेणिक का सैन्य दल भी इस गिरोह से कापता था।

एक दिन वह दल श्रेष्ठी पुत्र जम्बू के विवाह मे आए हुए वैभव को लूटने ऋषभदत्त के मेरु-शिखरोपम गृह मे प्रविष्ट हुआ। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा सबको नीद की गोद मे सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या का प्रयोग किया। ताले टूट गए।[1] मधुबिन्दु पर जैसे मक्खिया भनभनाती हुई लपकती है वैसे ही इस गिरोह के पञ्जे धन की पेटियो पर जा गिरे। गिद्ध की तरह उनकी दूरगामिनी दृष्टि पेटियो मे छिपे हीरो और पन्नो को बटोरने मे सहयोग कर रही थी।

जम्बू ने चोरो के द्वारा अपनी सम्पत्ति को अपहरण करते हुए देखा पर न वह कुपित हुआ, न क्षुब्ध हुआ। स्तेनदल के कई सदस्यो ने निद्राधीन अतिथिजनो के पहने हुए आभूषणो को शरीर पर से उतारने का प्रयत्न किया।[2] "दस्युजनो! विवाहोपलक्ष्य मे आए हुए मेरे मित्रो के अलकारो पर हाथ मत लगाओ।[3] मैं निशाप्रहरी की भाति खुली आखो से तुम्हे देख रहा हू•• " अज्ञात दिशा से बढती हुई ये शब्द-तरगे स्तेनदल के कानो से टकराईं। तरगो की टकराहट के साथ ही एक विचित्र घटना घट गई।

दस्युदल का नेता प्रभव पहरेदारी करता हुआ घूम रहा था। स्तेनदल ने

अत्यन्त त्वरा से अपना काम किया, धन की गाठें बाधीं। गाठों को उठाने मे तत्पर उनके हाथ गाठों पर चिपक गए और पैर धरती से। सबके सब भित्तिचित्र की तरह स्तभित रह गए।[४] प्रभव दूर खडा अपने साथियो को चलने का आदेश दे रहा था। पर वे सब प्रस्तर मूर्ति की तरह अविचल खडे थे। अपनी शारीरिक शक्ति का पूरा उपयोग कर लेने पर भी किसीका पैर इञ्च-मात्र नही हिला। वे ऊर्ध्वकर्ण होकर अज्ञात दिशा से आती हुई शब्द-तरगो को सुन रहे थे तथा विस्फारित नयनो से नेता की ओर झाक रहे थे।

पवन की लहरो पर आरूढ शब्द-तरगें प्रभव के कानो तक भी पहुची। प्रभव कुशाग्रबुद्धि का स्वामी था। स्थिति को समझते उसे देर न लगी। मेरे सकेत मात्र पर बलिदान होने वाला मेरा दल मेरी आज्ञा की अवहेलना नही कर सकता। यहा अवश्य कोई दूसरा रहस्य है। मेरे कानो मे टकराने वाली शब्द-तरगो का प्रयोक्ता इसी भवन मे कही बैठा है। वह मेरे से भी अधिक शक्तिशाली है। मेरी अवस्वापिनी विद्या उसके सामने असफल हो गयी है। उसी ने अवश्य मेरे स्तेनदल पर स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग किया है। प्रभव की दृष्टि क्षण-भर मे चारो ओर घूम गई। उसने ऊपर की ओर झाका। ऋषभदत्त के सबसे उपरीतन प्रासाद मे दीपमालाए जल रही थी। उसी प्रासाद के जालीदार गवाक्ष से छन-छनकर आती हुई प्रकाश-किरणें प्रभव को जम्बू के शयनकक्ष तक खींचकर ले गयी। उसने द्वार पर लगे कपाटो की लम्बी सुराख मे से चुगलखोर की तरह चुपके से झाका। मृगनयनियो की कुतलालकृत रूपछटा उसकी आखो मे घनी घटाओ मे चमकी विद्युत् की तरह कौंध गई। जम्बू का कातिमान् भाल उसे अत्यधिक प्रभावित कर गया। नवोढाओ का मधुर सवाद सुनने के लिए स्तेन-सम्राट् ने अपने कान दीवार पर लगा दिए। सुहाग की इस प्रथम रात मे पति-पत्नियो के मध्य अध्यात्म की चर्चा चल रही थी। विरक्ति के स्वर उसके कानो से टकराए। प्रभव ने सोचा—यह कोई असाधारण पुरुष है। वह जम्बू के सामने जाकर खडा हुआ और अपना परिचय देते हुए वह बोला, "मैं चोराधिपति प्रभव हू। आपके सामने मैत्री स्थापित करने की उदग्र भावना के साथ प्रस्तुत हुआ हू। अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याए आपको अर्पित कर रहा हू। मुझे अपना मित्र मानकर मेरी इन विद्याओ को ग्रहण करे और मुझे स्तम्भिनी और विमोचिनी विद्या प्रदान करें।"[५]

मेघघटा मे चमकती दामिनी की भाति जम्बू मुस्कराया और बोला, "स्तेन सम्राट्! मेरे पास किसी प्रकार की भौतिक विद्या नही है और मैं तुम्हारी इन विद्याओ को लेकर क्या करू? प्रभात होते ही मणि, रत्न, कनक-कुण्डल, किरीट-प्रमुख समग्र सम्पदा तथा रूप-सम्पदा की स्वामिनी इन कामनियो का परित्याग कर सुधर्मा स्वामी के पास सयम पर्याय को ग्रहण करूगा। मेरी दृष्टि

मे अध्यात्मविद्या से वढकर कोई विद्या नही है, कोई मत्र नही है, कोई शक्ति नही है, कोई वल नही है।"

जम्वू की वात सुनकर प्रभव अवाक् रह गया। कुछ क्षणो तक तारिका परिकर परिवृत-शशि सौम्य जम्वू के मुख को अपलक नयन से निहारता रह गया। भीतर से झटका लगा, अरे प्रभव ! क्या देख रहे हो ? झटके के साथ ही प्रभव का मौन टूटा। वह जम्वू से निवेदन करने लगा, " मेरे परम मित्र ! पल्लव-पुष्पो से मुस्कराते मधुमास की भाति यह नव यौवन तुम्हे प्राप्त है। लक्ष्मी तुम्हारे चरणो की सेविका है। सव प्रकार की अनुकूल सामग्री तुम्हे सुलभ है। मुक्तभाव से विषय-सुख भोगने का यह समय है। इन नवविवाहित वालाओ पर अनुकम्पा करो, इनकी इच्छाओ को पूर्ण करो।

" जम्वू ! तुम जानते हो सन्तानहीन व्यक्ति नरक मे जाता है अत नरक से त्राण पाने के लिए पुत्र सन्तति का विस्तार कर पितृऋण से मुक्त वनो। सम्पूर्ण परिवार के लिए आलम्वन बनो। उसके वाद सयम मार्ग मे प्रविष्ट होना शोभास्पद है।" मुदिर की भाति मद स्वर मे जम्वू ने उद्वोध दिया—"प्रभव, विपय-भोगो से उत्पन्न सुख अपाय-वहुल है। सर्पपकण तुल्य भोग भी मधुविन्दु के समान प्रचुर दु.ख के दाता होते हैं। महर्पिजनो की दृष्टि मे विपय-सुख मधु-विन्दु के समान क्षणिक आनन्ददायी होते है। जैसे धन-सग्रह का इच्छुक कोई व्यक्ति घोर विपिन मे मदोन्मत्त हाथी के द्वारा पीछा किए जाने पर त्राण पाने का कोई अन्य उपाय न देखकर वृक्ष की शाखा का आलम्वन लिए गम्भीर कूप मे लटक रहा है। उमके पदतल नीचे विकराल काल की भ्रूचाप के समान चार कृष्णकाय सर्प फुफकार रहे हैं। उनके मध्य मे विशालकाय अजगर मुह फैलाए पडा है। मत्त मतगज वृक्ष के प्रकाण्ड को प्रकम्पित कर रहा है। आलम्वनभूत शाखा को सफेद और काला चूहा कुतर रहा है। वृक्ष की उपरितन शाखा पर मधुमक्खियो का छाता है। मधुमक्खिया देह को काट रही है। छाते से वूद-वूद मधु उसके मुह मे टपक रहा है। मौत उसे स्पष्ट सर पर नाचती हुई दिखाई दे रही है। भाग्य से विद्याधर का विमान ऊपर से निकला। शाखा से लटकते दु खार्त व्यक्ति को देखकर करुणार्द्र हृदय विद्याधर ने आह्वान किया—'आओ मानव वशज ! मैं तुम्हे नन्दन वन की भाति आनन्ददायक स्थान पर ले चलता हू।' वार-वार विद्याधर के द्वारा इस प्रकार बुलाने पर भी मधु-विन्दु मे आसक्त वना वह सद्य चलने को तैयार नही होता। एक बिंदु और एक विन्दु और' की प्रतीक्षा मे प्राणो से हाथ धो लेता है।

" अटवी ससार है। विपयोन्मुख प्राणी रसलुब्ध मानव के समान है। कूप मानव-जन्म तथा चार नागराज चतुष्क कपाय हैं। अजगर की भाति नरकादि गतियो के द्वार खुले पडे हैं। आयुष्य की शाखा पर मनुष्य लटक रहा है। चूहो के रूप मे

शुक्लपक्ष एव कृष्णपक्ष है, जो जीवन-शाखा को काट रहे हैं। मधुमक्षिका की भाति व्याधिया आक्रान्त कर रही हैं। इन्द्रियजन्य सुख मधुबिन्दु के समान क्षणिक आस्वाद देने वाले हैं। विद्याधर के समान सत पुरुष बोध प्रदान कर रहे हैं। उनकी वाणी से विवेक प्राप्त सुधी जन लक्ष्मी और ललना-लावण्य मे लुब्ध होकर सयममय सुरक्षित स्थान की क्षण-भर के लिए भी उपेक्षा नही करते।

"प्रभव ! पुत्रोत्पत्ति से पितृ-कल्याण की भावना भी भ्राति मात्र है। पिता-पुत्र के सम्बन्ध अनेक बार हो चुके हैं। जन्म-जन्मान्तर मे पिता पुत्र का और पुत्र पिता का स्थान ग्रहण कर लेते है। परिवर्तनशील विश्व मे जनक-जननी, सुत-सुता, कान्ता आदि के सम्बन्ध शाश्वत नही हैं। इस अनादि-अनन्त ससार मे किसके साथ किसका सम्बन्ध नही हुआ है ! अत स्व-पर की कल्पना ही व्यामोह है। माता, दुहिता, भगिनी, भार्या, पुत्र, पिता, बन्धु और दुर्जन ये सारे के सारे सम्बन्ध भव-भवान्तर मे परिवर्तित होते रहते है अत इन सम्बन्धो से आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त नही होता।"

महेश्वरदत्त, गोपयुवक, वणिक् आदि के उदाहरण सुनाकर एव कुवेरदत्त, कुवेरदत्ता के दृष्टान्त से एक भव के अठारह सम्बन्धो का विचित्र लेखा-जोखा समझाकर श्रेष्ठी कुमार ने चोराधिपति के मोहानुबन्ध को शिथिल कर दिया। जम्बू के अमृतोपम उपदेश से प्रभव का हृदय पूर्णत झकृत हो उठा। युग-युग से तन्द्रिल नयन अध्यात्म के अजन से खुल पड़े। भीतर का ज्ञानदीप जल गया। वह अपने द्वारा कृत पापो के प्रति अनुताप की अग्नि मे जलने लगा। सोचा, 'हाय ! कहा यह श्रेष्ठी कुमार जम्बू जो प्राप्त भोगो को ठुकरा रहा है और कहा मैं जो मास के टुकडे पर कुत्ते की नाई धन पर टूटता हू।··

'इस महायोगी के नयनो मे मैत्री का अजस्र स्रोत छलक रहा है और मैं पापी ··· ··महापापी सहस्रो-सहस्रो ललनाओ की माग का सिन्दूर पोछने वाला, रक्षा बाधने को प्रतीक्षारत भगिनियो के भ्रातृ-सुख का अपहरण करने वाला, प्रिय पुत्रो के प्राणो से खेलकर माताओ को विलखाने वाला, अपने रक्त-रजित हाथो पर अट्टहास करने वाला मैं मैं काल सौकरिक से भी अधिक क्रूर निर्दयी हत्यारा हू। सयम और घोर तप की अग्नि मे स्नान किए विना मेरे पाप का विशुद्धीकरण असम्भव हैं।·· · 'सर्वथा असम्भव !'

जम्बू की ज्ञानधारा मे प्रभव के हृदय पर युग-युग से जमा कल्मष धुल गया। वह अपने को धिक्कारता हुआ अध्यात्म सागर मे गहराई तक बहता चला गया। जो ऋषभदत्त की धनराशि को लूटने आया था वह स्वय पूर्णत लुट गया। जम्बू के चरणो मे जा गिरा, अपराध की क्षमा मागी और अपने साथियो को मुक्त कर देने के लिए आग्रह-भरा निवेदन उनसे किया, पर वह आश्चर्य के महासागर मे डूब गया। जब वह जम्बू के आदेशानुसार अपने दल के पास पहुचा और उसने

देखा, कोई भी साथी वधा हुआ नही है। किसी का पैर धरती पर चिपका नही है। अपने साथियो के हाथ-पैर पहले क्यो स्तम्भित हो गए थे ? इसका वैज्ञानिक समाधान भी उसे मिल गया था। वह और कुछ नही जम्बू की पावन अध्यात्म धारा की त्वरितगामी तरगो का तीव्रतम प्रभाव था। अणुशक्ति के प्रयोग से आन्दोलित वातावरण की भाति जम्बू की मद्य गामी एव दूरगामी सवल ज्ञान-धारा के स्पर्श से स्तेनदल के अन्ततम मे एक विचित्र क्राति घट गई थी। प्रभव को अपने साथियो के हाथ-पैरो का स्तम्भन दिखाई दिया, पर यथार्थ मे अध्यात्म-तरगो से प्रभावित उनका मन इस पापकर्म को करने से पूर्णत अस्वीकृत हो चुका था।

प्रभव सयम मार्ग पर वढने को तत्पर हुआ। अपने अधिपति के इस महान् निर्णय को सुनकर समग्र स्तेनदल मे एक दूसरी क्राति और घट गई। दीप से दीप जल उठे। मन का पाप भस्म हो गया। समस्त साथियो ने नेता का अनुगमन किया। प्रभव ने अपने पूरे दल सहित वी० नि० १ (वि० पू० ४६९) मे सुधर्मा के पास दीक्षा ग्रहण की।

परिशिष्ट पर्व के अनुसार प्रभव की दीक्षा आचार्य जम्बू की दीक्षा से एक दिन वाद हुई।[१] इस आधार पर दीक्षा-ज्येष्ठ आचार्य जम्बू थे एव अवस्था-ज्येष्ठ आचार्य प्रभव थे। दीक्षाग्रहण काल मे जम्बू की अवस्था १६ वर्ष की एव प्रभव की अवस्था ३० वर्ष की थी।

आचार्य जम्बू के वाद वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे प्रभव ने आचार्य-पद का दायित्व सम्भाला।[२] भगवान् महावीर की परम्परा मे प्रभव का क्रम तृतीय है।

स्तेन सम्राट् को महावीर सघ का उत्तराधिकार अवश्य मिला, पर सर्वज्ञत्व की सम्पदा उन्हे प्राप्त नही हो सकी।

महान् जैनाचार्यो मे परिव्राट्-पुगव आचार्य प्रभव का स्थान भी वहुत ऊचा है। शय्यभव जैसे महान् अहकारी, निर्ग्रन्थ प्रवचन के घोर प्रतिद्वन्द्वी विद्वान् को भगवान् महावीर के सघ मे दीक्षित कर देना उनकी प्रभावकता का सवल उदाहरण है।

श्रुतकेवली की परम्परा मे आचार्य प्रभव प्रथम थे। आचार्य प्रभव को द्वादशागी की उपलब्धि आचार्य सुधर्मा से प्राप्त हुई या जम्बू से इस प्रसग का कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नही हो सका है।

परम प्रभावी आचार्य प्रभव ३० वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। सयमी जीवन के कुल ७५ वर्ष के काल मे ११ वर्ष तक आचार्य पद का वहन किया। चारित्र्य-धर्म की सम्यक् आराधना करते हुए १०५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) मे अनशन पूर्वक स्वर्गगामी वने।

आधार-स्थल

१ ओसोयणि विज्जाए, सोयाविऊण जणमसेसपि ।
मो जाइ जबुनामस्म, मदिरे मेरुसिहरेव्व ।।१३।।
तालुग्घाडिणिविज्जाए तालयाइ विहाडिऊण लहु ।
विवरियसव्वदुवारे पविसइ नियमदिरव्व तहि ।।१४।।
(उपदेशमाला विशेपवृत्ति, पत्राक १३७)

२ घरहरघोरत जणाहिं, जाव तेणा विभूसणाईय ।
उल्लुटणाय लग्गा, ममग्गभडारगाणपि ।।१५।।
(उपदेशमाला विशेपवृत्ति, पत्राक १३७)

३ नीसकमाणओ तो, भणेइ सिहासणे समासीणो ।
जबूनामो भो मा, छिवेह पाहुणय जणमेय ।।१६।।
(उपदेशमाला, विशेपवृत्ति, पत्राक १३७)

४ महापुण्यप्रभावस्य तस्याथ वचसेदृशा ।
ते चौरा स्तब्ध वपुपोऽभूवन् लेप्यमया इव ।।१७६।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

५ वयस्य ! देहि मे विद्या स्तम्भनी मोक्षणीमपि ।
अवस्वापनिकातालोद्घाटिन्यौ ते ददाम्यहम् ।।१८२।।
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग २)

६ पितृणापृच्छ्य चान्येद्यु प्रभवोऽपि समागत
जम्बूकुमारमनुयान्परिव्रज्यामुपाददे ।।२६०।।
(परिशिष्ट पर्व, तृतीय सर्ग, पत्राक १४०)

७ श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि पष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बू ।
कात्यायन प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद ।।६१।।
(परिशिष्ट पर्व, चतुर्थ सर्ग, पत्राक १४७)

४. श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यम्भव

श्रुतसम्पन्न आचार्य शय्यम्भव पहले अहकारी विद्वान् थे। राजगृह-निवासी वत्सगोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे उनका जन्म वी० नि० ३६ (वि० पू० ४३४) मे हुआ। वेद और वेदाग दर्शन के वे विशिष्ट ज्ञाता थे।

उद्भट विद्वान् शय्यम्भव जैन शासन के सबल विरोधी थे। जैन धर्म के नाम से उनकी आखो मे अगार बरसते थे।

प्रभव के सम्पर्क मे आकर शय्यम्भव वी० नि० ६४ (वि० पू० ४०६) मे जैन मुनि बन गए थे।

निर्ग्रन्थ धर्म के प्रबल विरोधी, प्रचण्ड क्रोधी, प्रकाण्ड विद्वान् शय्यम्भव को आचार्य प्रभव के निकट लाने का कार्य श्रमण युगल ने किया था। यह इतिहास की विरल घटना है।

आचार्य का सबसे बडा दायित्व भावी आचार्य का निर्णय करना है। इस महत्त्वपूर्ण दायित्व की चिन्ता आचार्य सुधर्मा और जम्बू को नही करनी पडी थी। सुधर्मा के सामने जम्बू और जम्बू के सामने प्रभव जैसे योग्य व्यक्ति थे। आचार्य प्रभव का पदारोहण ६४ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। उनके जीवन का यह सन्ध्या काल था। पश्चिम यामिनी मे एक बार आचार्य प्रभव ने सोचा—मेरे बाद गणभार वाहक कौन होगा ? उन्होने श्रमण सघ, श्रावक सघ एव जैन सघ का क्रमश अवलोकन किया। गणभार वहन योग्य कोई भी व्यक्ति उनके दृष्टिगत नही हुआ। उनका ध्यान यज्ञनिष्ठ ब्राह्मण विद्वान् शय्यम्भव पर केन्द्रित हुआ।[1] वे नेतृत्व कला मे सर्वथा समर्थ प्रतीत हो रहे थे पर उनके सामने जैन दर्शन की बात करना सकट का सकेतक था।

प्रभव सक्षम आचार्य थे। वे चर्चा-प्रसग से प्रतिद्वन्द्वी शय्यम्भव को जैन धर्म के प्रति प्रभावित कर सकते थे। पर उस पर्वत से कौन टकराये ? शय्यम्भव के नाम से ही हर व्यक्ति के पैर कापते थे। धर्म-सघहित की भावना से प्रेरित होकर युगल श्रमण इस कार्य के लिए प्रस्तुत हुए। आचार्य प्रभव के आदेशानुसार विद्वान् शय्यम्भव के यक्षवाट मे गए, उन्होने द्वार पर उपस्थित होकर धर्म-लाभ कहा। वहा श्रमणो का घोर अपमान हुआ और उन्हे बाहर निकालने का

उपक्रम चला। श्रमण बोले—"अहो कष्टमहो कष्ट तत्त्व विज्ञायते नहि"— अहो ! खेद की बात है, तत्त्व नही जाना जा रहा है।

तत्त्व को नही जानने की बात महाभिमानी उद्भट विद्वान् शय्यम्भव के मस्तिष्क मे टकराई। सोचा, ये उपशान्त तपस्वी झूठ नही बोलते।[१] हाथ मे तलवार लेकर वे अध्यापक के पास गए और तत्त्व का स्वरूप पूछा। उपाध्याय ने कहा—"स्वर्ग और अपवर्ग को प्रदान करने वाले वेद ही परम तत्त्व है।" शय्यम्भव बोले—"वीतद्वेष, वीतराग, निर्मम, निष्परिग्रही, शान्त महर्षि अवितथ भाषण नही करते अत यथावस्थित तत्त्व का प्रतिपादन करो। अन्यथा इस तलवार से शिरश्च्छेद कर दूगा।" लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक काप उठा और कहने लगा—"अर्हत धर्म ही यथार्थ तत्त्व है।"

विद्वान् शय्यम्भव महाभिमानी होते हुए भी सच्चे जिज्ञासु थे। यज्ञ सामग्री अध्यापक को सभलाकर श्रमणो की खोज मे निकले और एक दिन आचार्य प्रभव के पास पहुच गए। प्रभव ने उन्हे यज्ञ का यथार्थ स्वरूप समझाया। अध्यात्म की विशद भूमिका पर जीवन-दर्शन का चित्र प्रस्तुत किया। आचार्य प्रभव की पीयूषस्रावी वाणी से वोध प्राप्त कर शय्यम्भव श्रमण सघ मे प्रविष्ट हुए।

वे वैदिक दर्शन के धुरन्धर विद्वान् पहले से ही थे। आचार्य प्रभव के पास उन्होने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधर की परम्परा मे वे द्वितीय श्रुतकेवली बने।

श्रुतसम्पन्न शय्यम्भव को अपना ही दूसरा प्रतिविम्व मानते हुए आचार्य प्रभव ने उन्हे वी० नि० ७५ (वि० पू० ३९५) मे आचार्य पद से अलकृत किया।

ब्राह्मण विद्वान् का श्रमण सघ मे प्रविष्ट हो जाना उस युग की एक विशेष घटना थी। शय्यम्भव जब दीक्षित हुए तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी।[१] ब्राह्मण वर्ग मे चर्चा प्रारम्भ हुई—

> अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुर।
> स्वा प्रिया यौवनवती सुशीलामपि योऽत्यजत्॥ ५७॥
>
> (परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

विद्वान् शय्यम्भव भट्ट निष्ठुरातिनिष्ठुर व्यक्ति है जिसने अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर दिया है। साधु वन गया है। नारी के लिए पति के अभाव मे पुत्र ही आलम्बन होता है। वह भी उसके नही है। अवला भट्ट-पत्नी कैसे अपने जीवन का निर्वाह करेगी ? स्त्रिया उससे पूछती—"वहिन, गर्भ की सभावना है?" वह सकोच करती हुई कहती—'मणय'—यह मणय शब्द सस्कृत के मनाक् शब्द का परिवर्तित रूप है जो सत्त्व का वोध करा रहा था तथा कुछ होने का सकेत कर रहा था। भट्ट-पत्नी के इस छोटे-से उत्तर से परिवार वालो को सतोष मिला। एक दिन भट्ट-पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित मणय

की ध्वनि के आधार पर मनक रखा गया।[४] भट्ट-पत्नी ने मनक का अत्यन्त स्नेह से पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी मा से पूछा—"जननी! मेरे पिता का नाम क्या है?" भट्ट-पत्नी ने पुत्र के प्रश्न पर समग्र पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया और उसे बताया—"तुम्हारे पिता जैन मुनि बन गये है। पितृ-दर्शन की भावना बालक मे जगी। माता का आदेश ले वह स्वय भट्ट की खोज मे निकला। पिता-पुत्र का चम्पा मे अचानक मिलन हुआ। अपनी मुखाकृति से मिलती मनक की मुखमुद्रा पर आचार्य शय्यम्भव की दृष्टि केन्द्रित हो गयी। अज्ञात स्नेह हृदय मे उमड पडा। उन्होने बालक से नाम-गाव आदि के विषय मे पूछा। अपना परिचय देता हुआ मनक बोला—"मेरे पिता आचार्य शय्यम्भव मुनि कहा है? आप उन्हे जानते है?" बालक के मुह से अपना नाम सुनकर शय्यम्भव ने पुत्र को पहचान लिया और अपने को आचार्य शय्यम्भव का अभिन्न मित्र बताते हुए उसे अध्यात्म-बोध दिया। बाल्यकाल के सरल मानस मे सम्कारो का ग्रहण बहुत शीघ्र होता है। आचार्य शय्यम्भव का प्रेरणा-भरा उपदेश सुन मनक प्रभावित हुआ और आठ वर्ष की अवस्था मे उनके पास मुनि बन गया।

आचार्य शय्यम्भव हस्तरेखा के जानकार थे। मनक का हाथ देखने से उन्हे लगा, बालक का आयुष्य बहुत कम रह गया है। समग्र शास्त्रो का अध्ययन करना इसके लिए सभव नही है।[५]

अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसार समुद्धरेत्।
चतुर्दश पूर्वधर पुन केनापि हेतुना।। ८३ ।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

अपश्चिम दशपूर्वी एव चतुर्दश पूर्वी विशेष परिस्थिति मे ही पूर्वो से आगम-निर्यूहण का कार्य करते है।

आचार्य शय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए आत्म-प्रवाद से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया।[६] वीर निर्वाण के अस्सी वर्ष बाद इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई। इस सूत्र के दश अध्ययन हैं। इसमे मुनि-जीवन की आचार सहिता का निरूपण है। यह सूत्र उत्तरवर्ती नवीन साधको के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है।

छह माम बीते। मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। शय्यम्भव श्रुतधर आचार्य थे, पर वीतराग नही बने थे। पुत्रस्नेह उभर आया। उनकी आखें मनक के मोह से गीली हो गईं।

यशोभद्र आदि मुनियो ने उनसे खिन्नता का कारण पूछा।[७] आचार्य शय्यम्भव ने बताया—"यह मेरा ससार-पक्षीय पुत्र था। पुत्र-मोह ने मुझे विह्वल कर दिया है। यह बात पहले श्रमणो के द्वारा जान लिए जाने पर आचार्य-पुत्र समझकर कोई इससे परिचर्या नही करवाता और यह सेवा-धर्म के लाभ से वञ्चित रह

जाता, अत इस भेद को आज तक मैंने श्रमणो के सामने उद्घाटित नही किया था।" आचार्य शय्यम्भव की गोपनीयता पर श्रमण आश्चर्यचकित रह गए।

जीवन के सन्ध्याकाल मे आचार्य शय्यम्भव ने अपने पद पर श्रुतसागर-पारीण यशोभद्र को नियुक्त किया।[८]

श्रुतबल से आचार्य शय्यम्भव शार्दूल की भाति दुप्रधर्प थे। पूर्वज्ञान से निर्यूढ सूत्र रचना का प्रारम्भ उन्ही से हुआ है। उनका जीवन ब्राह्मण सस्कृति और जैन सस्कृति का मिलन है तथा अध्यात्म का उर्ध्वारोहण है।

आचार्य शय्यम्भव अट्ठाईस वर्ष की अवस्था मे श्रमण दीक्षा ग्रहण कर उनचालीस वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद पर आरूढ हुए थे। सयमी जीवन के कुल ३४ वर्षों मे २३ वर्ष तक युगप्रधान पद के दायित्व को निपुणता से सचालन किया। वे बासठ वर्ष की अवस्था मे वी० नि० ९८ (वि० पू० ३७२) मे स्वर्ग-गामी बने।[९]

आधार-स्थल

१ सुहम्मो नाम गणधरो आसी, तस्सवि जबूणामो, तस्सवि य पभवोत्ति, तस्सऽन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तम्मि चिता समुपन्ना को मे गणहरो होज्जत्ति अप्पणो गणे य सघे य सव्वओ उवओगो कओ, ण दीसइ कोइ अव्वोच्छित्तिकरो ताहे गारत्थेसु उवउत्तो, उवओगे कए रायगिहे सेज्जभव माहण जन्न जयमाण पासइ।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राक १०)

२ तेण य सेज्जभवेण दारमूलेठिएर्ण त वयण सुअ, ताहे सो विचितेइ एए उवसता तवस्सिणो असच्च ण वयति।

(दशवै०हारि-वृत्ति, पत्राक १०-११)

३ जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था,

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राक ११(१))

४ मायाए से भणिअ 'भणग' ति तम्हा मणओ से णाम कयति।

(दशवै० हारि-वृत्ति, पत्राक ११(२))

५ एव च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनि।
अत्यल्पायुरय बालो भावी श्रुतधर कथम् ॥८२॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

६ सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्य शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिक नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

७ आणद असुपाय कासी सिज्जभवा तहि थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा सघे ॥३७१॥

(दशवै० निर्युक्ति)

-८ श्रीमाञ्शय्यम्भव सूरिर्यशोभद्रमहामुनिम् ।
श्रुतसागरपारीण पदे स्वस्मिन्नतिष्ठिपत् ।।१०६।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५)

-९ तत्पट्टे ४ श्रीशय्यभवस्वामी । स च स्वगृहे यज्ञ कुर्वाण पचशतद्विजं 'अहोकष्टमहोकष्ट तत्त्व न ज्ञायते क्वचिदिति" साधुवच श्रुत्वा यज्ञस्तभाध स्थितश्रीशातिजिन-बिंबदर्शनाद् बुद्ध । अष्टाविंशतिवर्षाणि गृहे स्थित्वा व्रत लेभे । एकादश (११) वर्षाणि व्रते त्रयोविंशतिवर्षाणि युगप्रधानत्वेसर्वायुर्द्वापष्टि ६२ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् ६८ वर्षाति-क्रमे स्वर्ययौ ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पत्राक १६४)

५. युग-प्रहरी आचार्य यशोभद्र

आचार्य यशोभद्र जैन-सघ के परम यशस्वी आचार्य थे। गुणज्ञ, आगमज्ञ, समयज्ञ, श्रुत-शार्दूल आचार्य शय्यभव के उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० ६२ (वि० पू० ४०८) मे हुआ। तुगीकायन उनका गोत्र था।

उम्र के लगभग दो दशक उनके गृहस्थ जीवन मे बीते। तृतीय दशक का प्रारम्भिक चरण था। सासारिक भोग उन्हे नीरस लगने लगे। मन सयम की की ओर झुका। विरक्ति की धारा प्रबल हो उठी।

अध्यात्म सस्कारो से प्रभावित होकर २२ वर्ष की युवावस्था मे उन्होने आचार्य शय्यभव के पास दीक्षा ग्रहण की। श्रुतसम्पन्न आचार्य शय्यभव का पावन सान्निध्य आचार्य यशोभद्र के लिए अत्यन्त लाभकारी सिद्ध हुआ। वे १४ वर्ष तक उनके पास रहे। सयम साधनोपयोगी विभिन्न योग्यताओ का अर्जन करने के साथ १४ पूर्वों की विशाल ज्ञान-राशि का ग्रहण भी आचार्य यशोभद्र ने उनसे किया।

श्रुतकेवली की परम्परा मे आचार्य यशोभद्र का क्रम तृतीय है। आचार्य शय्यभव के बाद वे वी० नि० ९८ (वि० पू० ३७२) मे आचार्य पद पर आरूढ हुए। उन्होने कुशलतापूर्वक वीर शासन का दायित्व सम्भाला। आचार्य पदारोहण के समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की थी।

चर्तुदश पूर्वो की सुविशाल ज्ञान-राशि से सम्पन्न यशस्वी आचार्य यशोभद्र यथार्थत अध्यात्म युग के सजग प्रहरी थे।

जलधर की भाति अर्हतोपदिष्ट धर्मधारा के द्वारा तापतप्त विश्व को शाति प्रदान करते हुए आर्यधरा पर उन्होने सिंह तुल्य निर्भीक वृत्ति से विहरण किया। उनकी कीर्तिलता चतुर्दिक् मे विस्तृत हुई।

सयम शैल आचार्य सम्भूतविजय और जैन मुकुटमणि आचार्य भद्रबाहु दोनो मेधावी मुनि आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। दोनो ही श्रमण आचार्य यशोभद्र से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान सम्पदा को ग्रहण करने मे समर्थ सिद्ध हुए।[1]

आचार्य शय्यभव तक एक आचार्य की परम्परा थी। युग-प्रहरी आचार्य

यशोभद्र ने अपने बाद सम्भूतविजय और भद्रबाहु—इन दोनो को आचार्य पद पर नियुक्ति कर जैन शासन मे नई परम्परा को जन्म दिया।[1]

भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती युग-प्रधान आचार्यों की परम्परा मे आचार्य यशोभद्र का क्रम पाचवा है। सयम पर्याय के कुल ६४ वर्ष के काल मे ५० वर्ष तक उन्होने युग-प्रधान पद को अलकृत किया। आचार्य यशोभद्र का लम्बा शासन-काल भी अत्यन्त सुखद और शान्तिमय बना रहा। उसमे विशेषत उतार-चढाव नही आए, यह उनके सक्षम व्यक्तित्व का परिणाम था। उनका स्वर्गवास वी० नि० १४८ (वि० पू० ३२२) मे ८६ वर्ष की अवस्था मे हुआ।[1]

आधार-स्थल

१ मेधाविनो भद्रबाहुसम्भूतविजयौ मुनी।
चतुर्दशपूर्वधरौ तस्य शिष्यौ बभूवतु ॥३॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

२ सूरिश्रीमान्यशोभद्र श्रुतनिष्योस्तयोर्द्वयो।
स्वमाचार्यकमारोप्य परलोकमसाधयत् ॥४॥

परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

३ तत्पट्टे ५श्री यशोभद्रस्वामी। स च २२ वर्षाणिगृहे १४ वर्षाणि व्रते ५० वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायु षडशीति ८६ वर्षाणि प्रपाल्य श्रीवीरात् १४८ वर्षाते स्वर्गभाक्।

पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पृ० १६४

६. संयम-सूर्य आचार्य सम्भूतविजय

सयम श्रुतनिधि आचार्य सम्भूतविजय भगवान् महावीर के षष्ठ पट्टधर थे। श्रुतकेवली की परम्परा मे वे चतुर्थ श्रुतकेवली थे। उनका जन्म माठर गोत्र मे हुआ। उत्कट वैराग्य के साथ ४२ वर्ष की अवस्था मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की। उनका जन्म वी० नि० ६६ (वि० पू० ४०४), दीक्षा वी० नि० १०८ (वि० पू० ३६२) है। आचार्य यशोभद्र के वे सफल उत्तराधिकारी थे।

श्रमणो की शोभा आचार्य से और आचार्य की शोभा श्रमणो से होती है। जिस सघ मे तपस्वी श्रुतसम्पन्न श्रमण होते है वह सघ तेजस्वी होता है एव सघ-नायक धर्म की प्रभावना के कार्य मे अधिक सक्षम होते है। आचार्य सम्भूतविजय के सघ मे श्रेष्ठ श्रमण सम्पदा थी। श्रुतसम्पन्न आचार्य भद्रबाहु उनके गुरुभ्राता श्रमण थे। घोर अभिग्रहधारी श्रमण भी उनके शिष्य परिवार मे कई थे।

एक बार चार विशिष्ट साधक मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास आए। एक ने कुए की पाल पर, दूसरे ने सर्प की बाबी पर, तीसरे ने सिंह की गुफा मे तप पूर्वक चातुर्मास करने का घोर अभिग्रह धारण किया[1] और अपने लक्ष्य की ओर वे प्रस्थित हुए। आर्य स्थूलभद्र ने वह चातुर्मास पूर्व परिचिता गणिका कोशा की चित्रशाला मे किया। चातुर्मास की सम्पन्नता पर चारो मुनि लौटे। आचार्य सम्भूतविजय ने प्रथम तीन मुनियो का सम्मान 'दुष्क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर किया था। श्रमण स्थूलभद्र के आगमन पर स्वय आचार्य सम्भूतविजय सात-आठ पैर सामने गए और 'महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर उन्हे विशेष सम्मान प्रदान किया।[2]

स्वर्गोपम चित्रशाला मे सुखपूर्वक चातुर्मास सम्पन्न करने वाले श्रमण स्थूलभद्र के प्रति 'महादुष्कर क्रिया के साधक' जैसा आदरसूचक सम्बोधन सुनकर तीनो घोर अभिग्रहधारी मुनियो के मानस मे प्रतिस्पर्धा का प्रबल भाव जागृत हुआ। उन्होने मन ही मन सोचा—अमात्य-पुत्र होने के कारण आचार्य सम्भूतविजय ने 'षट्रस भोजी' मुनि स्थूलभद्र को इतना सम्मान प्रदान किया है।[3] सरस भोजन करने से महादुष्कर साधना निष्पन्न हो सकती है तो कोई भी साधक इस साधना मे सफल हो सकता है।

माध्यस्थ भाव से आराधना उन श्रमणों के लगभग आठ महीने व्यतीत हुए। सिंह-गुफावासी मुनि ने आचार्य सम्भूतविजय के पास आकर प्रार्थना की—"गुरुदेव! मैं आगामी चातुर्मास गणिका 'कोशा' की चित्रशाला में करना चाहता हूं।"

आचार्य सम्भूतविजय के ज्ञान दर्पण में अघटनीय घटना का भावी प्रतिबिम्ब झलक रहा था। उन्होंने कहा—"वत्स! इस महान् दुष्कर अभिग्रह को ग्रहण मत करो। अद्रिराज की तरह स्थिर स्थूलभद्र जैसा व्यक्ति ही इस प्रकार के अभिग्रह को निभा सकता है।"

मुनि बोले—"मेरे लिए यह अभिग्रह दुष्कर नहीं है। आप जिसे दुष्कर-दुष्कर कह रहे हैं वह मार्ग मेरे लिए बहुत आसान है।"

आर्य सम्भूतविजय ने मधुर स्वरों में पुनः प्रशिक्षण देते हुए कहा—"इस अभिग्रह में तुम सफल नहीं बन सकोगे। तुम्हारा पूर्व तपोयोग भी भ्रष्ट हो जायेगा। दुर्बल कंधों पर आरोपित अतिभार गात्र-भंग का निमित्त बनता है।" आर्य सम्भूतविजय इतना कहकर मौन हो गए। दर्पदलित, ईर्ष्या नाग-दंशित सिंह-गुफावासी मुनि गुरु के वचनों को अवगणित कर गणिका कोशा की चित्रशाला की ओर बढ़ गए। अविरल गति से चलते चरण मंजिल के निकट पहुंचे और चित्रशाला में पावस बिताने के लिए कोशा गणिका से आदेश मांगा।

कोशा बुद्धिमती महिला थी। उसने समझ लिया, तपस्वी मुनि का आगमन मुनि स्थूलभद्र की स्पर्धा के कारण हुआ है। वह व्यवहारकुशल भी थी। उसने उठकर वंदन किया और अपनी चित्रशाला चातुर्मास के लिए उन्हें समर्पित कर दी।

सिंह-गुफावासी मुनि स्वयं को जितेन्द्रियता के जिस उच्चतम बिन्दु पर मान रहे थे उससे यथार्थ में बहुत दूर थे। आर्य स्थूलभद्र जैसा दृढ़ मनोबल उनके पास नहीं था। षट्रसपूर्ण भोजन की परिणति वासना का तीव्र ज्वार लेकर उभरी। कमलनयनी गणिका कोशा के अनूप रूप पर मुनि का मन एक ही दिन में विक्षिप्त हो गया। धर्मोपदेश के स्थान पर मुनि ने कोशा के समक्ष काम-प्रार्थना प्रस्तुत की। कवि ने ठीक ही कहा है—"अर्थातुराणां न गुरुर्न बन्धु, कामातुराणां न भयं न लज्जा।" अर्थातुर व्यक्ति के लिए न कोई गुरु है, न कोई बन्धु, कामार्त व्यक्ति के लिए न भय है, न लज्जा।

वज्जियलज्जो अजसोववन्नउ परिचयउ तव लग्गो।
निउणमईए तीए, गणिआ कि देसि मे कहसु॥७९॥

(उप० विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

सिंह गुफावासी मुनि को काम-प्रार्थना करते समय न लज्जा की अनुभूति हुई न अपयश का भय ही लगा।

साधक स्थूलभद्र से सम्यक् सबोधि-प्राप्त गणिका कोशा स्वय मे पूर्ण सजग एव सावधान थी। वह राजा के आदेश के अतिरिक्त किसी भी पुरुष से काम-सम्बन्ध जोडने का परित्याग कर चुकी थी। मुनि को प्रशिक्षण देने की दृष्टि से उसने कहा—"मुने! मैं गणिका हू। गणिका उसी की होती है जो प्रचुर मात्रा मे द्रव्य दान कर सकता है। आपके पास मुझे समर्पित करने के लिए क्या है?"

मुनि ने कातर नयनो से गणिका की ओर झाकते हुए कहा—"मृगलोचने! बालुकणो से कभी तेल नही निकलता। हमारे जैसे अकिंचन व्यक्तियो से धन की आशा रखना व्यर्थ है। तुम प्रसन्न बनो और मेरी कामना पूर्ण करो।" विवेक-सम्पन्न कोशा बोली—"मुने! नेपाल देश का राजा प्रथम समागत मुनिजनो को रत्नकम्बल प्रदान करता है। वह कम्बल मेरे सामने प्रस्तुत कर सको तो इस विषय मे कुछ सोचा जा सकता है।"[५]

कामासक्त व्यक्ति हिताहित का सम्यक् समालोचन नही कर सकता। मुनि भी अपनी सयम मर्यादा को भूल चातुर्मासिक काल मे ही वहा से चल पडे। सैकडो कोश धरती पार कर नेपाल पहुचे और अत्यन्त कठिनता से रत्नकम्बल को प्राप्त कर लौटे। रास्ते मे भीषण आपत्तियो का सामना भी उन्हे करना पडा। कभी तीव्र ताप से तापित धरती की तपन पैरो को झुलसाती, कभी सर्दी की ठिठुरन शरीर को कपकपा देती थी। भूख-प्यास से आकुल मुनि के लडखडाते चरण, विशालकाय पहाडो की ककरीली दरारो, बरसाती हवाओ से सर्पिणी की भाति फुफकारती विफरी नदियो एव बीहड वनो को लाघते आगे बढते रहे। मार्ग मे चोरो का आवासस्थल था। उसके पास पहुचते ही शकुनसूचक पक्षी बोला—"आयाति लक्षम्"—लक्ष मुद्राओ का द्रव्य आ रहा है। पक्षी की भाषा को समझकर चोर सेनापति ने द्रुमारूढ चोर से पूछा—"मार्ग पर कोई आता हुआ दिखाई दे रहा है?"

"आगच्छन् भिक्षुरेकोऽस्ति न कश्चित्तादृशोऽपर।"

चोर ने कहा—"एक भिक्षु के अतिरिक्त कोई दृष्टिगोचर नही हो रहा है।"

चोर-सम्राट् ने आदेश दिया—"निकट आने पर आगन्तुक को लूट लिया जाए।" चोरो ने वैसा ही किया पर भिक्षु के पास कुछ भी प्राप्त नही हुआ। स्तेनदल से मुक्ति पाकर ज्योही मुनि के चरण आगे बढे पक्षी पुन बोला—

"एतल्लक्ष प्रयाति"

पक्षी से सकेत पाकर स्तेनराट् सहित चोरो ने उसे घेर लिया और कहा—

"सत्य ब्रूहि किमस्ति ते"

—भिक्षुक! सत्य कहो, तुम्हारे पास क्या है?

मुनि का हृदय काप गया। वे बोले—"मेरी इस प्रलम्बमान वश-यष्टि मे रत्न कम्बल निहित है। मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए इसे नेपाल सम्राट्

से याचना करके लाया हू।" चोरो ने मुनि की क्लीवता पर अट्टहास किया और दयापात्र समझकर रत्नकम्बल का अपहरण किए बिना ही उन्हे छोड दिया।

सिंह-गुफावासी मुनि अत्यन्त आह्लाद के साथ अवशिष्ट मार्ग को पार कर चित्रशाला के निकट पहुचा। उसका मन प्रसन्नता से नाच रहा था।

गणिका कोशा के चरणो मे रत्नकम्बल का मूल्यवान् उपहार प्रदान कर वे उसकी कृपादृष्टि पाने को आतुर हो उठे। रत्नकम्बल को देखकर गणिका कोशा की मुद्रा गम्भीर हो गई। अस्थियो से चिपकी चर्म एव फटे-पुराने चिथडो मे लिपटा मुनि का शरीर हड्डियो का ढाचा मात्र लग रहा था। विवेक-सम्पन्ना गणिका कोशा ने रत्नकम्बल से अपने पैरो को पोछा और उसे गदी नाली मे गिरा दिया। मुनि चौके और बोले—"कम्बुकठे ! अति कठिन श्रम से प्राप्त महामूल्य की इस रत्नकम्बल को आप जैसी समझदार महिला के द्वारा यह उपयोग किया जा रहा है !"

मुनि को आश्चर्यचकित देखकर सयम जीवन की महत्ता उन्हे समझाती हुई गुणवती कोशा ने कहा—"महर्षे ! इस साधारण-सी कम्बल के लिए इतनी चिन्ता ? सयम रत्नमयी कम्बल को खोकर आप अपने जीवन मे इससे भी बडी भूल नही कर रहे हैं ?"[६]

गणिका कोशा की सम्यक् वाणी के स्नेहदान से सिह गुफावासी मुनि के मानस मे सवेग-दीप जल गया। सयमी जीवन की स्मृति हो आई। हृदय अनुताप की अनल मे जलने लगा। वे कृतज्ञ स्वरो मे गणिका से बोले—

"बोधितोऽस्मि त्वया साधु ससारात्साधु रक्षित"

—सुव्रते ! तुमने मुझे बोध दिया है। वासनाचक्र की उत्ताल वीचिसमूह मे ऊब-डूब करती मेरी जीवन-नौका की तुमने सुरक्षा की है। मै आर्य सम्भूतविजय के पास जाकर आत्मालोचनपूर्वक शुद्ध बनूगा।

गणिका कोशा बोली—"ब्रह्मचर्य व्रत मे स्थिर करने के लिए आपको महान् क्लेश प्रदान किया है। यह आपकी आशातना मेरे द्वारा बोध प्रदानार्थ हुई है। मेरे इस व्यवहार के लिए मुझे क्षमा करे और आप श्रेय मार्ग का अनुसरण करे।"[७]

सिंह-गुफावासी मुनि गणिका-गृह से विदा हो खिन्नमना आचार्य सम्भूत-विजय के पास पहुचे। वे कृत-दोष की आलोचना कर सयम मे पुनः स्थिर हुए एव कठोर तप साधना का आचरण करने लगे।[८]

उत्तम पुरुषो के साथ सत्त्वहीन मनुष्यो का प्रतिस्पर्धा-भाव उनके अपने लिए ही हानिकारक होता है। कवि ने ठीक ही कहा है—

"अहो ! का काकानामहमहमिका हसविहगै,
सहामर्ष सिंहैरिह हि कतमो जम्बुकतुकाम्।

यत[२] स्पर्द्धा कीदृक् कथय कमलै शैवलतते,
सहासूया सद्भि खलु खलजनस्यादि कतमा ॥६४॥
(उपदेश माला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३६)

हसो के साथ काको की अह-अहमिका, सिंह के साथ शृगाल की ईर्ष्या, कमल के साथ शैवाल की स्पर्धा एव सज्जन मनुष्यो के साथ खल मनुष्यो की असूया निभ नही पाती।

यह वात सिंह-गुफावासी मुनि की समझ मे आ गई। उनका मानस श्रमण स्थूलभद्र के अनन्त मनोवल पर सहस्र-सहस्र साधुवाद दे रहा था।

मज्झविससग्गीए, अग्गीए जो तया सुवन्न व।
उच्छलिय वहलतेओ, स थूलभद्दो मुणी जयउ (इ) ॥ १६ ॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २४१)

स्त्री के ससर्ग मे रहकर भी जिनकी साधना का तेज अग्नि के मध्य प्रक्षिप्त स्वर्ण की भाति अधिक प्रदीप्त हुआ, उन स्थूलभद्र की जय हो।

चारो ओर से इस प्रकार स्थूलभद्र की जय वोली जा रही थी। आचार्य सम्भूतविजय के शासन-काल से सम्वन्धित इतिहास की यह घटना अनेक दुर्वल आत्माओ के मार्ग-दर्शन मे प्रकाश दीपिका होगी।

सिंह-गुफावासी मुनि के जीवन का यह प्रसग विनय भाव को भी पुष्ट करता है

जो कुणइ अप्पमाण,
गुरुवयण न य लहइ उवएस।
सो पच्छा तह सोअइ,
उवकोसघरे जह तवस्सी ॥ ६१ ॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २४३)

जो गुरु के वचनो को अप्रमाण करता है, विनयपूर्वक उन्हे स्वीकार नही करता है वह उपकोशा के घर समागत सिंह-गुफावासी तपस्वी की भाति अनुताप करता है।

उपदेशमाला का यह श्लोक कोशा के स्थान पर उपकोशा की सूचना देता है। उपकोशा कोशा गणिका की भगिनी थी।

आचार्य सभूतिविजय का शिष्य परिवार विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली मे उनके वारह शिष्यो का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार है

(१) नन्दनभद्र, (२) उपनदनभद्र, (३) तीसभद्र, (४) यशोभद्र, (५) सुमणिभद्र, (६) मणिभद्र, (७) पुण्यभद्र, (८) स्थूलभद्र, (९) उज्जुमइ, (१०) जम्बू, (११) दीहभद्र, (१२) पड्डुभद्र।

आचार्य सभूतविजय का श्रमणी वर्ग अत्यन्त प्रभावक था। यक्षा, यक्षदिन्ना

भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा, रेणा—सातो महामात्य शकटाल की प्रतिभासपन्न पुत्रिया आचार्य सभूतविजय के पास दीक्षित हुई थी।" इनका दीक्षा-सस्कार आर्य स्थूलभद्र के बाद हुआ था।

महामात्य पद पर गौरवप्राप्त राजानन्द की अपार कृपा का केन्द्र, सुकोमल तनु, सरल स्वभावी बुद्धि वैभव से समृद्ध श्रीयक ने भी वी० नि० १५३ (वि०पू० ३१७) मे आचार्य सभूतविजय के पास दीक्षा ग्रहण की थी। एक ही आचार्य के शासन-काल मे दीक्षित होने वाले बन्धुद्वय (आर्य स्थूलभद्र एव मुनि श्रीयक) मुनियो के मिलन का कोई भी प्रसग ऐतिहासिक सामग्री मे उपलब्ध नही हो सका है। मुनि श्रीयक से आर्य स्थूलभद्र लगभग ७ वर्ष पहले दीक्षित हो चुके थे।

यक्षादि भगिनियो के साथ भ्राता श्रीयक का घटना-प्रसग अत्यन्त मार्मिक एव हृदयद्रावक है। श्रीयक का शरीर अत्यन्त कोमल था। एक भक्त तप भी उसके लिए कठिन था। एक दिन ज्येष्ठ भगिनी साध्वी यक्षा से प्रेरणा पाकर मुनि श्रीयक ने पर्युषण पर्व के दिनो मे एक बार प्रहर, अर्ध दिन एव अपार्ध दिन तक भोजन ग्रहण करने का परित्याग कर लिया था। मुनि श्रीयक के लिए तपः साधना का यह प्रथम अवसर था। अन्न का एक कण न ग्रहण करने पर भी दिन का अधिकाश भाग सुखपूर्वक कट गया। भगिनी यक्षा ने कहा—"भ्रात ! रात्रि निकट है। नीद मे सोते-सोते ही समय कट जाएगा। तप. प्रधान पर्युषण चल रहा है। अब उपवास कर लो।" ज्येष्ठ भगिनी की शिक्षा को ग्रहण कर श्रीयक ने उपवास तप स्वीकार कर लिया।

निशा मे भयकर कष्ट हुआ। क्षुधा-वेदना-बढती गयी। देव गुरु का स्मरण करता हुआ श्रीयक स्वर्गगामी बना।

भ्राता के स्वर्गवास की बात सुनकर साध्वी यक्षा को तीव्र आघात लगा। भाई की इस आकस्मिक मृत्यु का निमित्त स्वय को मानती हुई वह उदास रहने लगी। ऋषिघात जैसे भयकर पाप के प्रायश्चित्त के लिए उसने अपने को सघ के सामने प्रस्तुत किया। सघ ने साध्वी यक्षा को निर्दोष मानते हुए कोई दड नही दिया पर इससे यक्षा के मन को सतोष नही था। उसने अन्न ग्रहण करना छोड दिया। सघ की सामूहिक साधना से शासन देवी प्रकट हुई। वह साध्वी यक्षा के मनस्ताप को उपशात करने के लिए उसे महाविदेह क्षेत्र मे श्री सीमधर स्वामी के पास ले गयी। श्री सीमधर स्वामी ने बताया—"मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए तुम दोषी नही हो।" वीतराग प्रभु के अमृतोपम वचन सुनकर साध्वी यक्षा को तोष मिला। उद्वेलित मन को समाधान मिला। जैन शासन मे अत्यधिक प्रसिद्ध चार चूलिकाओ की उपलब्धि साध्वी यक्षा को श्री सीमधर स्वामी के पास हुई। इन चार चूलिकाओ मे से दो चूलिकाओ का सयोजन दशवैकालिक सूत्र के साथ एव दो चूलिकाओ का सयोजन आचाराग सूत्र के साथ हुआ है। ये चूलिकाए

आज आगम का अभिन्न अग बनी हुई हैं। साधुचर्या की महत्ता इन चूलिकाओ के माध्यम से समझी जा सकती है।

आचार्य स्थूलभद्र के द्वारा दश पूर्व ग्रहण करने के बाद पाटलिपुत्र मे आचार्य भद्रबाहु के आदेश से यक्षा आदि साध्विया ज्येष्ठ भ्राता के दर्शनार्थ गयी थी। सिंह के रूप मे उन्हे पाकर डर गयी थी। अल्प समय के बाद ही उन्हें मुनि के रूप में प्राप्त कर प्रसन्न भी हुई थी। इसी प्रसग पर बहिनो ने आर्य स्थूलभद्र को श्रीयक से सम्बन्धित यह सारा वृत्तान्त सुनाया था। मुनि श्रीयक के स्वर्गवास-सम्बन्धी सवत् का कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। सम्भवत सभूतविजय के शासन-काल मे ही मुनि श्रीयक की जीवनयात्रा सुखपूर्वक सम्पन्न हो चुकी थी।

आचार्य सभूतविजय चतुर्थ श्रुतकेवली थे। वे ४२ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। सामान्य स्थिति मे ४० वर्ष तक उन्होने साधुचर्या का पालन किया। उनका आचार्यत्व-काल आठ वर्ष का था। ज्ञानरश्मियो से भव्य जनो का पथ आलोकित करते हुए सयम-सूर्य आचार्य सभूतविजय वी० नि० १५६ (वि०पू० ३१४) मे स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१ पत्ते वासरत्ते, तिण्णि मुणी तिव्वभवमउव्विग्गा।
गिण्हति कमेणेए, अभिग्गहे दुग्गहसरूवे ॥६०॥
एगो सीहगुहाए, अन्नो दारुण विसाहिव सहीए।
कूवफलयमि अन्नो, चाउम्मास ठिओऽणसणो ॥६१॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३७)

२ अब्भुट्ठिया मणाग, दुक्करकारीण सागय तुम्ह।
आसासिया कमेण, गुरुणा ता थूलभद्दोवि ॥६६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

३ इदमामन्त्रण मन्त्रिपुत्रताहेतुक खलु ॥१३७॥
(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

४ उवउत्तेण गुरुणा, नाय पार न पाविही एसो।
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

५ नेवालजणवए जह, राया पुव्वस्स साहुणो देइ।
कवलरयण सयसहस्समोल्लमेसो तहिं जाइ ॥८१॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३८)

६ ता त एय सोयसि, न उणो गुणरयणठाणमप्पाण।
ता इय गए वि भयव, सभरसु पवित्तनियपयवि ॥९०॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३९)

७ आशातनेय युष्माक बोधहेतोर्मया कृता ।
क्षन्तव्या सा गुरुवच श्रयध्व यात सत्वरम् ॥१६७॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

८ इच्छामीति वदन् गत्वा सम्भूतविजयान्तिके ।
गृहीत्वालोचना तीक्ष्णमाचचार पुनस्तप ॥१६८॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

९ थेरस्सण अज्जसभूयविजयस्स इमे दुवालस थेरा अतेवासी होत्था, त जहा—
नदणभद्दे उवनदभद्द् तह तीसभद्द् जसभद्दे ।
थेरे य सुमिणभद्दे मणिभद्दे य पुन्नभद्देय ॥१॥

(कल्पसूत्र २०८)

१० थेरे य थूलभद्दे उज्जुमती जबुनामधेज्जे य । थेरे य दीहभद्दे थेरे तह पडुभद्दे य ॥ थेरस्स ण अज्जसभूइविजयस्स माढरसगोत्तस्स इमाओ सत्त अतेवासिणीओ अहावच्चाओ अभिनाताओ होत्था, त जहा—
जक्खाय जक्खदिन्ना भूया तेहेव होई भूइदिन्ना य ।
सेणा वेणा रेणा भगिणीओ थूल भद्दस्स ॥१॥

(कल्पसूत्र २०८)

७. जिनशासन-शिरोमणि आचार्य भद्रवाहु

जिनशासन-शिरोमणि श्रुतधर आचार्य भद्रवाहु उस युग की डगमगाती आस्थाओ के सुदृढ आलम्वन वने। वे यशस्वी आचार्य यशोभद्र के शिष्य थे। चौदह पूर्वों के ज्ञाता थे। उनका जन्म वी० नि० ९४ (वि० पू० ३७६) मे हुआ। पैतालिस वर्ष की अवस्था मे सयम लिया और आचार्य सभूतविजय के वाद वी० नि० १५६ (वि० पू० ३१४) मे उन्होने आचार्य पद को अलकृत किया। इस समय उनकी अवस्था वासठ वर्ष की थी। भगवान महावीर के वे अष्टम पट्ट-धर थे। श्रुतकेवली की परपरा मे उनका क्रम पाचवा था। अर्थ की दृष्टि से वे अन्तिम श्रुतकेवली थे।

जैन शासन को वीर निर्वाण की द्वितीय शताव्दी के मध्य दुष्काल मे भयकर वात्याचक्र से जूझना पडा था। उचित भिक्षा के अभाव मे अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि काल-कवलित हो गए। भद्रवाहु के अतिरिक्त कोई भी चौदह पूर्व का ज्ञाता नही वचा था। वे उस समय नेपाल की पहाडियो मे महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। सघ को इससे गभीर चिन्ता हुई। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए श्रमण सघाटक नेपाल पहुचा। करवद्ध होकर श्रमणो ने भद्रवाहु से प्रार्थना की। "सघ का निवेदन है—आप वहा पधार कर मुनिजनो को दृष्टिवाद की ज्ञानराशि से लाभान्वित करे।" भद्रवाहु ने अपनी साधना मे विक्षेप समझते हुए इसे अस्वी-कार कर दिया।

तित्थोगालिय के अनुसार श्रुत प्रदान हेतु श्रमणो की प्रार्थना पर आचार्य होते हुए भी सघ के दायित्व से उदासीन होकर आचार्य भद्रवाहु निरपेक्ष स्वरो मे बोलते है

सो भणति एव भणिए असिट्ठ किलिट्ठएण वयणेण
न हु ता अह समत्थो इह्नि मे वायण दाउ ॥ २८ ॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्व
एव च भणिय मेत्ता रोसस्स वस गया साहू ॥ २९ ॥

—श्रमणो! मेरा आयुष्य काल कम रह गया है। इतने कम समय मे अतिक्लिष्ट दृष्टिवाद की वाचना देने मे मै असमर्थ हू। आत्महितार्थ मैं समग्र भावेन अपने

को नियुक्त कर चुका हू। अब मुझे सघ को वाचना देकर करना भी क्या है ?

भद्रबाहु के इस निराशाजनक उत्तर से श्रमण उत्तप्त हुए और उन्होने सघीय विधि-विधानो की भूमिका पर आचार्य भद्रबाहु से प्रश्न किया '

एव भणतस्स तुह को दडो होई त मुणसु।

—सघ की प्रार्थना अस्वीकृत करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त होगा ?

आवश्यक चूर्णि के अनुसार समागत श्रमण सघाटक ने अपनी ओर से आचार्य भद्रबाहु के सामने कोई भी नया प्रश्न उपस्थित नही किया। आचार्य भद्रबाहु द्वारा वाचना प्रदान की अस्वीकृति पाकर वह सघ के पास लौटा और उसने सारा सवाद कहा। सघ को इससे क्षोभ हुआ पर दृष्टिवाद की वाचना आचार्य भद्रबाहु के अतिरिक्त और किसी से सभव भी नही थी। सघ के द्वारा विशेष प्रशिक्षण पाकर श्रमण सघाटक पुन नेपाल मे आचार्य भद्रबाहु के पास पहुचा और उन्हें विनम्र स्वरो मे पूछा—सघ का प्रश्न है कि जो सघ की आज्ञा को अस्वीकृत कर दे उसके लिए किस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ?'

पूर्वश्रुतसम्पन्न श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु भी इस प्रश्न पर शास्त्रीय विधि-विधानो का चिन्तन करते हुए गम्भीर हो गए। श्रुतकेवली कभी मिथ्या भाषण नही करते। आचार्य भद्रबाहु के द्वारा यथार्थ निरूपण होगा, यह सबको दृढ विश्वास था। वैसा ही हुआ। आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट घोषणा की—जो आगम वाचना प्रदान करने के लिए अस्वीकृत होता है, सघ शासन का अपमान करता है, वह श्रुत-निह्नव है, सघ से बहिष्कृत करने योग्य है।

भद्रबाहु द्वारा उत्तर सुनकर श्रमण सघाटक ने उच्चघोष मे कहा—"आपने भी सघ की बात को अस्वीकृत किया है अत आप भी उस दड के योग्य है।" तित्थोगालिय मे इस प्रसग पर श्रमण सघ द्वारा १२ प्रकार के सम्भोग विच्छेद का उल्लेख है।

महान् यशस्वी आचार्य भद्रबाहु इस अकीर्तिकर प्रवृत्ति से सम्भल गए। उन्होने सबको सतोष देते हुए कहा—"मैं सघ की आज्ञा का सम्मान करता हू। मैं महाप्राण ध्यान साधना मे प्रवृत्त हू। इस ध्यान साधना से १४ पूर्व की पूर्ण ज्ञान-राशि का मुहूर्त्त मात्र मे परावर्तन कर लेने की क्षमता आ जाती है। अभी इसकी सम्पन्नता मे कुछ समय अवशेष है। इससे मैं वहा आने मे असमर्थ हू। सघ मेधावी श्रमणो को यहा प्रेषित करे, मै उन्हें साधना के साथ वाचना देने का प्रयत्न करूगा।"[1]

तित्थोगालिय के अनुसार आचार्य भद्रबाहु का उत्तर था

एक्केण कारणेण, इच्छ भे वायण दाउ।

—मैं एक अपवाद के साथ वाचना देने को प्रस्तुत होता हू।

अप्पट्ठे आउत्तो, परमट्ठे सुट्ठु दाइ उज्जुत्तो।
न वि ह वायरियव्वो, अहपि नवि वायरिस्सामि ।। ३५ ।।

"आत्महितार्थ मे आयुक्त, परमार्थ मे प्रवृत्त मैं वाचना ग्रहणार्थ आने वाले श्रमण सघ के कार्य मे बाधा उत्पन्न नही करुगा, वे भी मेरे कार्य मे विघ्न न बने।

पारियकाउसग्गो, भत्तट्ठितो व अहव सेज्जाए।
नितो व अइतो वा, एव भे वायण दाह ।। ३६ ।।

—कायोत्सर्ग सम्पन्न कर भिक्षार्थ आते-जाते समय और निशा मे शयन-काल से पूर्व उन्हे वाचना प्रदान करता रहूगा।

श्रमणो ने 'बाढम्' कहकर आचार्य भद्रबाहु के निर्देश को स्वीकार किया और उन्हे वन्दन कर वे वहा से चले, सघ को सवाद सुनाया, इससे मुनिजनो को प्रसन्नता हुई।

महामेधावी, उद्यमवन्त, स्थूलभद्र प्रमुख ५०० श्रमण सघ का आदेश प्राप्त कर आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद वाचना ग्रहण करने के लिए पहुचे।[1] आचार्य भद्रबाहु प्रतिदिन उन्हें सात वाचनाए प्रदान करते थे। एक वाचना भिक्षाचर्या से आते समय, तीन वाचनाए विकाल वेला मे और तीन वाचनाए प्रतिक्रमण के बाद रात्रिकाल मे प्रदान करते थे।

दृष्टिवाद का ग्रहण बहुत कठिन था। वाचना प्रदान का क्रम बहुत मद गति से चल रहा था। मेधावी मुनियो का धैर्य भी डोल उठा। एक-एक कर ४९९ शिक्षार्थी मुनि वाचना क्रम को छोडकर चले गए। स्थूलभद्र मुनि यथार्थ मे ही उचित पात्र थे। उनकी धृति अगाध थी। स्थिर योग था। वे एक निष्ठा से अध्ययन मे लगे रहे। उन्हें कभी एक पद कभी अर्ध पद सीखने को मिलता। पर वे निराश नही हुए। आठ वर्ष मे उन्होंने आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया।[2]

आठ वर्ष की लम्बी अवधि मे आचार्य भद्रबाहु एव स्थूलभद्र के बीच अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के वार्त्तालाप का उल्लेख उपलब्ध नही है।

आचार्य भद्रबाहु की साधना का काल सम्पन्नप्राय था। उस समय एक दिन आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र से कहा—"विनेय! तुम्हे माधुकरी प्रवृत्ति एव स्वाध्याय योग मे किसी प्रकार का क्लेश तो नही होता?"

आर्य स्थूलभद्र विनम्र होकर बोले—"भगवन्! मुझे अपनी प्रवृत्ति मे कोई कठिनाई नही है। मैं पूर्ण स्वस्थमना अध्ययन मे रत हू। आपसे मैं एक प्रश्न पूछता हू—मैंने आठ वर्षों मे कितना अध्ययन किया है और कितना अवशिष्ट रहा है?"

प्रश्न के समाधान मे भद्रबाहु ने कहा—"मुने! सर्षप मात्र ग्रहण किया है मेरु जितना ज्ञान अवशिष्ट है। दृष्टिवाद के अगाध ज्ञानसागर से अभी तक बिन्दु मात्र ले पाए हो।"

आर्य स्थूलभद्र ने निवेदन किया—"प्रभो! मैं अगाध ज्ञान की सूचना पाकर

हतोत्साहित नही हू पर मुझे वाचना अल्प मात्र मे मिल रही है। आपके जीवन का सन्ध्या काल है, इतने कम समय मे मेरु जितना ज्ञान कैसे ग्रहण कर पाऊगा ?"

बुद्धिमान आर्य स्थूलभद्र की चिन्ता का निमित्त जान आर्य भद्रबाहु ने आश्वासन दिया—"शिष्य ! चिन्ता मत करो, मेरा साधनाकाल सम्पन्नप्राय है। उसके बाद मैं तुम्हे रात-दिन यथेष्ट समय वाचना के लिए दूगा।"

श्रुतसम्पन्न आर्य भद्रबाहु एव स्थूलभद्र के बीच हुए इस सवाद का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे प्रायः प्राप्त होता है।

आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन-क्रम चलता रहा। उन्होने दो वस्तु कम दशपूर्व की वाचना ग्रहण कर ली थी। तित्थोगालिय पइन्ना के अनुसार आर्य स्थूलभद्र ने दशपूर्व पूर्ण कर लिए थे। उनके ग्यारहवे पूर्व का अध्ययन चल रहा था। ध्यान साधना का काल सम्पन्न होने पर आर्य भद्रबाहु पाटलिपुत्र लौटे। यक्षा आदि साध्विया आर्य भद्रबाहु के वन्दनार्थ आयी।[४] आर्य स्थूलभद्र उस समय एकान्त मे ध्यानरत थे। परम वन्दनीय महाभाग आचार्य भद्रबाहु के पास अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्य स्थूलभद्र को न देख साध्वियो ने उनसे पूछा—"गुरुदेव ! हमारे ज्येष्ठ भ्राता मुनि आर्य स्थूलभद्र कहा हैं ?" भद्रबाहु ने स्थान-विशेष का निर्देश दिया। यक्षा आदि साध्विया वहा पहुची। बहनो का आगमन जान आर्य स्थूलभद्र को अपने ज्ञान का अह आ गया था। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सिह का रूप बनाकर बैठ गए। साध्विया शेर को देखकर डर गयी। वे आचार्य भद्रबाहु के पास तीव्र गति मे चलकर पहुची और प्रकम्पित स्वर मे बोली—"गुरुदेव, आपने जिस स्थान का सकेत दिया था, वहा केसरीसिह बैठा है। 'ज्येष्ठार्य जग्रसे सिह'—लगता है, हमारे भाई का उसने भक्षण कर लिया है।" भद्रबाहु ने समग्र स्थिति को ज्ञानोपयोग से जाना और कहा—

"वन्दध्व तत्र व सोऽस्ति ज्येष्ठार्यो न तु केसरी।"

वह केसरीसिह नही तुम्हारा भाई है। पुन वही जाओ। तुम्हे तुम्हारा भाई मिलेगा। उसे वन्दन करो।"

आचार्य भद्रबाहु द्वारा निर्देश प्राप्त कर बहने पुन उसी स्थान पर गयी। ज्येष्ठ बन्धु आर्य स्थूलभद्र को देखकर प्रसन्नता हुई। सबने मुकुलित पाणिमस्तक झुकाकर वन्दन किया और वे बोली—"भ्रात ! हम पहले भी यहा आयी थी, पर आप नही थे। यहा पर केसरी बैठा था।" आर्य स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—"साध्वियो ! श्रुतज्ञान की ऋद्धि का प्रदर्शन करने के लिए मैंने ही सिह का रूप धारण किया था।"

आर्य स्थूलभद्र एव यक्षादि साध्वियो का कुछ समय तक वार्त्तालाप चला। मुनि श्रीयक के रोमाचकारी समाधि-मरण की घटना उन्होने आर्य स्थूलभद्र को बतायी। इस घटना-श्रवण से आर्य स्थूलभद्र को भी खिन्नता

हुई। यक्षादि साध्विया अपने स्थान पर लौट आयी। आर्य स्थूलभद्र वाचना ग्रहण करने के लिए आचार्य भद्रवाहु के चरणो मे प्रस्तुत हुए। अपने सम्मुख आर्य स्थूलभद्र को देखकर आचार्य भद्रवाहु ने उनसे कहा—"वत्स ! ज्ञान का अह विकास मे वाधक है। तुमने शक्ति का प्रदर्शन कर अपने को ज्ञान के लिए अपात्र सिद्ध कर दिया है। अग्रिम वाचना के लिए अव तुम योग्य नही रहे हो।" आर्य भद्रबाहु द्वारा आगम वाचना न मिलने पर उन्हे अपनी भूल समझ मे आयी। प्रमादवृत्ति पर गहरा अनुताप हुआ। भद्रवाहु के चरणो मे गिरकर उन्होने क्षमा याचना की और कहा—"यह मेरी पहली ही भूल हैं। इस प्रकार की भूल का पुनरावर्तन नही होगा। आप मुझे वाचना प्रदान करे।"

आचार्य भद्रवाहु ने किसी भी प्रकार से उनकी प्रार्थना स्वीकृत नही की।

आर्य स्थूलभद्र ने पुन. नम्र निवेदन किया—"प्रभो ! पूर्वज्ञान नाश होने को ही है, पर सोचता हू—

न मत्त शेषपूर्वाणामुच्छेदो भाव्यतस्तु स ॥१०६॥ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"श्रुत-विच्छिन्नता का निमित्त मैं न वनू अत पुन-पुन प्रणतिपूर्वक आपसे वाचना प्रदानार्थ आग्रह-भरी नम्र विनती कर रहा हू। अन्यथा आने वाली पीढी मेरा उपहास करेगी। मुझे उलाहना देगी। और कहेगी—'अह के वशीभूत होकर आर्य स्थूलभद्र ने ज्ञान ऋद्धि का प्रदर्शन किया था। इस हेतु से श्रुत-सम्पदा विनष्ट हुई।"

आचार्य स्थूलभद्र को वाचना प्रदान की स्वीकृति प्राप्त कर लेने हेतु सकल सघ ने वार-वार विनती उनके सामने प्रस्तुत की।

सवकी भावना सुन लेने के वाद समाधान के स्वरो मे दूरदर्शी आचार्य भद्रवाहु वोले—"गुणगण-मडित, अखडित आचारनिधिसम्पन्न मुनिजनो ! मैं आर्य स्थूलभद्र की भूल के कारण ही वाचना देना स्थगित नही कर रहा हू। वाचना न देने का कारण और भी है, वह यह हैं—'मगध की रूपसी कोशा गणिका के बाहुपाश बन्धन को तोड देने वाला एव अमात्य पद के आमन्त्रण को ठुकरा देने वाला आर्य स्थूलभद्र श्रमण समुदाय मे अद्वितीय है। वह महान् योग्य है। इसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा के समान कोई दूसरी प्रतिभा नही है। इसके प्रमाद को देखकर मुझे अनुभूत हुआ—समुद्र भी मर्यादा अतिक्रमण करने लगा है। उन्नत कुलोत्पन्न, पुरुषो मे अनन्य, श्रमण समाज का भूषण, धीर, गम्भीर, दृढमनोवली, परम विरक्त आर्य स्थूलभद्र जैसे व्यक्ति को भी ज्ञान मद आक्रान्त करने मे सफल हो गया है। आगे इससे भी मन्द सत्त्व साधक होगे। अत पात्रता के अभाव मे ज्ञानदान ज्ञान की अशातना भी है। भविष्य मे भी अवशिष्ट वाचना प्रदान करने से किसी प्रकार के लाभ की सभावना नही रह गयी है।

"अस्यास्तु दोषदण्डोऽयमन्यशिक्षाकृतेऽपि हि ॥१०८॥ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

"वाचना को स्थगित करने से आर्य स्थूलभद्र को भी अपने प्रमाद का दण्ड मिलेगा और भविष्य मे श्रमणो के लिए उचित मार्ग दर्शन होगा।"

अह भणइ थूलभद्दो, अण्ण रूव न किंचि काहामो।
इच्छामि जाणिउ जे, अह चत्तारि पुव्वाइ ॥८००॥
(तित्थोगालिय पइन्ना)

आर्य स्थूलभद्र ने एक बार और अपनी भावना श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा—"मैं पररूप का निर्माण कभी नही करूगा। अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान देकर मेरी इच्छा पूर्ण करें।"

आर्य स्थूलभद्र के अत्यन्त आग्रह पर भद्रबाहु ने उन्हे चार पूर्वों का ज्ञान इस अपवाद के साथ प्रदान किया। वह अवशिष्ट चार पूर्वो का ज्ञान आगे किसी को नही दे सकेगा। दश पूर्व तक आर्य स्थूलभद्र ने अर्थ ग्रहण किया। शेष चार पूर्वों का ज्ञान शब्दश प्राप्त किया, अर्थ युक्त नही।

आगम वाचना के इस प्रसग का उल्लेख उपदेशमाला विशेष वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, तित्थोगाली, परिशिष्ट पर्व इन चार ग्रथो मे अत्यल्प भिन्नता के साथ विस्तार से प्रस्तुत है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार दो श्रमण श्रुत वाचना के हेतु प्रार्थना करने के लिए नेपाल पहुचे थे। तित्थोगाली तथा आवश्यक चूर्णि मे श्रमण सघाटक का निर्देश है। श्रमणो की सख्या का निर्देश नही है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार ५०० शिक्षार्थी श्रमण नेपाल पहुचे थे। तित्थोगाली मे यह सख्या १५०० की है। इसमे ५०० श्रमण शिक्षार्थी एव १००० श्रमण परिचर्या करने वाले थे।

आचार्य भद्रबाहु के जीवन का यह घटनाचक्र जैन दर्शन से सम्बन्धित विविध आयामो को उद्घाटित करता है। सघहित को प्रमुख मानकर आचार्य प्रवर्तना करते हैं। जहा सघहित गौण हो जाता है वहा जैनसम्मत विधि-विधानो के आधार पर सघहितार्थ आचार्यों को भी सघ की बात पर झुकना पडता है।

आचार्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना-प्रदान के लिए अस्वीकृति देने पर उन्हीसे पूछकर सघ ने आचार्य भद्रबाहु को बहिष्कृत घोषित कर दिया। इसी प्रसग मे आर्य स्थूलभद्र की भूल हो जाने पर आर्य भद्रबाहु के द्वारा वाचना प्रदान का कार्य स्थगित हो गया। सघ की प्रार्थना को भी उन्होने मान्य नही किया। स्थूलभद्र के अति आग्रह पर भी उन्होने शब्दश दृष्टिवाद की वाचना प्रदान की अर्थत नही। यहा पर भी सघ की बात आचार्य भद्रबाहु द्वारा अस्वीकृत होने पर सघ बहिष्कार का प्रायश्चित्त सघ ने उनके लिए घोषित क्यो नही किया? जिस हथियार का प्रयोग उन्होने पहले किया था उसे अब भी किया जा सकता था और अर्थत अतिम चार पूर्वों की ज्ञानराशि को विनष्ट होने से बचाया जा सकता था। अतः यह समग्र घटनाचक्र अपने-आपमे एक नया अनुसधान मागता है। लगता है सघ की शक्ति सबल होती है। सघ ने ही अपने सरक्षण के लिए आचार्य को नियुक्त

किया है। आचार्य के लिए सघ नही बना है पर सघ की शक्ति आचार्य मे केन्द्रित होती है अत अन्तत निर्णायक आचार्य होते हैं। यही कारण है—समग्र सघ के द्वारा निवेदन करने पर आर्य भद्रबाहु ने चार पूर्वों की अर्थ-वाचना देना भविष्य मे अलाभ समझकर स्वीकार नही किया।

दिगम्बर साहित्य मे प्राप्त उल्लेखानुसार दुष्काल के समय बारह हजार श्रमणो से परिवृत भद्रबाहु उज्जयिनी होते हुए दक्षिण की ओर बढ गए। इस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु ने दीक्षा दी। यह जैन सम्राट् की अन्तिम दीक्षा थी। इसके बाद किसी राजा ने जैन मुनि-दीक्षा ग्रहण नही की।

यह घटना द्वितीय भद्रबाहु से सम्बन्धित है। इतिहास के लम्बे अन्तराल मे दो भद्रबाहु हुए है। दोनो के जीवन-प्रसगो मे यह तथ्य स्पष्ट है। प्रथम भद्रबाहु का समय वी० नि० की द्वितीय शताब्दी है। द्वितीय भद्रबाहु का समय वीर निर्वाण की पाचवी शताब्दी के बाद का है। प्रथम भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वी तथा छेद सूत्र के रचनाकार है।[१] द्वितीय भद्रबाहु निर्युक्तिकार तथा वराहमिहिर के भाई हैं। राजा चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध प्रथम भद्रबाहु के साथ न होकर द्वितीय भद्रबाहु के साथ है।

चन्द्रगुप्त मौर्य जो पाटलिपुत्र का राजा था वह प्रथम भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद हुआ है। भद्रबाहु का स्वर्गवास वी० नि० १७० के लगभग है। एक सौ पच्चास वर्षीय नन्द साम्राज्य का उच्छेद एव मौर्य शासन का प्रारम्भ वी० नि० २१० (वि० पू० २६०) के आसपास होता है। द्वितीय भद्रबाहु के साथ जो चन्द्रगुप्त गया था वह अवन्ति का राजा था, पाटलिपुत्र का नही। चन्द्रगुप्त को दीक्षा देने वाले भद्रबाहु भी श्रुतकेवली नहीं थे, उनके पीछे कही श्रुतधर विशेषण नही आया है। द्वितीय भद्रबाहु निमित्त ज्ञानी थे।[१] श्वेताम्बर परम्परा मे उन्हे निमित्तवेत्ता और दिगम्बर परम्परा मे उन्हें चरम निमित्तधर विशेषण से विशेषित किया गया है। अत चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नो के फलादेश की घोषणा भी द्वितीय भद्रबाहु के साथ अधिक सगत है। वराहमिहिर का समय भी अब से १६००-२००० वर्ष पूर्व का है। अत वे प्रथम भद्रबाहु के अनुज न होकर द्वितीय भद्रबाहु के अनुज सिद्ध होते है।

मौर्य शासक चन्द्रगुप्त और अवन्ति के शासक चन्द्रगुप्त तथा दोनो भद्रबाहु की घटनाओ मे नाम-सादृश्य के कारण सक्रमण हुआ प्रतीत होता है।

दिगम्बर परम्परा प्रथम भद्रबाहु के समय दो भद्रबाहु का होना स्वीकार करती है। उनके अनुसार एक भद्रबाहु ने नेपाल मे महाप्राणायाम ध्यान की साधना की थी तथा एक भद्रबाहु के साथ राजा चन्द्रगुप्त दक्षिण मे गया था। पर इतिहास उसका साक्षी नही है।

स्थानाग सूत्र मे नौ गणो का उल्लेख है। उनमे एक गौदास गण भी है। यह

गण गोदास मुनि से सम्बन्धित था। गोदास मुनि आचार्य भद्रबाहु के प्रथम शिष्य थे। गोदास गण की प्रमुखत चार शाखाए थी। उनमे ताम्रलिप्तिका, कोटिवर्पिका एव पुड्रवर्धिका—इन तीन शाखाओ की जन्मस्थली बगाल थी। ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष एव पुड्रवर्धन—ये तीनो बगाल की राजधानिया थी। गोदासगण की तीनो शाखाओ से इन राजधानियो का नाम-साम्य भद्रबाहु के सघ का बगाल भूमि से नैकट्य सूचित करता है। अत विद्वानो का पुष्ट अनुमान है—भद्रबाहु विशाल श्रमण सघ के साथ दुष्काल की विकट वेला मे कुछ समय तक बगाल मे रहे। आचार्य हेमचन्द्र का अभिमत भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है। परिशिष्ट पर्व मे लिखा है

इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत् ।
निर्वाहार्थं साधुसघस्तीर नीरनिधेर्ययौ ॥५५॥

इन पद्यो के अनुसार कराल काल दुष्काल की घडियो मे श्रमण समुदाय जीवन-निर्वाहार्थ समुद्री किनारो पर पहुच चुका था।

ससघ भद्रबाहु उक्त कथन से दुष्काल के समय बगाल मे ही थे। सभवत इसी प्रदेश मे उन्होने छेद सूत्रो की रचना की। उसके बाद वे महाप्राण ध्यान साधना के लिए नेपाल पहुच गए। दुष्काल की परिसमाप्ति के समय भी वे नेपाल मे ही थे।

डा० हर्मन जैकोबी ने भद्रबाहु के नेपाल जाने की घटना का समर्थन किया है। जिन शासन-शिरोमणि आचार्य भद्रबाहु के शासन-काल मे दो भिन्न दिशाओ मे बढती हुई श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के आचार्यों की नाम शृखला एक बिन्दु पर आ पहुची थी। भद्रबाहु को दोनो ही परम्परा समान महत्त्व प्रदान करती है।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे भद्रबाहु के चार शिष्यो का उल्लेख है (१) स्थविर गोदास, (२) स्थविर अग्निदत्त, (३) भत्तदत्त, (४) सोमदत्त। ये चार आचार्य भद्रबाहु के प्रमुख शिष्य थे। दृढ आचार का सबल उदाहरण प्रस्तुत करने वाले चार शिष्य उनके और भी थे। गृहस्थ जीवन मे वे राजगृह निवासी सम्पन्न श्रेष्ठी थे। बचपन के साथी थे। चारो ने ही आचार्य भद्रबाहु के पास राजगृह मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा स्वीकृति के बाद चारो मुनियो ने श्रुत की आराधना की एव विशेष साधना से अपना जीवन जोडा। निर्मम-निरहकारी, प्रियभाषी, मितभाषी, धर्मप्रवचन-प्रवण, करुणा के सागर इन मुनियो ने आचार्य भद्रबाहु से आज्ञा प्राप्त कर एकल विहारी की कठिनचर्या विशेष अभिग्रहपूर्वक स्वीकार की। प्रतिमा तप की साधना मे लगे। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार चारो मुनि राजगृह के वैभारगिरि पर आए। गोचरी करने नगर मे गए। लौटते समय दिन का तृतीय प्रहर सम्पन्न हो चुका था। दिन के तृतीय प्रहर के बाद भिक्षाटन एव गमनागमन न करने की प्रतिज्ञा के अनुसार एक मुनि गिरि गुफा के द्वार पर, दूसरा

उद्यान मे, तीसरा उद्यान के बाहर एव चौथा मुनि नगर के बहिर्भूभाग मे ही रुक गया था। हिम ऋतु का समय था। रात गहरी होती गई। जान लेवा शीत लहर चारो मुनियो की सुकोमल देह को कपकपा रही थी। महान् कष्टसहिष्णु चारो मुनि शात स्थिर खडे थे। अत्यधिक शैत्य के कारण गुफा द्वार स्थित मुनि का प्रथम प्रहर मे, उद्यान स्थित मुनि का द्वितीय प्रहर मे, उद्यान वहिर्स्थित मुनि का तृतीय प्रहर मे एव नगर के वहिर्भू भाग मे खडे मुनि का रात्रि के चतुर्थ प्रहर मे देहान्त हो गया। क्रमश चार प्रहर मे चारो मुनियो के स्वर्गवास होने का कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर शैत्य का प्रावल्य ही था। गिरि गुफा का स्थान सवसे अधिक शीत-प्रधान था और सबसे कम शीत-प्रधान स्थान था नगर का वहिर्भू-भाग।

अपनी प्रतिज्ञा मे दृढ रहकर चारो मुनियो ने (शीत) कष्ट-सहिष्णुता का अनन्य आदर्श उपस्थित किया।

सयम-सूर्य आचार्य सभूतविजय के सतीर्थ्य आचार्य भद्रबाहु सकलागम पारगामी, दशाश्रुतस्कध आदि छेद सूत्रो के उद्धारक एव महाप्राण ध्यान के विशिष्ट साधक थे। उनका ४५ वर्ष का गृहस्थ जीवन, १७ वर्ष तक सामान्य अवस्था मे साधु पर्याय पालन एव १४ वर्ष तक युग-प्रधान पद वहन का काल था। उनकी सर्वायु ७६ वर्ष की थी। वारह वर्ष तक उन्होने महाप्राण ध्यान की साधना की थी।

जिनशासन को सफल नेतृत्व एव श्रुत-सम्पदा का अमूल्य अनुदान देकर श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु वीर निर्वाण १७० (वि० पू० ३००) मे स्वर्ग को प्राप्त हुए।[९] उन्ही के साथ अर्थ-वाचना की दृष्टि से श्रुतकेवली का विच्छेद हो गया।

आधार-स्थल

१ "तम्मि य काले वारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो। सजता इतो इतो य समुद्दतीरे गच्छित्ता पुणरवि 'पाडिलपुत्ते' मिलिता। तेसिं अण्णस्स उद्देसो, अण्णस्स खड, एव सघाडितेहिं एक्कारसअगाणि सघातिताणि दिट्ठिवादो नत्थि। 'नेपाल' वत्तिणीए य भद्दवाहुसामी अच्छति चोद्दस्सपुव्वी, तेसि सघेण पत्थवितो सघाडओ 'दिट्ठिवाद' वाएहि त्ति। गतो, निवेदित सघकज्ज। त ते भणति दुक्कालनिमित्त महापाण पविट्ठोमि तो न जाति वायण दातु। पडिनियत्तेहिं सघस्स अक्खात। तेहिं अण्णोवि सघाडओ विसज्जितो, जो सघस्स आण अतिक्कमति तस्स को दडो। तो अक्खाई उग्घाडिज्जइ। ते भणति मा उग्घाडेह पेसेह मेहावी, सत्त पडिपुच्छगाणि देमि।"

(आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्राक १८७)

२ ताभ्यामेत्य तथाख्याते श्रीसङ्घोऽपि प्रसादभाक्।
प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशती तत ॥७०॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९)

३ श्रीभद्रबाहूपादान्ते स्थूलभद्रो महामति ।
पूर्वाणामष्टक वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ।।१७२।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

४ सपत्ति (१) एक्कारसम, पुव्व अतिवयति नणदवो चेव ।
अतितओ भगिणीतो, सुट्ठुमणा वदणनिमित्त ।।५३।।

(तित्थोगाली)

५ वदामि भद्दबाहु पाइण चरिय सगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगामिसि दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

(दशाश्रुतस्कध निर्युक्ति)

६ आसि उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण ।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणियो सघो णियो तेण ।।५३।।

(भावसग्रह, आचार्य देवसेन कृत)

७ वीरमोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति ।
भद्रबाहुरपि स्वामियंयौ स्वर्गं समाधिना ।।

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६)

८. तेजोमय नक्षत्र आचार्य स्थूलभद्र

काम-विजेता श्रमण-शिरोमणि साधक आचार्य स्थूलभद्र का नाम श्वेताम्बर परम्परा मे अत्यन्त गौरव के साथ स्मरण किया जाता है। इस परम्परा का प्रसिद्ध श्लोक है

मगल भगवान वीरो मगल गौतम प्रभु ।
मगलस्थूल भद्राद्या जैनधर्मोस्तु मगल ॥

मगलमय भगवान् वीर प्रभु एव गणधर गौतम के बाद आचार्य स्थूलभद्र के नाम का स्मरण उनके विशिष्ट व्यक्तित्व एव तेजोमय जीवन का सूचक है। आचार्य स्थूलभद्र का जन्म गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे वी० नि० ११६ (वि० पू० ३५४) मे हुआ। उनके पिता का नाम शकटाल और माता का नाम लक्ष्मी था।

धर्मपरायणा, सदाचारसम्पन्ना, शीलालकारभूपिता लक्ष्मी लक्ष्मी ही थी। वह नारी-रत्न थी। शकटाल नवम नन्द साम्राज्य मे उच्चतम अमात्य पद पर प्रतिष्ठित था।[1] उसकी मत्रणा से सारे राज्य का सचालन होता था। प्रजा उसके कार्यकौशल पर प्रसन्न थी। नन्द साम्राज्य की कीर्तिलता मत्री के बुद्धिबल पर दिग्दिगन्त मे प्रसार पा रही थी एव लक्ष्मी की अपार कृपा उस राज्य पर बरस रही थी।

महामत्री शकटाल के नौ सन्ताने थी। स्थूलभद्र एव श्रीयक दो पुत्र थे—यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदिन्ना, सेना, रेणा, वेणा—ये सात पुत्रिया थी।[2] मेधावी पिता की सन्तान भी बुद्धिमती होती है। शकटाल की सब सन्तानें प्रतिभासम्पन्न थी। सातो पुत्रियो की तीव्रतम स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक थी। प्रथम पुत्री एक बार मे, दूसरी पुत्री दो बार मे, क्रमश सातवी पुत्री सात बार मे अश्रुत श्लोक को सुनकर कण्ठस्थ कर लेती और ज्यो का त्यो तत्काल उसका परावर्त्तन कर देती।[3]

शकटाल का कनिष्ठ पुत्र श्रीयक भक्तिनिष्ठ था एव सम्राट् नन्द के लिए गोशीर्ष चन्दन की तरह आनन्ददायी था।

स्थूलभद्र शकटाल का अत्यन्त मेधासम्पन्न पुत्र था। उसे कामकला का

प्रशिक्षण देने के लिए मन्त्री शकटाल ने गणिका कोशा के पास प्रेषित किया था।

उर्वशी के समान रूपश्री से सम्पन्ना कोशा मगध की अनिन्द्य सुन्दरी थी। पाटलिपुत्र की वह अनन्य शोभा थी। मगध का युवा वर्ग, राजा, राजकुमार तक उसकी कृपा पाने को लालायित रहते थे।[*] कामकला से सर्वथा अनभिज्ञ षोडश वर्षीय नवयुवक स्थूलभद्र कोशा के द्वार तक पहुचकर वापस नही लौटा। उसका भावुक मन कोशा गणिका के अनूप रूप पर पूर्णत मुग्ध हो गया।

मन्त्री शकटाल को स्थूलभद्र के जीवन से प्रशिक्षण मिला। उसने अपने छोटे पुत्र श्रीयक को वहा भेजने की भूल नही की। राजतन्त्र का वोध देने हेतु उसे अपने साथ रखता एव राज्य-सचालन का प्रशिक्षण देता था।

बुद्धिकुशल श्रीयक राजा नन्द का अगरक्षक वना। पृथ्वी की तरह विश्राम-भाजन श्रीयक विनय आदि गुणो के कारण राजा को द्वितीय हृदय की तरह प्रतीत होने लगा।

मगध का विद्वान् कवीश्वर, वैयाकरण-शिरोमणि, द्विजोत्तम, वररुचि नन्द राज्य मे अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास कर रहा था। वह प्रतिदिन राजा की प्रशसा मे स्वरचित १०८ श्लोक राजसभा मे सुनाया करता था। महामात्य शकटाल के द्वारा मात्र एक बार प्रशसा किए जाने पर वररुचि को प्रति श्लोक के वदले एक दीनार (स्वर्ण मुद्रा) प्राप्त होने लगी। अमात्य द्वारा की गई प्रशस्ति मे प्रमुख हेतु शकटाल की पत्नी लक्ष्मी थी। जिसको प्रसन्न करने मे वररुचि को विशेष प्रयत्न करना पडा था।

प्रतिदिन १०८ दीनारो (स्वर्ण मुद्राओ) का राजा नन्द के द्वारा प्रदीयमान यह तुष्टिदान महामात्य शकटाल के लिए चिन्तनीय विपय वन गया।

राजतन्त्र का सचालन अर्थतन्त्र से होता है। अत राजनीतिक धुरा के सफल सवाहक मन्त्री को अर्थ की सुरक्षा का विशेप ध्यान रखना पडता है। कोष को उपेक्षित कर कोई भी राज्य सशक्त नही वन सकता। मेधावी मन्त्री शकटाल अपने विषय मे पूर्ण सावधान एव सजग था

अत्थक्खय पलोइय, भणियममच्चेण देव ! किमिमस्स।
दिज्जइ वज्जरइ निवो, सलाहिओ ज तए एसो ॥१३॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३५)

अर्थ-व्यय पर विचार-विमर्श करते हुए एक दिन महामात्य ने राजा से निवेदन किया—"पृथ्वी-नायक ! वररुचि को १०८ दीनारो का यह दान प्रतिदिन किस उद्देश्य से दिया जा रहा है ?" राजा नन्द का उत्तर था—"महामात्य ! तुम्हारे द्वारा प्रशसित होने पर ही वररुचि को यह दान दिया गया है। हमारी ओर से ही देना होता तो हम पहले ही इसे प्रारम्भ कर देते।"

शकटाल नम्र होकर बोला—"भूपते ! यह आपकी कृपा है, मुझे इतना सम्मान प्रदान किया पर मैंने श्लोको की प्रशसा की थी वररुचि के वैदुष्य की नही। वररुचि जिन श्लोकों को बोल रहा है वह उसकी अपनी रचना नही है।"

नन्द ने कहा—"मन्त्रीश्वर ! यह कैसे हो सकता है ?"

अपने कथन की भूमिका को सुदृढ करते हुए मत्री बोला—"वररुचि द्वारा उच्चारित श्लोको को मेरी सातो पुत्रियो द्वारा तत्काल सुन सकते हैं।"

महामात्य के एक ही वाक्य से वररुचि का महत्त्व राजा नन्द की दृष्टि मे क्षीण हो गया।

दूसरे दिन राजसभा के मध्य अपनी सातो पुत्रियो के प्रतिभा-बल से वररुचि के द्वारा राजा नन्द के सम्मुख निवेदित श्लोको का परावर्तन कराकर उसके प्रभाव को प्रतिहत करने मे मत्री शकटाल सफल हो गया। वररुचि पर राजा कुपित हुआ और उसी दिन से उसे दीनारो का दान मिलना बन्द हो गया।

वररुचि की यह पराजय नन्द साम्राज्य के पतन का बीजारोपण था।

महामात्य शकटाल के प्रति वररुचि के हृदय मे प्रतिशोध की भावना अकुरित हुई। जनसमूह पर पुन प्रभाव स्थापित करने के लिए मायापूर्वक वररुचि गगा से अर्थराशि को प्राप्त करने लगा। प्रात काल कटिपर्यंत जल मे स्थित विद्वान् वररुचि के द्वारा गगा का स्तुति-पाठ होता और उसी समय बडी भीड के सामने गगा की धारा से एक हाथ ऊपर उठता और १०८ स्वर्ण मुद्राओ की थैली वररुचि को प्रदान कर देता था। यह सारा प्रपच वररुचि के द्वारा रात्रि के समय सुनियोजित होता था।

निशा के समय वह गगाजल मे यन्त्र को स्थापित कर वस्त्र से बन्धी हुई एक सौ आठ दीनारो की गाठ उसमे रख देता था। प्रात कटि पर्यन्त जल मे स्थित होकर जनसमूह के सामने गगास्तुति-पाठ करता। स्तुतिपाठ की सम्पन्नता कर वररुचि पैर से यन्त्र को दबाता। दबाव के साथ ही यन्त्र से एक हाथ दीनारो की गाठ के साथ ऊपर उठता एव पैर का दबाव शिथिल कर देने पर नीचे की ओर जाता हुआ हाथ अदृश्य हो जाता। वररुचि पर गगा की यह कृपा जनता की दृष्टि मे विस्मयकारक थी। नगर-भर मे इस अपूर्व दान की चर्चा प्रारम्भ हुई और एक दिन यह चर्चा कर्णानुकर्ण परम्परा से राजा नद के कानो तक पहुची। मत्रणा के समय राजा नद ने शकटाल से कहा—"अमात्य ! वररुचि को भागीरथी प्रसन्न होकर एक सौ आठ दीनारो का दान कर रही है। घटना की यथार्थता से अवगत होने के लिए मैं भी इसे कल प्रात देखने की इच्छा रखता हू।"

सचिव ने झुककर वसुधानाथ के आदेश को समादृत किया। नगर मे गगा तट पर नद के पदार्पण की घोषणा हो गयी।

अमात्य शकटाल रहस्यमयी घटना की पृष्ठभूमि को भी सम्यक् प्रकार से

किया।

महामात्य के लिए मौत की घटी बजने लगी थी। जिस मन्त्री का मार्ग-दर्शन पाने नागरिक जन प्रतीक्षारत रहते थे, आज उसी मन्त्री का रूप हर आख मे सदेहास्पद बन गया था। शकटाल सच्चाई पर होते हुए भी उसके लिए वाता-वरण का उल्टा चक्र घूमना प्रारम्भ हुआ। वर्षों से सचित यश-सूर्य को कालिमा का राहु ग्रसने का प्रयास कर रहा था। मन्त्री के घर पर प्राप्त राजसम्मनार्ह सामग्री ने नन्द के हृदय को पूर्णत बदल दिया। कवि की यह अनुभूतिपूर्ण वाणी सत्य प्रमाणित हुई

राजा योगी अगन-जल इनकी उलटी रीत।
डरते रहियो परशराम—ए थोडी पाले प्रीत॥

बलिदान हो जाने वाले अमात्य के प्रति भी राजा का विश्वास डोल गया। चिन्तन के हर विन्दु पर अमात्य का कुटिल रूप उभर-उभर राजा नन्द के सामने आ रहा था।

प्रात कालीन क्रियाकलाप से निवृत्त होकर शकटाल राजसभा मे पहुचा। नमस्कार करते समय राजा की मुखमुद्रा को देखकर महामात्य चिन्ता के महा-सागर मे डूब गया। वह जानता था राजा के प्रकोप की परिणति कितनी भयकर होती है। समग्रता से अपने परिवार के भावी विनाश का भीषण रूप उसकी आखो मे तैरने लगा। अपकीर्ति मे बचने के लिए और परिवार को विनाशलीला से बचा लेने के लिए अपने प्राणोत्सर्ग के अतिरिक्त कोई मार्ग अमात्य की कल्प-नाओ मे नही था। उसने अपने घर आकर श्रीयक से कहा—"पुत्र! अपने परि-वार के लिए किसी पिशुन के प्रयत्न ने सकट की घडी उपस्थित कर दी है। हम सबको मौत के घाट उतार देने का राजकीय आदेश किसी क्षण प्राप्त हो सकता है। परिवार की सुरक्षा और यश को निष्कलक रखने के लिए मेरे जीवन का बलिदान आवश्यक है। यह कार्य पुत्र, तुम्हे करना होगा। अत मैं जिस समय राजा के चरणो मे नमस्कार हेतु झुकू उस समय निश्शक होकर अगज! तीव्र असिधारा से मेरा प्राणान्त कर देना। इस समय प्राणो का व्यामोह अदूरदर्शिता का परिणाम होगा।"

पिता की बात सुनकर श्रीयक स्तब्ध रह गया। दो क्षण रुककर बोला—"तात! पितृ-हत्या का यह जघन्य कार्य मेरे द्वारा कैसे सम्भव हो सकता है?"

सयडालेण भणिय, तालउडे भक्खियमि मयि पुव्व।
निवपायपडणकाले, मरिज्जसु त गया सको॥३८॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २३६)

पुत्र की दुर्बलता का समाधान करते हुए शकटाल ने कहा—"वत्स! मैं नमन करते समय मुख मे तालपुट विष स्थापित कर लूगा अत तुम पितृहत्या दोष के

भागीदार नही बनोगे ।"

राजभय से आतंकित पिता के सामने श्रीयक को यह कठोर आदेश अन्य-मनस्क भाव से भी स्वीकार करना पडा।

पिता-पुत्र दोनो राजसभा मे उपस्थित हुए। राजनीति-कुशल शकटाल नत-मस्तक मुद्रा मे राजा नन्द को प्रणाम करने झुका। बुद्धिमान श्रीयक ने पिता के नमन करने योग्य शीर्ष को शस्त्र-प्रहार द्वारा धड से अलग कर दिया।

इस घटना ने एक ही क्षण मे राजा नन्द के विचारो मे उथल पुथल मचा दी। श्रीयक की ओर रक्ताभ नयनो से झाकते हुए राजा नन्द ने कहा—"वत्स ! यह क्या किया ?" श्रीयक निर्भीक स्वरो मे बोला

जो तुम्ह पडिकूलो, तेण पिउणा वि नत्थि मे कज्ज ॥४३॥

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृष्ठ २३६)

—राजन् ! आपकी दृष्टि मे जो राजद्रोही सिद्ध हो जाता है वह भले पिता ही क्यो न हो नन्द का अमात्य परिवार उसे सहन नही कर सकता।

श्रीयक की राज परिवार के प्रति यह आस्था देखकर राजा नन्द के सामने महामात्य शकटाल की अटूट राजभक्ति का चित्र उभर आया। राज्य की सुरक्षा मे की गई उसकी सेवाए मस्तिष्क मे सजीव होकर तैरने लगी। अतीत को वर्तमान मे परिवर्तित नही किया जा सकता। सुदक्ष अमात्य को खो दिया इससे राजा का मन भारी था। अमात्य ने प्राणो का उत्सर्ग कर अपने यश को शिखर पर चढा दिया। महामात्य शकटाल का राजसम्मान के साथ दाहसस्कार हुआ।

महामन्त्री शकटाल की और्ध्व दैहिक क्रिया सम्पन्न करने के बाद नरेश्वर नन्द ने श्रीयक से कहा—'वत्स ! सर्व व्यापार सहित मन्त्री मुद्रा को ग्रहण करो।"

श्रीयक नम्र होकर बोला— "मगधेश ! मेरे पितृ तुल्य ज्येष्ठ भ्राता स्थूल-भद्र कोशा गणिका के यहा निर्विघ्न निवास कर रहे है। भोगो को भोगते हुए उन्हे वहा बारह वर्ष व्यतीत हो चुके है।' वे वास्तव मे ही इस पद के योग्य है।"

राजा नन्द का निमन्त्रण स्थूलभद्र के पास पहुचा। राजाज्ञा प्राप्त स्थूलभद्र ने बारह वर्ष बाद पहली बार कोशा के प्रासाद से बाहर पैर रखा। वे मस्त चाल से चलते हुए राजानन्द के सामने उपस्थित हुए। उनका तेजोद्दीप्त भाल सूर्य के प्रकाश को भी प्रतिहत कर रहा था। उनकी मनोरम मुद्रा सबकी दृष्टि को अपनी ओर खीच रही थी। राजा नन्द के द्वारा महामात्य पद को अलकृत करने का उन्हे निर्देश मिला। गौरवपूर्ण यह पद काटो का मुकुट होता है। विवेकसपन्न स्थूलभद्र ने साम्राज्य के व्यामोह मे विमूढ होकर बिना सोचे-समझे इस पद के दायित्व को स्वीकृत कर लेने की, भूल नही की। वे राजा द्वारा प्राप्त निर्देश पर विचार-विमर्श करने के लिए अशोक वाटिका मे चले गए। वृक्ष के नीचे बैठकर चिन्तन के महासागर मे गहरी डुबकिया लेने लगे, सोचा—'उच्च से उच्च पद

पर प्रतिष्ठित एव राज्य का स्वय सचालन करता हुआ भी राजपुरुष राजा के द्वारा अनुशासित होता है। परानुशासित व्यक्ति को सुखानुभूति कहा है ? सर्वतो भावेन राज्य मे समर्पित होने पर भी छिद्रान्वेषी पिशुन लोग उसके मार्ग मे उपद्रव प्रस्तुत करने को तत्पर रहते हैं।"[१]

आचार्य स्थूलभद्र की आखो के सामने अतीत का चित्र घूमने लगा। श्रीयक के विवाहोत्सव-प्रसग मे राजा नन्द के सम्मान हेतु निर्मित राजमुकुट, छत्र, चामर, विविध शस्त्र आदि की सूचना पाकर दम्भी वररुचि के द्वारा रचा गया षड्यन्त्र नन्द के हृदय मे महामन्त्री शकटाल पर राज्य को छीन लेने का सदेह, राजा के भ्रूविक्षेप मे झाकता समग्र मत्री परिवार को भी लील लेने वाला विनाशकारी रूप, लघु भ्राता श्रीयक द्वारा राजा नन्द के सामने उनके विश्वासी मन्त्री की हत्या आदि विविध प्रसगो की स्मृति मात्र से स्थूलभद्र काप गए। वे परम विरक्ति को प्राप्त हुए। और सयम-पथ अगीकार करने का निर्णय लेकर लुचित मस्तक साधु-मुद्रा मे स्थूलभद्र राजा नन्द की सभा मे पहुचे। स्थूलभद्र के विचारो को समझकर जनता अवाक् रह गयी। श्रीयक ने भी निर्णय को बदल लेने के लिए उनसे अनुरोध किया पर स्थूलभद्र अपने सकल्प मे दृढ थे। वे धीर-गम्भीर मुद्रा मे बन्धु परिजनो के मोह मे विमुख वन अज्ञात दिशा की ओर बढ चले। कही हमे धोखा देकर गणिका कोशा के भवन मे पुन. नही पहुच रहा है, यह सोच मगध नरेश प्रासाद-गवाक्ष से आर्य स्थूलभद्र के बढते चरणो पर दृष्टि टिकाए रहे। वृक्षो की कतारो के बीच से निर्जन वन की ओर आर्य स्थूलभद्र के गमन को देखकर उन्हें अपने अन्यथा चिन्तन के प्रति अनुताप हुआ। नागरिक जनो को कई दिनो तक स्थूलभद्र की स्मृति सताती रही।

अमात्य पद का दायित्व श्रीयक के कन्धो पर आया। मगध नरेश जो सम्मान महान् अनुभवी, राजनीतिकुशल, अनन्त विश्वासपात्र, राजभक्त, प्रजावत्सल अमात्य शकटाल को प्रदान करता था वही सम्मान श्रीयक को देने लगा।

महामात्य पद के लिए श्रीयक जैसे समर्थ व्यक्ति की उपलब्धि से राज्य मे पुन चार चाद लग गए थे पर महामात्य शकटाल के अभाव मे राजा नन्द के हृदय मे महान् दु ख था। शोकसतप्त मुद्रा मे एक दिन मगध नरेश ने श्रीयक के सामने सभा मे मत्री के गुणो का स्मरण करते हुए कहा

भक्तिमाञ्शक्तिमान्नित्य शकटालो महामति
अभवन्मे महामात्य शक्रस्येव बृहस्पति ॥९८॥
एवमेव विपन्नोऽसौ दैवादद्य करोमि किम्।
मन्ये शून्यमिवास्थानमह तेन विनात्मन ॥९९॥

(परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८)

—भक्तिमान, शक्तिमान, महामति, महामात्य शकटाल शक्र के सामने बृहस्पति

चिन्तन मे लीन थे। कोशा ने स्थूलभद्र की ओर झाका। उनकी शान्त-सौम्य मुद्रा को देखते ही कोशा के वासना का ज्वर उतर गया। दैहिक आकर्षण मिट गया। मानसिक द्वन्द्व क्षीण हो गया।

स्थूलभद्र ने नयन खोले। उपदेश दिया। कोशा सुदृढ श्राविका बन गयी। पावस बीता। स्थूलभद्र कसौटी पर खरे उतरे। नवनीत आग पर चढकर भी नही पिघला। काजल की कोठरी मे जाकर भी वे बेदाग रहे। वे आचार्य सभूतविजय के पास लौट आए।

आचार्य सात-आठ पैर स्थूलभद्र के सामने चलकर आये। 'दुष्कर-महादुष्कर क्रिया के साधक' का सम्बोधन देकर कामविजेता स्थूलभद्र का सम्मान किया।[७]

आचार्य सम्भूतविजय के बाद उस युग का महत्त्वपूर्ण कार्य आगम-वाचना का था। द्वादश-वर्षीय दुष्काल के कारण श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो रही थी। उसे सकलित करने के लिए पाटलिपुत्र मे महाश्रमण-सम्मेलन हुआ। इस आयोजन के व्यवस्थापक स्थूलभद्र स्वय थे। ग्यारह अगो का सम्यक् सकलन हुआ। 'दृष्टि-वाद की अनुपलब्धि ने सबको चिंतित कर दिया। आचार्य स्थूलभद्र मे असाधारण क्षमता थी। ज्ञानसागर की इस महान् क्षतिपूर्ति के लिए सघ के निर्णयानुसार वे नेपाल मे भद्रबाहु के पास विद्यार्थी बनकर रहे एव उनसे समग्र चतुर्दश पूर्व की ज्ञानराशि को अत्यन्त धैर्य के साथ ग्रहण कर उन्होने श्रुत सागर मे टूटती दृष्टिवाद की सुविशाल धारा को सरक्षण दिया। अर्थ-वाचना दस पूर्व तक ही वे उनसे ले पाए थे। अन्तिम चार पूर्व की उन्हे पाठ-वाचना मिली। वीर निर्वाण के १६० वर्ष के आसपास सम्पन्न यह सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण वाचना थी।

भद्रबाहु के बाद वी०नि० १७० (वि०पू० ३००) मे स्थूलभद्र ने आचार्य पद का नेतृत्व सम्भाला था। उनसे विविध रूपो मे जैन शासन की प्रभावना हुई थी।

महाकरुणा के स्रोत, पतितोद्धारक, परोपकार-परायण आर्य स्थूलभद्र का पदार्पण एक बार श्रावस्ती नगरी मे हुआ। इसी नगरी मे उनका बालसखा घनिष्ठ मित्र धनदेव श्रेष्ठी सपरिवार निवास करता था। जन-जन हितैषी आर्य स्थूलभद्र का प्रवचन सुनने विशाल सख्या मे मानव समुदाय उपस्थित था। इस भीड मे बचपन के साथी श्रेष्ठी धनदेव की सौम्य आकृति कही दृष्टिगोचर नही हो रही थी। उसकी अन्यत्र गमन की अथवा रुग्ण हो जाने की परिकल्पना आर्य स्थूलभद्र के मस्तिष्क मे उभरी, उन्होने सोचा—सकट की स्थिति मे श्रेष्ठी धन-देव अवश्य अनुग्रहणीय है। अध्यात्म उद्बोध देने के निमित्त से प्रेरित होकर प्रवचनोपरात आर्य स्थूलभद्र विशाल जनसघ के साथ श्रेष्ठी धनदेव के घर पहुचे। महान आचार्य के पदार्पण से धनदेव की पत्नी परम प्रसन्न हुई। उसने भूतल पर मस्तक टिकाकर वदन किया। महती कृपा कर अध्यात्मानुकपी आर्य स्थूलभद्र मित्र के घर पर बैठे एव मित्र की पत्नी से धनदेव के विषय मे पूछा।

खिन्नमना होकर वह बोली—"आर्य ! दुर्भाग्य से घर की सपत्ति नष्टप्राय हो गयी है। अर्थहीन व्यक्ति ससार मे तृण के समान लघु एव मूल्यहीन होता है। शरीर नही पूजा जाता अर्थ पूजा जाता है। 'विदेशो व्यवसायिनाम्' व्यवसाय के लिए विदेश ही आश्रय है। अर्थाभाव मे अत्यन्त दयनीय स्थिति को प्राप्त पति-देव धनोपार्जन हेतु देशान्तर गए हैं।"

श्रेष्ठी धनदेव के आगन मे स्तम्भ के नीचे विपुलनिधि निहित थी। धनदेव सर्वथा इससे अनजान था। आर्य स्थूलभद्र ने ज्ञानबल से इसे जाना एव मित्र की पत्नी से बात करते समय उनकी दृष्टि उसी स्तम्भ पर केन्द्रित हो गयी थी। हाथ के सकेत भी स्तम्भ की ओर थे। आर्य स्थूलभद्र ने कहा—"बहिन, ससार का स्वरूप विचित्र है। एक दिन धनदेव महान व्यापारी था। आज स्थिति सर्वथा बदल चुकी है। पर चिन्ता मत करना। भौतिक सुख-दु ख चिरस्थायी नही होते।" आर्य स्थूलभद्र के उपदेश-निर्झर के शीतल कणो से मित्रपत्नी के आधि-व्याधि-ताप तप्त अधीर मानस को अनुपम शान्ति प्राप्त हुई।

कुछ दिनो के बाद श्रेष्ठी धनदेव पूर्व जैसी ही दयनीय स्थिति मे घर आया। उसकी पत्नी ने आर्य स्थूलभद्र के पदार्पण से लेकर सारी घटना कह सुनाई। उसने यह भी बताया कि उपदेश देते समय आर्य स्थूलभद्र स्तम्भ के अभिमुख बैठे थे। उनका हस्ताभिनय भी इस स्तम्भ की ओर था।

बुद्धिमान श्रेष्ठी धनदेव ने सोचा—महान् पुरुषो की हर प्रवृत्ति रहस्यमयी होती है। उसने स्तम्भ के नीचे से धरा को खोदा। विपुल सम्पत्ति की प्राप्ति उसे हुई। आर्य स्थूलभद्र इस समय तक पाटलिपुत्र पधार चुके थे। उनके अमित उप-कार से उपकृत धनदेव श्रेष्ठी दर्शनार्थ वहा पहुचा और पावन, पवित्र, अमृतोपम, महान् कल्याणकारी, शिवपथगामी उपदेश सुनकर व्रतधारी श्रावक बना। मित्र को अध्यात्म पथ का पथिक बनाकर आर्य स्थूलभद्र ने जगत् के सामने अनुपम मैत्री का आदर्श उपस्थित किया।

आर्य स्थूलभद्र के जीवन से अनेक प्रेरक घटना-प्रसग जुडे है। एक बार मगधाधिपति नन्द ने रथ-सचालन के कला-कौशल से प्रसन्न होकर सारथि को अनिंद्य सुन्दरी, कला की स्वामिनी, विविध गुणसम्पन्ना मगध गणिका कोशा को उपहार के रूप में घोषित कर दी थी।

कोशा चतुर महिला थी। वह आर्य स्थूलभद्र से श्राविका व्रत ग्रहण कर चुकी थी। अपने प्रण पर दृढ थी। उसकी वाक्पटुता एव व्यवहार-कौशल ने सयम मे अस्थिर कामाभिभूत सिंह-गुफावासी मुनि को भी पुन सयम मे स्थिर कर दिया था। अपने व्रत मे सुस्थिर रहकर उत्तीर्ण होने का यह दूसरा अवसर कोशा के सामने प्रस्तुत हुआ था। कोशा ने राजाज्ञा का चातुर्य से पालन किया। वह रथिक के सामने सीधी-सादी वेश-भूषा मे उपस्थित हुई। उसकी आखो मे न कोई

वासना का ज्वार था न शरीर पर साज सज्जा एवं शृंगार। वह बार-बार आर्य स्थूलभद्र का नाम लेकर कह रही थी—"स्थूलभद्र विना नान्य पुमान् कोपीत्यहनिशम्।" आज दुनिया में आर्य स्थूलभद्र जैसा उत्तम पुरुष कोई नहीं है।

विराग भाव में उपस्थित मगध गणिका को प्रसन्न करने के लिए रथिक ने बाण कौशल से सुदूरवर्ती आम्रफलों के गुच्छ को तोड़कर उसे उपहृत किया। सारथि के इस बाण-कौशल से कोशा को कुछ भी आश्चर्य जैसा नहीं लगा। वह एक अत्यन्त प्रवीण नारी थी। नृत्यकला में उसका चातुर्य अनुपम था। उसने सरसों के ढेर पर सूई की नोक से अनुस्यूत गुलाब की पंखुड़ियों का फैलाकर उस-पर नृत्य किया। अपनी लचीली देह को कोशा ने इस तरह साध लिया था कि उसके पादाग्रन्त के भार से सर्षप राशि का एक भी दाना इधर से उधर नहीं हुआ और न सूई की नोक की झपट ही उसके चरणों को घायल कर सकी। रथिक प्रसन्न होकर बोला—"सुभगे! तुम्हारे इस नृत्य-कौशल पर प्रसन्न होकर मैं तुम्हें कुछ उपहार देना चाहता हूं।" गणिका ने कहा—"रथिक! मेरी दृष्टि में तुम्हारा यह आम्रफल के गुच्छों का उच्छेदन दुष्कर नहीं है और न मेरा यह नृत्य-कौशल ही, पर स्थूलभद्र जैसा ब्रह्मचर्य का उदाहरण प्रस्तुत करना महादुष्कर है। मेरी रागोद्दीपक चित्रशाला में आर्य स्थूलभद्र ने पूरा पावस बिताया। षट्रस-पूर्ण भोजन किया पर काज्जल की कोठरी में रहकर भी आर्य स्थूलभद्र की सफेद चद्दर पर एक भी दाग न लगा। आग पर चढ़कर भी मक्खन न पिघला, ऐसे महापुरुष समग्र विश्व के द्वारा वंदनीय होते हैं।"

रथिक आर्य स्थूलभद्र की महिमा गणिका के द्वारा सुनकर परम प्रसन्नता को प्राप्त हुआ। हृदय में सात्त्विक भावों का उदय हुआ, विरक्ति की धारा बही एवं पाटलिपुत्र में आर्य स्थूलभद्र के पास पहुंचकर रथिक ने दीक्षा ग्रहण कर ली।

स्थूलभद्र के जीवन से पावन प्रेरणा पाकर न जाने कितने व्यक्ति अध्यात्म-मार्ग के पथिक बने थे।

नन्द राज्य के यशस्वी महामात्य शकटाल की नौ सन्तानें जैन शासन में दीक्षित हुई थी—सात पुत्रियां एवं दो पुत्र। इनमें आर्य स्थूलभद्र ही सबसे ज्येष्ठ थे। शकटाल परिवार में सर्वप्रथम दीक्षा संस्कार भी उनका ही हुआ था। आचार्य पद के महिमामय दायित्व को भी आर्य स्थूलभद्र ने अत्यन्त दक्षता के साथ वहन किया। श्रमण संघ में आर्य महागिरि एवं सुहस्ती जैसे प्रभावी आचार्य उनके प्रमुख शिष्य थे।[1]

आर्य स्थूलभद्र बहुत दीर्घजीवी आचार्य थे। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का अभ्युदय, मौर्य साम्राज्य की स्थापना उनके शासनकाल में हुई। महामेधावी चाणक्य को 'आचार्य स्थूलभद्र के चरणों की उपासना का अवसर मिला। नन्द-साम्राज्य के पतन की दर्दनाक घटना भी इसी युग का मर्मान्तिक इतिहास है। तीसरे

अव्यक्तवादी निह्नव का समय भी यही है। स्थूलभद्र के जीवन का लगभग एक शतक आरोह और अवरोह से भरा ऐतिहासिक दृष्टि से शानदार पृष्ठ है। वैभारगिरि पर्वत पर पन्द्रह दिन के अनशन के साथ वी० नि० २१५ (वि० पू० २५५) मे उनका स्वर्गवास हुआ।

आधार-स्थल

१ पाडलिपुत्तपुरम्मि रन्नो, नदस्स विस्सुयजसस्स।
निवरज्जकज्जसज्जो, सयडालो आसि मतिवरो ॥१॥

(उपदेशमाला, पत्नाक २३४)

२ पुत्तो य थूलभद्दो, पढमो से बीयओ तहा सिरियो।
रुववईओ धूयाओ, सत्त जक्खा पमुक्खाओ ॥२॥
जक्खा य जक्खदिन्ना, भूया तह भूयदिन्निया नाम।
सेणा वेणा रेणा, ताओ एयाओ अणुकमसो ॥३॥

(उपदेशमाला, पत्न २३४)

३ इगदुगतिगाइ परिवाडिपायडताणमावडइ कमसो।
सक्कय सिलोगगाहा, सयाइ मेहापहाणाण ॥४॥

(उपदेशमाला पत्न, २३४)

४ पुरेऽभूत्तत्र कोशेति वेश्या रूपश्रियोर्वशी।
वशीकृतजगच्चेताश्चेतो भूजीवनौपधि ॥८॥

(परि० पर्व, सर्ग ८)

५ तेण भणिय भाया, जेट्ठो मे थूलभद्दनामोत्ति।
बारसम से वरिस, वेसाए गिहे वसतस्स ॥४॥

(उपदेशमाला, विशेप वृत्ति, पत्नाक २३६)

६ त्यक्त्वा सर्वमपि स्वार्थं राजार्थं कुर्वतामपि।
उपद्रवन्ति पिशुना उद्‌द्रानामिव द्विका ॥७४॥

(परि० पर्व, सर्ग ८)

७ स्थूलभद्रमथायान्तमभ्युत्थायाब्रवीद् गुरु।
दुष्करदुष्करकारिन्महात्मन् स्वागत तव॥१३६॥

(परि० पर्व, सर्ग ९)

८ अह बारसवारिसिओ, जाओ कूरो कयाइ दुक्कालो।
सव्वो साहुसमूहो, तओ गओ कत्थई कोई ॥२२॥
तदुवरमे सो पुण रवि, पाडिले पुत्ते समागओ विहिया।
सघेण सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थित्ति ॥२३॥

च अत्त जाति पावे उद्दे‍ज्झयणाइ त सव्व ।
सपडिय एलारसगाइ तहेव ठवियाइ ।।२४।।

(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २४१)

९ सोऽपंहीन पुरेऽप्यामूलमपूरेव सूणादपि ।
वर्षा तथैव धूयन्ते न शरीराणि देहिनाम् ।।१७।।

(परि० पर्व, सर्ग १०)

१० थूलभद्दस्स दुप्पहाणा दो सीसा—अज्ज महागिरि य अज्ज सुहत्थी य ।।

(सभाष्य निशीथचूर्णि, पत्रांक ३६१)

९. सद्गुण-रत्न-महोदधि आचार्य आर्य महागिरि

आर्य महागिरि मेधावी आचार्य थे। वे जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले विशिष्ट साधक थे। उनका जन्म एलापत्य गोत्र मे वी० नि० १४५ (वि० पू० ३२५) मे हुआ। तीस वर्ष की अवस्था मे उन्होने भागवती दीक्षा ग्रहण की। उनके गृहस्थ जीवन-सम्बन्धी सामग्री नही के बरावर उपलब्ध है।

आर्य महागिरि एव उनके उत्तराधिकारी आर्य सुहस्ती, दोनो का लालन-पालन आर्या यक्षा द्वारा होने के कारण उनके नाम के साथ आर्य विशेषण जुडा।[1] लोकश्रुति के अनुसार आर्य शब्द की परम्परा यही से प्रारम्भ हुई थी। दीक्षा-जीवन स्वीकार कर लेने के बाद अतुल मेधा के धनी आर्य महागिरि ने महा मनीषी आचार्य स्थूलभद्र के उपपात मे दशपूर्वो का ज्ञान अर्जन किया एव अनेक योग्यताओ को सजोया।

आर्य महागिरि एव सुहस्ती आचार्य स्थूलभद्र से दीक्षित शिष्य थे। जीवन के सन्ध्या काल मे आचार्य स्थूलभद्र ने अपने स्थान पर शान्त, दान्त, लब्धिसम्पन्न, आगमविज्ञ, आयुष्मान्, भक्तिपरायण आर्य महागिरि एव सुहस्ती इन दोनो शिष्यो की नियुक्ति की।[2] इसका कारण उभय शिष्यो का प्रभावशाली व्यक्तित्व ही हो सकता है।

उस समय एकतन्त्रीय शासन की परम्परा सवल थी। उभय शिष्यो की नियुक्ति एकसाथ होने पर भी कार्यभार सचालन की दृष्टि से एक-दूसरे का हस्तक्षेप नही था। दीक्षा क्रम मे ज्येष्ठ शिष्य ही आचार्य पद के दायित्व को निभाते थे। आचार्य यशोभद्र एव स्थूलभद्र के द्वारा आचार्य पद के लिए दो-दो शिष्यो की नियुक्ति एकसाथ होने पर भी यशस्वी आचार्य यशोभद्र के बाद उनके दायित्व को दीक्षा क्रम मे ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य सभूतविजय ने एव आचार्य स्थूलभद्र के बाद उनका दायित्व आचार्य महागिरि ने सभाला था।

श्रुत सागर आचार्य भद्रवाहु अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता आचार्य सभूतविजय के अनुशासन को एव आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि के अनुशासन को सुविनीत शिष्य की भाति पालन करते रहे थे।

निशीथ चूर्णिकार के अभिमत से आचार्य स्थूलभद्र के बाद आचार्य पद का

गरिमामय दायित्व आचार्य सुहस्ती के कन्धो पर आया था, पर प्रीतिवश आर्य महागिरि एव आर्य सुहस्ती दोनो एकसाथ विहरण करते थे।[३]

आर्य महागिरि महान् योग्य आचार्य थे। उन्होने अनेक मुनियो को आगम-वाचना प्रदान की।[४] आचार्य सुहस्ती जैसे महान् प्रभावक आचार्य भी उनके विद्यार्थी शिष्य समूह मे एक थे।

उग्र तपस्वी आर्य महागिरि के महान् उपकार के प्रति आर्य सुहस्ती आजीवन कृतज्ञ रहे एव उनको गुरु तुल्य सम्मान प्रदान किया था।

गुरुगच्छ धुरा धारण धौरेय, धीर, गम्भीर आर्य महागिरि ने एक दिन सोचा, गुरुतर आत्म विशुद्धि कारक जिनकल्प तप वर्तमान मे उच्छिन्न है, पर तत्सम तप भी पूर्व सचित कर्मो का विनाश कर सकता है।[५] मेरे स्थिरमति अनेक शिष्य सूत्रार्थ के ज्ञाता हो चुके हैं। मैं अपने इस दायित्व से कृतकृत्य हू। गच्छ की प्रतिपालना करने मे सुहस्ती सुदक्ष है। गण-चिन्ता से मुझे मुक्त करने मे वह समर्थ है।[६] अत. इस गुरुतर दायित्व से निवृत्त एव गण से सम्बन्धित रहते हुए आत्महितार्थ विशिष्ट तप मे स्व को नियोजित कर मैं महान् फल का भागी वनू यह मेरे लिए कल्याणकारक मार्ग है।

महा सकल्पी अन्तर्मुखी आचार्य महागिरि की चिन्तनधारा दृढ निश्चय मे वदली। सघ-सचालन का भार आर्य सुहस्ती को सभलाकर वे जिनकल्प तुल्य साधना मे प्रवृत्त हुए। भयावह उपसर्गों मे निष्प्रकम्प, नगर, ग्राम, आराम आदि के प्रतिवन्ध से मुक्त वने एव श्मशान भूमिकाओ मे गण निश्रित विहरण करने लगे।[७]

भिक्षाचरी मे आर्य महागिरि विशेप अभिग्रही थे। वे प्रक्षेप योग्य भोजन ही ग्रहण करते थे।

पाटलिपुत्र की घटना है—आर्य महागिरि वसुभूति श्रेष्ठी के घर आहारार्थ गए। वहा आर्य सुहस्ती पहले से ही विद्यमान थे। श्रेष्ठी वसुभूति की विशेप प्रार्थना से वे उनके परिवार को जैन धर्म का वोध देने आए थे। सपरिवार वसुभूति आचार्य सुहस्ती के पावन चरणो मे वैठकर प्रवचन सुन रहा था। आर्य महागिरि के आगमन पर आर्य सुहस्ती ने उठकर वदन किया। आर्य महागिरि के प्रति आर्य सुहस्ती का यह सम्मान-भाव देखकर श्रेष्ठी वसुभूति के हृदय मे आश्चर्य मिश्रित जिज्ञासा जगी। आचार्य महागिरि के लौट जाने के वाद श्रमणोपासक श्रेष्ठी वसुभूति ने आर्य सुहस्ती से पूछा—"भगवन्! आप श्रुतसम्पन्न महाप्रभावी आचार्य हैं। आपके भी कोई गुरु है?"[८] निगर्वी भाव से सुहस्ती ने उत्तर दिया—'ममैते गुरुव" ये मेरे गुरु है। महान् साधक, विशिष्ट तपस्वी एव दृढ अभिग्रही हैं। अन्त, प्रान्त, नीरस, प्रक्षेप योग्य भिक्षा को ग्रहण करते है। प्रतिज्ञानुसार भोजन न मिलने पर तपकर्म मे प्रवृत्त हो जाते है।"

आर्य सुहस्ती से महातपस्वी आर्य महागिरि का परिचय पाकर श्रेष्ठी वसुभूति अत्यन्त प्रभावित हुआ। आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी परिवार को उद्‌बोधन देकर स्वस्थान पर लौट आए।

आर्य महागिरि को लक्षित कर अपने पारिवारिक जनो को निर्देश देते हुए श्रेष्ठी वसुभूति ने कहा—"अपने घर पर जब कभी ऐसा महा-अभिग्रही साधक, तपस्वी मुनि का पदार्पण हो, उन्हे भोजन को प्रक्षेप योग्य कहकर प्रदान करे। ऊर्वर धरा मे समय पर उप्त स्वल्प वीजो की परिणति वहुत विस्तारक होती है। इसी भाति सयति दान महान फलदायक है।" इससे यश का सचय होता है एव कल्मष भी दूर हो जाता है।

आर्य महागिरि दूसरे दिन भिक्षाचरी करते हुए सयोगवश श्रेष्ठी वसुभूति के घर पहुचे। दान देने मे उद्यत उन लोगो ने मोदक सभृत हाथो को पुरस्सर कर भक्ति भावित हृदय से प्रार्थना की—"मुने! ये मोदक हमारे द्वारा परित्यक्त भोजन है। हम प्रतिदिन क्षीर के साथ इनको खाते है। अत्यधिक सरस घृत-शक्कर परिपूरित भोजन ग्रहण कर लेने के वाद आज इन मोदको से हमे कोई प्रयोजन नही है।"[१०]

आर्य महागिरि अपनी प्रवृत्ति मे पूर्ण सजग थे एव अभिग्रह के प्रति सुदृढ थे। श्रेष्ठी वसुभूति के पारिवारिक सदस्यो की मर्यादातिक्रान्त भक्ति एव अपूर्व चेष्टाए देखकर उन्होने विशेष उपयोग लगाया एव प्रदीयमान भोजन-सामग्री को अशुद्ध, अकल्पनीय एव अनेपणीय समझकर उसे ग्रहण नही किया। अनाचरणीय मार्ग का अनुगमन करने से निस्तार नही होगा—यह सोच आत्म-गवेपक मुनि महागिरि विना भोजन ग्रहण किए वन की ओर चले गए।"[११]

आर्य सुहस्ती से आर्य महागिरि जव मिले तव उन्होने वसुभूति के घर पर घटित घटना से उन्हे अवगत कराते हुए कहा—"सुहस्ती! तुमने श्रेष्ठी वसुभूति के सम्मुख मेरा सम्मान कर मेरे लिए अनेषणीय स्थिति उत्पन्न कर दी है।"[१२]

क्षमाधर आर्य सुहस्ती ने आचार्य महागिरि के चरणो मे नत होकर क्षमा-प्रार्थना की और वोले—"इस भूल का आगे के लिए पुनरावर्तन नही होगा।"

यह घटना आर्य महागिरि एव सुहस्ती के गुरु-शिष्य-सम्वन्ध पर प्रकाश डालने के साथ अभिग्रहधारी श्रमणो की विशुद्धतम कठोर आचार-साधना, गुरु के कटु उपालम्भ के प्रति भी शिष्य का विनम्र भाव, श्रावक समाज की मुनि जनो के प्रति आस्था एव उदग्र भक्ति तथा गृहस्थ समाज को वोध देने हेतु उनके घर पर वैठकर उपदेश देने की पद्धति आदि कई तथ्यो को अनावृत करती है।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे आर्य महागिरि के विशाल शिष्य परिवार मे से आठ प्रमुख शिष्यो का उल्लेख हुआ है। उनके नाम इस प्रकार हैं " (१) उत्तर, (२) वलिस्सह, (३) धनाढ्य, (४) श्री आढ्य, (५) कौण्डिन्य, (६) नाग, (७) नागमित्र, (८) रोहगुप्त। इन शिष्यो मे उत्तर और वलिस्सह प्रभावक शिष्य थे। उनसे चार शाखाए निकली। (१) कौशम्बिका, (२) शुक्तिमतिका, (३) कोटाम्बानी और (४) चन्द्रनागरी।

स्थानागसूत्र मे नौ गणो का उल्लेख है।" उनमे उत्तर बलिस्सह गण की स्थापना उत्तर वलिस्सह के नाम पर है। आर्य महागिरि के आठवे शिष्य रोहगुप्त ने त्रैराशिक मत प्रकट हुआ।" षडुलूक रोहगुप्त का निह्नव परम्परा मे छठा क्रम है।

तेजोद्दीप्त भाल आचार्य स्थूलभद्र की भाति मेधासम्पन्न आचार्य महागिरि भी दीर्घजीवी थे। तीस वर्ष तक वे गृहस्थ मे रहे। सामान्य मुनि-पर्याय का उनका काल ४० वर्ष का एव युगप्रधान आचार्य पद का काल ३० वर्ष का था।"

उन्होने युग का एक पूरा शतक अपनी आखो से देखा। मालव प्रदेश के गजेन्द्रपुर मे वे वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मे स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१ तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ।
इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरिसुहस्तिनौ ॥३७॥

२ शान्तौ दान्तौ लब्धिमन्तावधीता-वायुष्मन्तौ वाग्मिनौ दृष्टभक्ती।
आचार्यत्वे न्यस्यतो स्थूलभद्र काल कृत्वा देवभूय प्रपेदे

३ थूलभद्दसामिणा अज्जसुहत्थिस्स नियओ गणो दि
अज्जमहागिरी अज्ज सुहत्थिस्स पीतिवसेण ...
(...

४ कालक्रमेण भगवाञ्जगद्‌बन्धुर्महागिरि।
शिष्यान्निष्पादयामास वाचनाभिरनेकश

५ गुरुगच्छ ...
चिरकाले ...

गुरुतर निज्जरकारी, न सपय जइवि अत्थि जिणकप्पो ।'
मह तह वि तदब्भासो पणासए पुव्व पावाइ ॥३॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३६९)

६ विहिया सुयत्थपरमत्थवित्थरे थिरमई मए सीसा ।
मह गच्छसारणाईविसारओ अत्थि य सुहत्थी ॥४॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३६९)

७ इय चिंतिऊण परिवज्जिऊण, गणगच्छ पालणुच्छाह ।
विहरेइ तस्स निस्साए, सायर वण-मसाणेसु ॥६॥
पुरनगरगाम आराम-आसमाई सुमुक्क पडिवधो ।
उवसग्गवग्गससग्ग—निप्पकपो अपको य ॥७॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३६९)

८ मह एगया सुहत्थी, कहेइ सकुडुवसेट्ठिणो धम्म ।
गेहगणमि पत्तो, महागिरी विहरमाणो तो ॥१२॥
सहसा सुहत्थिणा सो, दट्ठु अब्भुट्ठिओ सवहुमाण ।
पणमिय पुच्छइ सेट्ठी, भते ! तुम्हवि किमत्थि गुरु ॥१३॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३७०)

९ घरजणमेव जइ एइ, एरिसो महासाहू ।
तो पडिलामेयव्वो, उज्झियं भिक्खाछल काउ ॥१७॥
सुपवित्तपत्तखेत्तम्मि, खित्तमप्पपि वीयमिव समए ।
अइवहुफारफलेहिं, फलेइ ता देयमेयस्स ॥१८॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३७०)

१० मह जे दिन्ना मइाए, लड्डुआ छड्डिया मया तेऽमी ।
परिवज्जियाइ खज्जाइ, अज्ज कज्ज न एएहिं ॥२१॥
पइदिवस खीरिए खज्जतीए इमाए खद्धामि ।
अलमत्थु मज्झ घयखडपुन्नघयपुन्नपत्तेण ॥२२॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३७०)

११ इय पेक्खतोऽपुव्व, सव्व चेट्ठ स चिंतइ किमेय ।
उवओग दव्वाइसु, दितो जाणेइ जमसुद्ध ॥२३॥
अहमिह नाओ नूण, अनायचरिया तओ न नित्थरिया ।
इय स नियत्तो तत्तो, पत्तो य वणे अमत्तट्ठी ॥२४॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३७०)

१२ अब्भुट्ठाण वहुमाणमायर तारिस कुणतेण ।
तइ तइया विहियाणे सणाहि तब्भत्तिजणणाओ ॥२६॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक ३७०)

१३ थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावच्छसगोत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अतेवासी तजहा-थेरे उत्तरे, थेरे वलिस्सहे, थेरे धणड्ढे, थेरे सिरिड्ढे, थेरे कोडिन्ने, थेरे नागे, थेरे नागमित्ते, थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसिस गुत्तेण ।
(कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०९) स० पुण्यविजयजी

१४ गोदासगणे, उत्तरवलिस्सहगणे, उद्देहगणे चारणगणे, उद्दवाइयगणे, विस्सवाइयगणे,

कामड्ढियगणे माणवगणे, कोडियगणे ।

(ठाण ९।२९)

१५ रोहगुत्तेहिंतो, कोसियगुत्तेहिंतो तत्थण तेरासिया निग्गया ।

(कल्पसूत्र स्थवि०, सूत्र २०६)

१६ तत्पट्टे श्री आर्यमहागिरि-आर्य सुहस्तिनामानो उभौ अष्टम पट्टधरौ जातौ । तत्र प्रथमस्य त्रिंशद्वर्षाणि गृहे चत्वारिंशद्‌व्रते त्रिंशत् युगप्रधानत्वे, सर्वायु शतवर्षाणि ।

(पट्टावली-समुच्चय, श्री गुरुपट्टावली, पृ० १६५)

१०. सद्धर्म-धुरीण आचार्य सुहस्ती

सम्राट् सम्प्रति के प्रतिवोधक आचार्य सुहस्ती वासिष्ठ गोत्री थे। वे विविध अध्यात्म-आयामो के उद्‌घाटक थे। उनका जन्म वी० नि० १६१ (वि० पू० २७९) मे हुआ। आचार्य महागिरि की भाति ३० वर्ष की अवस्था मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की। उनके दीक्षागुरु तपोधन आचार्य स्थूलभद्र थे। आर्य सुहस्ती को आचार्य स्थूलभद्र के उपपात मे रहकर अध्ययन करने का अधिक अवकाश न मिल सका था। आचार्य सुहस्ती की दीक्षा के स्वल्प समय के वाद ही आचार्य स्थूलभद्र का स्वर्गवास हो गया था।

आर्य सुहस्ती के शिक्षागुरु आर्य महागिरि थे। उनसे आगमो एव पूर्वों का गम्भीर अध्ययन उन्होने किया। दस पूर्वधारी आचार्यों की परम्परा मे आर्य महागिरि प्रथम श्रुतकेवली एव आर्य सुहस्ती द्वितीय श्रुतकेवली हैं। आचार्य पद का दायित्व उन्होने वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मे सम्भाला था।

जैन धर्म को विस्तार देने मे आर्य सुहस्ती का विशिष्ट अनुदान है। सम्राट् सम्प्रति उनके धर्मप्रचार के महान् सहयोगी थे। आचार्य सुहस्ती को सम्राट् सम्प्रति का योग मिला, उसके पीछे महत्त्वपूर्ण इतिहास है।

आचार्य महागिरि के साथ एक बार आचार्य सुहस्ती का पदार्पण कौसाम्वी मे हुआ। स्थान की सकीर्णता के कारण दोनो आचार्यों का शिष्य परिवार भिन्न-भिन्न स्थानो पर रुका। कौसाम्बी मे उस समय भयकर दुष्काल चल रहा था। जनता भीषण काल के प्रकोप से पीडित थी। साधारण मनुष्य के लिए पेट-भर भोजन की बात कठिन हो गयी थी।

श्रमणो के प्रति अत्यधिक भक्ति के कारण भक्त लोग उन्हे पर्याप्त भोजन प्रदान करते थे। एक दिन आचार्य सुहस्ती के शिष्य आहारार्थ श्रेष्ठी-गृह मे गए। उनके पीछे एक रक भी चला गया। उसने श्रमणो के पात्र मे श्रेष्ठी के द्वारा प्रदीयमान स्वादिष्ट भोजन सामग्री को देखा। पर्याप्त आहारोपलब्धि के वाद साधु उपाश्रय की ओर लौट रहे थे। वह रक भी उनके साथ-साथ चल रहा था। उसने श्रमणो से भोजन मागा। श्रमण बोले—"गुरु-आदेश के बिना हम कोई भी कार्य नही कर सकते।"

रक धर्मस्थान तक श्रमणो के पीछे-पीछे चला आया। आचार्य सुहस्ती से श्रमणो ने रक की ओर सकेत करते हुए कहा—"आर्य ! यह दीन मूर्ति रक हमारे से भोजन की याचना कर रहा है।"

आर्य सुहस्ती ने गम्भीर दृष्टि से उसको देखा और ज्ञानोपयोग से जाना—

भावी प्रवचनाधारो यद् रकोऽय भवान्तरे ॥४८॥

—परि० पर्व, सर्ग ११

यह रक भवान्तर मे प्रवचनाधार बनेगा। इसके निमित्त से जैन शासन की अतिशय प्रभावना होगी।

अध्यात्म-स्रोत, अकारण कारुणिक आर्य सुहस्ती ने मधुर स्वर मे सम्मुख उपस्थित दयापात्र रक को सम्बोधित करते हुए कहा—"मुनि-जीवन स्वीकार करने पर तुम्हे हम भोजन दे सकते है। गृहस्थ को भोजन देना साध्वाचार की मर्यादा से सविहित नही है।"

रक को अन्नाभाव के कारण मृत्यु का आलिगन करने की अपेक्षा इस कठोर सयम-चर्या का मार्ग सुगम लगा। वह मुनि बनने के लिए तत्काल सहमत हो गया।

परोपकार-परायण आर्य सुहस्ती ने महान् लाभ समझकर उसे दीक्षा प्रदान की। कई दिनो के बाद क्षुधाक्रात रक को प्रथम बार पर्याप्त भोजन मिल पाया था। आहार-मर्यादा का विवेक न रहा। मात्रातिक्रान्त भोजन उदर मे पहुच जाने से श्वासनलिका मे श्वासवायु का सचार कठिन हो गया। दीक्षा दिन की प्रथम रात्रि मे ही वह समता भाव की आराधना करता हुआ कालधर्म को प्राप्त हुआ और अवन्ति नरेश अशोक का प्रपौत्र व कुणालपुत्र सम्प्रति के रूप मे जन्मा। अव्यक्त सामायिक की साधना के फलस्वरूप भवान्तर मे उसे महान् साम्राज्य की प्राप्ति हुई।[1]

राजकुमार सप्रति एक दिन राजप्रासाद के वातायन मे बैठा था। उसने श्रमणवृन्द से परिवृत आचार्य सुहस्ती को राजपथ पर चलते हुए देखा। पूर्व भव की स्मृति उभर आयी। आर्य सुहस्ती की आकृति उसे परिचित-सी लगी। ध्यान विशेषरूप से केन्द्रित होते ही जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हुआ। सम्प्रति ने पूर्व भव को जाना एव प्रासाद से नीचे उतरकर आर्य सुहस्ती को वन्दन किया और विनम्र मुद्रा मे पूछा—"आप मुझे पहचानते है ?" परमज्ञानी आर्य सुहस्ती ने दत्तचित्त होकर चिन्तन किया एव ज्ञानोपयोग से राजकुमार सम्प्रति के पूर्वभव का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर उसे विस्तारपूर्वक राजकुमार के सामने प्रस्तुत किया।[2]

सम्प्रति ने प्रणत होकर निवेदन किया—"भगवन् ! उस द्रमुक के भव मे आप मुझे प्रव्रजित नही करते तो जिनधर्म की प्राप्ति के अभाव मे आज मेरी क्या

गति होती ? आप मेरे महा उपकारी है। पूर्व जन्म मे आप मेरे गुरु थे। इस जन्म मे भी मैं आपको गुरु रूप मे स्वीकार करता हू। मुझे अपना धर्मपुत्र मानकर कर्त्तव्य-शिक्षा से अनुगृहीत करें और प्रसन्नमना होकर किसी विशिष्ट कार्य का आदेश दे, जिसे सम्पादित कर मैं आपसे उऋण हो सकू।" आर्य सुहस्ती के मुख से भवतापोपहारी अमृत बूदे बरसी—"राजन् ! उभय लोक कल्याणकारी जिन-धर्म का अनुसरण कर।"

आचार्य सुहस्ती से बोध प्राप्त कर सम्प्रति प्रवचन-भक्त, सम्यक्त्व गुणयुक्त, अणुव्रतधारी श्रावक बना।

कल्पचूर्णि के अनुसार सम्प्रति ने अवन्ति मे श्रमण परिवार परिवृत सुहस्ती को राज-प्रागण मे गवाक्ष से देखा। चिन्तन चला—जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ उसके बाद आचार्य सुहस्ती के स्थान पर जाकर उन्होने जिज्ञासा की—"प्रभो ! 'धम्मस्स किं फल'—धर्म का क्या फल है।" आर्य सुहस्ती बोले

"अव्यक्त सामायिक का फल राज्यपदादि की प्राप्ति है।" सम्प्रति ने विस्मित मुद्रा मे कहा—"आपने सत्य सभापण किया है। क्या आप मुझे पहचानते है ?" सम्प्रति के इस प्रश्न पर आर्य सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग लगाकर कहा—"तुमने पूर्व भव मे मेरे पास दीक्षा ग्रहण की थी। तदनन्तर सम्प्रति ने आचार्य सुहस्ती से श्रावक धर्म स्वीकार किया।"

निशीथचूर्णि के एक स्थल पर प्रस्तुत घटना सन्दर्भ के साथ विदिशा का और दूसरे स्थल पर अवन्ति का उल्लेख है। विदिशा को अवन्ति के राज्याधिकार में मान लेने से इस प्रकार का उल्लेख सम्भव है।

आवश्यक चूर्णि के अनुसार आर्य महागिरि एव सुहस्ती विदिशा मे एकसाथ गए थे। उसके बाद आर्य महागिरि अनशन करने के लिए दशार्णवपुर की ओर चले गए तदनन्तर आर्य सुहस्ती का अवन्ति मे पदार्पण हुआ, उस समय सम्प्रति आर्य सुहस्ती का श्रावक बना था।

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल मे साभोगिक सम्बन्ध-विच्छेद की सर्वप्रथम घटना आर्य सुहस्ती और सम्राट् सम्प्रति के निमित्त से घटित हुई थी।

दुष्काल के विपन्न क्षणो मे सम्राट् सम्प्रति ने श्रमणो के लिए भिक्षा-सम्बन्धी अनेकविध सुविधाए प्रदान की थी। सभी प्रकार के व्यापारी वर्ग को सम्राट् सम्प्रति का आदेश था—"वे मुक्त भाव से श्रमणो को यथेप्सित द्रव्यो का दान करें, उनका मूल्य मैं दूगा। मेरे घर का भोजन राजपिंड होने के कारण मुनिजनो के लिए ग्रहणीय नही है।"[1] सम्राट् सम्प्रति की इस उदारता के कारण आर्य सुहस्ती के शासनकाल मे शिथिलाचार की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी। साधुचर्या मे अजागरूक श्रमण मुक्त भाव से सदोष दान ग्रहण करने लगे।

आर्य महागिरि जब आर्य सुहस्ती से मिले, घोर दुष्काल मे भी साधुओ को पर्याप्त एव विशिष्ट भोजन मिलता देख आर्य महागिरि को राजपिण्ड तथा सदोष-आहार की शका हुई। उन्होने आर्य सुहस्ती से समग स्थिति को जानना चाहा।

गवेपणा किए विना ही आर्य सुहस्ती वोले—"यथा राजा तथा प्रजा।" प्रजा राजा की अनुगा होती है। यही कारण है—राजा की भक्ति के अनुसार प्रजा मे भी धार्मिक अनुराग है। तेली तेल, घृत वेचने वाला घी, वस्त्र के व्यापारी वस्त्र अपने-अपने भण्डार से मुनि वर्ग को सभी यथेप्सित वस्तुओ को प्रदान कर रहे है।

आर्य महागिरि आर्य सुहस्ती के उपेक्षा-भरे उत्तर से विक्षुब्ध हुए। वे गम्भीर होकर वोले—"आर्य! आगमविज्ञ होकर भी शिष्यो के मोहवश जान-बूझकर इस शिथिलाचार को पोपण दे रहे हो ?"

आर्य महागिरि चरित्रनिष्ठ, ऊर्ध्वचिन्तक, निर्दोप परम्परा के पक्षपाती आचार्य थे। सघ व शिष्यो का व्यामोह उनके निर्मल मानस मे कभी अपना स्थान न पा सका।

गण मे शिथिलाचार को पनपते देख उन्होने तत्काल प्रतिभासम्पन्न प्रभावी शिष्य सुहस्ती से भी अपना साम्भोगिक (भोजन आदि का व्यवहार) सम्वन्ध विच्छेद कर लिया था।[१]

आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि को गुरुतुल्य सम्मान देते थे। उनके कठिन उपालम्भ को सुनकर भी वे क्षमाशील बने रहे। उनके चरणो मे गिरे। अपने दोप के लिए उन्होने क्षमायाचना की तथा पुन ऐसा न करने के लिए वे सकल्पबद्ध हुए। आर्य सुहस्ती की विनम्रता के सामने आर्य महागिरि झुके। उन्होने अपना विचार एव साम्भोगिक सम्वन्ध की विच्छिन्नता के प्रतिवन्ध को हटा दिया, पर भविष्य मे मनुष्य की मायाप्रधान प्रवृत्ति का विचार कर अपना आहार-व्यवहार उनके साथ नही किया।

सरल, सुविनीत, मृदुस्वभावी, पूर्वज्ञान गुणसम्पन्न आर्य सुहस्ती ने महनीय महिमाशाली आर्य महागिरि के सुदृढ अनुशासनात्मक व्यवहार से प्रशिक्षण पाकर अपनी भूल का सुधार कर लिया था पर शिष्यगण मे पनपते सुविधावाद के सस्कारो का प्रवाह सर्वथा न रुक सका।

आधुनिक अनुसन्धानो के आधार पर यह घटना सम्राट् विन्दुसार के युग की मानी गयी है। आर्य महागिरि का स्वर्गवास वी० नि० २४५ मे हुआ था। सम्राट् सम्प्रति के राज्याभिपेक का समय वी० नि० २९५ है। आर्य महागिरि के स्वर्ग-वास के समय सम्राट् सम्प्रति का जन्म भी सम्भव नही है। अत यह घटना उस दुष्काल की परिकल्पना मानी गयी है जिस समय सम्प्रति का जीव द्रमुक के भव मे था, क्षुधा से आक्रात होकर आर्य सुहस्ती के पास उसने दीक्षा ग्रहण की थी।

दुष्काल के उस युग का शासक सम्राट् विन्दुसार था। वह महादानी एव

उदारचेता शासक था। उसने जनता को सहायता प्रदान करने के लिए अन्न के भण्डार खोल दिए थे। श्रमण वर्ग को भी सम्राट् की इस प्रवृत्ति से भिक्षाचरी सुलभ हो गयी थी। सम्राट् सम्प्रति के अत्यधिक प्रभाव के कारण बिन्दुसार के युग की यह घटना सम्प्रति युग के साथ सयुक्त हुई प्रतीत होती है।

सम्राट् अशोक की भाति सम्राट् सम्प्रति भी महान् धर्म-प्रचारक था। आन्ध्र आदि अनार्य देशो मे जैन धर्म को प्रसारित करने का श्रेय उसे है। आर्य सुहस्ती से सम्यक्त्व-बोध एव श्रावक व्रत दीक्षा स्वीकार करने के बाद सम्राट् सम्प्रति ने अपने सामन्त वर्ग को भी जैन सस्कार दिए तथा राजकर्मचारी वर्ग को मुनिवेश पहनाकर द्रविड,महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि देशो मे उन्हे भेजा था।[५] जैन-विहित साधु-मुद्रा से विभूषित राज सुभट अपरिचित अनार्य देशो मे घूमे तथा उन लोगो को साधुचर्या से अवगत कराने हेतु आधाकर्मादि दोष-विवर्जित आहार को ग्रहण कर जैन मुनियो की विहारचर्या योग्य भूमिका प्रशस्त की। प्रबल धर्म-प्रचारक आर्य सुहस्ती ने सम्राट् सम्प्रति की प्रार्थना पर अपने शिष्य वर्ग को अनार्य देशो मे भेजा था।[६] मिथ्यात्वतिमिराछन्न उन क्षेत्रो मे अध्यात्म का दीप प्रज्वलित कर श्रमण लौटे। उस समय आर्य सुहस्ती ने उनसे अनार्य लोगो के विभिन्न अनुभव सुने थे।[७]

एक बार आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी पत्नी भद्रा के 'वाहन कुट्टी' स्थान मे विराजे थे। रात्रि के प्रथम पहर मे वे 'नलिनी गुल्म' नामक अध्ययन का परावर्तन (स्वाध्याय) कर रहे थे।[८] निशा का नीरव वातावरण था। भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल अपनी बत्तीस पत्नियो के साथ उपरितन साप्त भौमिक प्रासाद मे आमोद-प्रमोद कर रहे थे। स्वाध्यायलीन आचार्य सुहस्ती की मधुर शब्द-तरगे अवन्ति सुकुमाल के कानोसे टकरायी। उसका ध्यान शास्त्रीय वाणी पर केन्द्रित हो गया।[९] नलिनी गुल्म अध्ययन मे वर्णित नलिनी गुल्म विमान का स्वरूप उसे परिचित-सा लगा। ऊहा-पोह करते-करते भद्रापुत्र को जातिस्मरण-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उसने अपना पूर्व भव देखा और एक नया रहस्य उद्घाटित हुआ। अवन्ति सुकुमाल अपने पूर्व भव मे नलिनी गुल्म विमान का देव था।

नलिनी गुल्म विमान को पुन प्राप्त कर लेने की उत्कट भावना ने उसे मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। आर्य सुहस्ती के पास पहुचकर अवन्ति सुकुमाल ने अपनी भावना प्रस्तुत की। साधु जीवन की कठोर चर्या का बोध देते हुए आर्य सुहस्ती ने कहा—"वत्स! तुम सुकुमाल हो। मुनि-जीवन मोम के दातो से लोहे के चने चबाने के समान दुष्कर है।"

अवन्ति सुकुमाल अपने निर्णय पर दृढ था। उसे न मुनि-जीवन की कठोरता का बोध अपने लक्ष्य से विचलित कर सका, न रूपवती बत्तीस पत्नियो का आकर्षण एव भद्रा मा की ममता निर्णीत पथ से हटा सकी।

भद्रा के द्वारा अनुमति न मिलने पर भी मुनि-परिधान को पहनकर आर्य

सुहस्ती के सामने भद्रापुत्र उपस्थित हुआ। अपने ही द्वारा गृहीत साधुवेश की मुद्रा मे अवन्ति सुकुमाल को आर्य सुहस्ती ने प्रस्तुत देखा और उसकी वैराग्यमयी तीव्र विचारधारा को परखा। साधना सोपान पर बढने के लिए उत्तरोत्तर उत्कर्ष भाव को प्राप्त अवन्ति सुकुमाल को परम कारुणिक आर्य सुहस्ती ने श्रमण दीक्षा प्रदान की।

कमल-सी कोमल शय्या पर सोने वाले अवन्ति सुकुमाल दीर्घकालीन तपस्या के द्वारा कर्म निर्जरा करने मे अपने-आपको अक्षम पा रहे थे। दीक्षा के प्रथम दिन ही गुरु से आदेश प्राप्त कर यावज्जीवन अनशनपूर्वक कठोर साधना करने के लिए वहा से प्रस्थित हुए और श्मशान भूमिका की ओर बढे। नगे पाव चलने का उन्हे अभ्यास भी नही था। पथ मे सुतीक्ष्ण काटो और ककरो के प्रहार द्वारा उनके कोमल पदतल मे रक्तबिन्दु टपकने लगे। पथगत बाधाजनित क्लेश को समतापूर्वक सहन करते हुए अवन्ति सुकुमाल मुनि निर्णीत स्थान तक पहुचे एव श्मशान के शिलापट्ट पर अनशनपूर्वक ध्यानस्थ हो गए। मध्याह्न के तीव्र आतप ने उनकी कडी परीक्षा ली एव पच नमस्कार मत्र का स्मरण करने लगे। दिन ढला, रजनी का आगमन हुआ।

सुकोमल मुनि के चरणो से टपकी रक्तबूंदो से मिश्रित पथ के धूलिकणो की दुर्गन्ध क्षुधार्त शिशुओ के साथ मासभक्षिणी जम्बुकी को खीच लायी। उसने रक्ताप्लावित मुनि के तलवो को चाटा। कृतान्त सहोदरा की भाति वह मुनि के वपु का भक्षण करने लगी। चर्म का आवरण चट-चट करता टूटता गया। मास, मेद और मज्जा के स्वाद मे लुब्ध शृगालिनी रक्तमनी कशेरुका (पीठ की हड्डी), पर्शुका (पार्श्व की हड्डी), करोटि (मस्तक की हड्डी), कपालास्थियो का भी चर्वण करने लगी। उसके शिशु परिवार ने और उसने मिलकर प्रथम प्रहर मे मुनि के पैरो को, द्वितीय प्रहर मे जघा को, तृतीय प्रहर मे उदर को और चतुर्थ प्रहर मे मुनि के शरीर को निगल लिया। तब अस्तित्व का बोध कराता हुआ ककाल मात्र अवशिष्ट रह गया था।

उत्तरोत्तर चढती हुई भावना की श्रेणी मुनि को अपने लक्ष्य तक पहुचा गयी। धैर्य से भयकर वेदना को सहते हुए भद्रापुत्र अवन्ति सुकुमाल नलिनी गुल्म विमान को प्राप्त हुए। देवताओ ने आकर उनका मृत्यु महोत्सव मनाया। महानुभाव! महासत्त्व! कहकर मुनि के गुणो की प्रशसा की।

भद्रापुत्र की पत्नी ने आचार्य सुहस्ती की परिषद् मे भद्रापुत्र को नही देखा। उसने वन्दन कर मुनीन्द्र से पूछा—"भगवन्, मेरे पति कहा है?" सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग के बल पर अवन्ती सुकुमाल की पत्नी से समग्र वृत्तान्त कह सुनाया।

पुत्रवधू के द्वारा अपने पुत्र के स्वर्गवास की सूचना प्राप्त कर भद्रा पागल की भाति दौडती हुई श्मशान भूमि मे पहुची। वहा पुत्र के अस्थिपजर को देखकर

फूट-फूटकर रोने लगी और विलपती हुई कहने लगी, "पुत्र, तुमने ससार को छोडा, मा की ममता और वधुओ का मोहपाश तोडा। पर प्रव्रजित होकर एक ही अहोरात्रि की साधना कर प्राणो का परित्याग क्यो कर दिया ? क्या यही रात्रि तुम्हारे लिए कल्याणकर थी ? परिवार से निर्मोही वने क्या धर्मगुरु से भी निर्मोही वन गए ? सत परिवेश मे एक वार मेरे आगन मे आकर भवन को पवित्र कर देते।"

पुत्र के और्ध्व-दैहिक सस्कार के साथ भद्रा के मानस मे ज्ञान की लौ जल उठी। भद्रा की पुत्रवधुओ को भी भोगप्रधान जीवन से विरक्ति हो गयी। एक गर्भिणी वधू को छोडकर सारा का सारा परिवार आर्य सुहस्ती के पास दीक्षित हुआ।[10]

अवन्ति सुकुमाल के पुत्र ने पिता की स्मृति मे उनके देहावसान के स्थान पर जैन मन्दिर बनवाया था। वह आज अवन्ति मे महाकाल के नाम से प्रख्याति प्राप्त है।[11]

आचार्य सुहस्ती के जीवन से सम्बन्धित श्रेष्ठीपुत्र अवन्ति सुकुमाल निर्ग्रंथ की यह घटना दुर्वल आत्माओ मे धैर्य का सम्वल प्रदान करने वाली है।

आचार्य सुहस्ती के शासनकाल मे गणधरवश, वाचकवश और युगप्रधान आचार्य की परम्परा प्रारम्भ हुई।

गण के दायित्व को सम्भालने वाले गणाचार्य, आगम वाचना प्रदान करने वाले वाचनाचार्य एव प्रभावोत्पादक, सार्वजनीन अध्यात्म प्रवृत्तियो से युगचेतना को दिशावोध देने वाले युगप्रधानाचार्य होते है।

तीनो दायित्व उत्तरोत्तर एक-दूसरे से व्यापक है। गणाचार्य का सम्वन्ध अपने-अपने गण से होता है। वाचनाचार्य भिन्न गण को भी वाचना प्रदान करते है। युगप्रधान का कार्यक्षेत्र सार्वभौम होता है। जैन-जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनसे लाभान्वित होते है।

आर्य सुहस्ती का शिष्य परिवार विशाल था। उनसे कई नये गण निर्मित हुए। शिष्य स्थविर रोहण से उद्देहगण, स्थविर श्रीगुप्त से चारण गण, भद्र से उडुपाटित गण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव गण, स्थविर कामर्धि से वेशपाटिक गण का तथा गणिक, कामर्द्धिक आदि अनेक अवान्तर गणो का उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली मे मिलता है।

आर्य सुहस्ती से जैन धर्म अत्यधिक विस्तार को प्राप्त हुआ। मगध की भाति अवन्ति और सौराष्ट्र प्रदेश भी धर्म का प्रमुख केन्द्र उनके शासनकाल मे वन गया था। तीस वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर सत्तर वर्ष तक सयम धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले आर्य सुहस्ती वी० नि० २९२ (वि० पू० १७८) मे अवन्ति मे स्वर्गगामी वने।[12]

आधार-स्थल

१ कोसबाऽऽहारकते,- अज्जसुहत्थीत दमग पव्वज्जा ।
अव्वत्तेण सामाइएण रण्णो घरे जातो ॥३२७५॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

२ अज्जसुहत्थाऽऽगमण, दुट्ठु सरण च पुच्छणा कहणा ।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता सपतीरण्णो ॥३२७७॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

३ साहूण देह पय, अह् मे दाहामि तत्तिय मोल्ल ।
णेच्छति घरे घेत्तु, समणा मम रायपिंडो त्ति ॥३२८०॥

(बृहत्कल्प भाष्य, विभाग ३)

४ आर्य सुहस्ती जानानोऽप्यनेषणामात्मीयशिष्यममत्वेन भणति—क्षमाश्रमणा ! राजधर्ममनुवर्तमान एष जन एव यथेप्सितमहारादिक प्रयच्छति । तत आर्य महागिरिणा भणितम्—आर्य ! त्वमपीदृशो बहुश्रुतो भूत्वा यद्येवमात्मीयशिष्यममत्वेनेत्थ ब्रवीषि, ततो मम तव चाद्य प्रभृत्ति विष्वक् सम्भोग नैकत्र मण्डल्यासमुद्देशनादिव्यवहाररति, एव सभोगस्य विष्वक्करणमभवत् ।

(बृहत्कल्प, सभाष्य विभाग ३, पत्राक २०)

५ तत प्रेषीदनार्येषु साधुवेषधरान्नरान् ॥९१॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

६ एव राज्ञोऽतिनिर्बन्धादाचार्ये केऽपि साधव ।
विहर्तुमादिदिशिरे ततोऽन्ध्रद्रमिलादिषु ॥९९॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

७ निरवद्य श्रावकत्वमनार्येष्वपि साधव ।
दृष्ट्वा गत्वा स्वगुरवे पुनराख्यन्सविस्मया ॥१०१॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

८ परावर्तितुमारेभे प्रदोष-समयेऽन्यदा ।
आचार्ये नलिनीगुल्माभिधमध्ययन वरम् ॥१३३॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

९ भद्रायाश्च सुतोऽवन्तिसुकुमाल सुरोपम ।
तदा च विलसन्नासीत्सप्तभूमिगृहोपरि ॥१३४॥
द्वात्रिंशता कलत्रै स क्रीडन् स्व स्त्रीनिभैरपि ।
तस्मिन्नध्ययने कर्णं ददौ कर्णरसायने ॥१३५॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

१० भद्राय सदने गत्वा मुक्त्वैका गुर्विणीवधूम ।
वधूभि सममन्याभि परिव्रज्यामुपाददे ॥१७५॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

११ गुर्व्यां जातेन पुत्रेण चक्रे देवकुल महत् ।
अवन्ति सुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥
तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम् ।
महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकै ॥१७७॥

(परि० पर्व, सर्ग ११)

१२ श्रीआर्यसुहस्तिसूरि षट्चत्वारिंशद् ४६ वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायु शतमेक १०० परिपाल्य श्री वीरात् एकनवत्यधिकशतद्वये २९१ स्वर्गभाग् ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री पट्टावली सारोद्धार, पत्रांक १४९)

११-१२. विश्वबन्धु आचार्य बलिस्सह और गुणसुन्दर

आचार्य वलिस्सह और गुणसुन्दर अपने युग के प्रभावशाली आचार्य थे। आचार्य सुहस्ती एव वज्रस्वामी के अन्तराल काल मे वालभी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आर्य रेवतीमित्र, आर्य मगू, आर्य धर्म, आर्य भद्रगुप्त आदि कई प्रभावक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। उनमे आर्य गुणसुन्दर एक थे। युगप्रधानाचार्यो मे आचार्य सुहस्ती के वाद गुणसुन्दर का क्रम है।[1]

आचार्य वलिस्सह आचार्य महागिरि के आठ प्रमुख शिष्यो मे से थे। वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे।[2] आचार्य महागिरि के स्वर्गवास के वाद उनके स्थान पर गणाचार्य के रूप मे उनकी नियुक्ति हुई। श्रुतसम्पन्न होने के कारण गणाचार्य वलिस्सह ने वाचनाचार्य का दायित्व भी सम्भाला था।

आचार्य गुणसुन्दर का आचार्य पदारोहण काल वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) माना गया है। आचार्य सुहस्ती के गण सचालक आचार्य सुस्थित का पदारोहण-काल भी यही है। इससे प्रतीत होता है—आचार्य सुहस्ती के वाद स्पष्ट रूप से गणाचार्य, वाचनाचार्य एव युगप्रधानाचार्य की भिन्न-भिन्न परम्परा प्रारम्भ हो गयी थी। आचार्य गुणसुन्दर का स्वर्गवास वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) मे मान्य हुआ है।

आचार्य वलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तर वलिस्सह के नाम से है।[3] आचार्य वलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुवन्धु वहुल का एक नाम उत्तर था। अत दोनो गुरु के नाम का समन्वयात्मक रूप उत्तर वलिस्सह नाम मे प्रतिविम्वित है।

आचार्य सुहस्ती के आठ शिष्यो मे प्रथम शिष्य एव आर्य व . .
वन्धु होने के कारण यह नाम उनके सम्मान का सूचक भी है।
वहुल से आर्य वलिस्सह उत्तर मे होने के कारण उत्तर व।
सम्भव कल्पना भी है।

व[illegible] [illegible] मे नन्दी सूत्र का उल्लेख है

[illegible] भगोत्त वहुलस्स सरिव्वय

इस पद्य मे काश्यपगोत्रीय वलिस्सह को वहुल के समान अवस्था प्राप्त वताया गया है।

हिमवन्त स्थविरावलि के अनुसार सम्राट् खारवेल के द्वारा आयोजित कुमार-गिरि पर्वत पर महाश्रमण सम्मेलन मे आचार्य वलिस्सह उपस्थित थे। इसी प्रसग पर उन्होने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अगविद्या जैसे शास्त्र की रचना की थी।

कल्पसूत्र स्थविरावली मे उत्तर वलिस्सह गण की चार शाखाओ का उल्लेख इस प्रकार है—

तजहा—कोसविया, सोतित्तिया, (सोत्तिमूत्तिया) कोडवाणी,
चदनागरी ।।२०६।।

(१) कोसबिका, (२) सूक्तिमती, (३) कोडवाणी, (४) चदनागरी। विश्व-वन्धु आचार्य वलिस्सह आर्य महागिरि के उत्तराधिकारी थे। आर्य महागिरि का स्वर्गवास वी०नि० २४५ (वि०पू० २२५) मे हुआ था। इस आधार पर आचार्य वलिस्सह का काल वी० नि० २४५ (वि० पू० २२५) मानना उपयुक्त है।

आधार-स्थल

१ महागिरि सुहत्थि गुणसुदर च सामज्ज खदिलायरिज।
रेवइमित्त धम्म च भद्दगुत्त सिरिगुत्त ।।११।।
(दुषमाकाल श्रीश्रमणसघस्तोत्रम्)

२ थेरस्स ण अज्जमहागिरिस्स एलावच्चसगुत्तस्स इमे अट्ठ थेरा अन्तेवासी अहावच्चा अभिण्णाया हुत्था, तजहा—थेरे उत्तरे (१), थेरे वलिस्सहे (२), थेरे धणड्ढे (३), थेरे सिरिड्ढे (४), थेरे कोडिन्ने (५), थेरे नागे (६), थेरे नागमित्ते (७), थेरे छलूए रोहगुत्ते कोसियगुत्ते ण ८।।
(कल्पसूत्र स्थविरावली)

३ थेरेहिन्तो ण उत्तर बलिस्सहेहिन्तो तत्थ ण उत्तर वलिस्सहे नाम गणे निग्गये।
(कल्पसूत्र स्थविरावली)

१३-१४. स्वाध्याय-प्रिय आचार्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध

व्याघ्रापत्य गोत्रीय आचार्य सुस्थित काकदी के राजकुमार थे। उनका जन्म वी० नि० २४३ (वि० पू० २२७) मे हुआ। आर्य सुप्रतिबुद्ध उनके सहोदर एव गुरु भाई थे। आचार्य सुस्थित ३१ वर्ष गृह-पर्याय मे रहे। आर्य सुहस्ती के पास उन्होने वी० नि० २७४ (वि० पू० १९६) मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के बाद शास्त्रीय ज्ञान मे उनकी गति उत्तरोत्तर विस्तार पाती रही।

आचार्य सुहस्ती के बाद वी० नि० २९१ (वि० पू० १७९) मे आर्य सुस्थित ने आचार्य पद का दायित्व सभाला। उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी। आचार्य सुप्रतिबुद्ध वाचनाचार्य पद पर नियुक्त हुए।

आर्य सुस्थित एव सुप्रतिबुद्ध के पाच शिष्य थे—(१) इन्द्रदिन्न, (२) प्रियग्रन्थ, (३) विद्याधर गोपाल, (४) ऋषिदत्त, (५) अर्हद्दत्त।[1]

भुवनेश्वर के निकट कुमारगिरि पर्वत पर दोनो सहोदर सुस्थित एव सुप्रतिबुद्ध कठोर तप साधना मे लगे। यह कुमारगिरि पर्वत वर्तमान मे खण्डगिरि उदयगिरि पर्वत ही है। जहा की अनेक जैन गुफाए आज भी कलिंग नरेश खारवेल महामेघवाहन के धार्मिक जीवन की परिचायिकाए है।

कलिंगपति महामेघवाहन खारवेल के नेतृत्व मे इसी पर्वत पर महत्त्वपूर्ण आगम वाचना का कार्य और अनेक श्रमणो का सम्मेलन हुआ था। उसमे दोनो सहोदर आर्य सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध उपस्थित थे। कलिंगाधिप भिक्षुराज ने इन दोनो का विशेष सम्मान किया था।[2]

काकदी नगरी मे दोनो साधको ने जिनेश्वरदेव का कोटि बार जप किया। इस उच्चतम साधना से सघ को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उक्त साधना के परिणामस्वरूप आचार्य सुस्थित के गच्छ का नाम कोटिक गच्छ हुआ।[3]

कोटिक गण की चार शाखाए थी—(१) उच्चनागरी, (२) विद्याधरी, (३) वाज्री, (४) मध्यमा।

कोटिक गण के चार कुल थे—(१)बभलिज्ज,(२)वत्थलिज्ज,(३)वाणिय,

(४) पण्हवाहन।

शिष्य प्रियग्रन्थ से मध्यम शाखा का, शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधर शाखा का जन्म हुआ।[५]

आर्य इन्द्रदिन्न के शिष्य आर्य दिन्न एव आर्य दिन्न के शिष्य आर्य शान्ति श्रेणिक सिंहगिरि थे। आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का विकास हुआ।[६] उच्चनागरी शाखा का सम्बन्ध उच्चनगर से भी बताया जाता है।

युगप्रधान आचार्य सुहस्ती के १२ प्रमुख शिष्यो मे से आर्य सुस्थित एक थे। उन्होने ६५ वर्ष की सयम पर्याय मे ४८ वर्ष तक सघ का नेतृत्व किया। कुमारगिरि पर्वत पर ९६ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वाध्यायप्रिय आचार्य सुस्थित वी० नि० ३३९ (वि० पू० १३१) मे स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१ थेराण सुट्ठियसुपडिबुद्धाण कोडियकाकदाण वग्घावच्चसगोत्ताण इमे पच थेरा अतेवासी अहावच्चा अभिन्नाया होत्था, त जहा—थेरे अज्जइददिन्ने, थेरे—पियगथे, थेरे विज्जाहरगोवाले कासवगोत्तेण, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरहदत्ते।

(कल्पसूत्र स्थविरावलि २१७, स० पुण्यविजयजी)

२ सुट्ठिय सुपडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमसामि।
भिक्खुराय-कलिगाहिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥१०॥

(हिमवत स्थविरावली)

३ प्रीतिं सृजन्ती पुरुषोत्तमाना दुग्धाम्बुराशेरिव पद्मवासा।
हृदा जिन बिभ्रत आविरासीत्तत्सूरियुग्मादिह "कौटिकाख्या ॥४४॥

(पट्टावली समु०, श्रीमहावीर पट्ट परम्परा, पृ० १२४)

४ तजहा-उच्चानागरी विज्जाहरी य वइरी य मज्झिमिल्ला य। कोडियगणस्स एया, हवति चत्तारि साहाओ से किं त कुलाइं ? तजहा—पढमेत्य बमलिज्ज वितिय नामेण वच्छलिज्ज तु। ततिय पुण वाणिज्ज चउत्थय पन्नवाहणय।

(कल्प सूत्र स्थविरावली २१६)

५ थेरेहिंतो ण पियगयेहिंतो एत्थ ण मज्झिमा साहा निग्गया, थेरेहिंतो ण विज्जाहरगोवालेहिंतो तत्थ ण विज्जाहरी साहा निग्गया।

(कल्प सूत्र स्थविरावली २१७)

६ थेरस्स ण अज्जइददिन्नस्स कासवगोत्तस्स अज्जदिन्नेथेरे थेरेहिंतो ण अज्जसतिसेणिएहिंतो ण माढरसगोत्तेहिंतो एत्थ ण उच्चानागरी साहा निग्गया।

(कल्प सूत्र स्थविरावली २१८)

१५-१६. सन्त-श्रेष्ठ आचार्य श्याम और षांडिल्य

जैन परम्परा मे कालक नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमे प्रथम कालकाचार्य श्यामाचार्य के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हैं। नन्दी स्थविरावली के उल्लेखानुसार हारित गोत्रीय आर्य वलिस्सह के शिष्य आर्य स्वाति थे। आचार्य स्वाति भी हारित गोत्रीय परिवार के थे। आचार्य श्याम आर्य स्वाति के शिष्य थे।[1]

श्यामाचार्य अपने युग के महा प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २८०(वि० पू० १९०) मे हुआ। ससार से विरक्त होकर वी०नि० ३०० (वि० पू० १७०) मे उन्होने श्रमण दीक्षा स्वीकार की। दीक्षा ग्रहण के समय उनकी अवस्था २० वर्ष की थी।

महती योग्यता के आधार पर वी० नि० ३३५ (वि० पू० १३५) मे उन्हे युगप्रधानाचार्य के पद पर विभूपित किया गया था।[2]

आचार्य श्याम द्रव्यानुयोग के विशेप व्याख्याकार थे। प्रज्ञापना जैसे विशालकाय सूत्र की रचना उनके विशद वैदुष्य का परिणाम है।[3] जैनागम साहित्य मे प्रज्ञापना उपागागम है एव चार अनुयोग में वह द्रव्यानुयोग है। इसके ३६ प्रकरण हैं। जीवादि विभिन्न तात्त्विक विषयो की सामग्री इस सूत्र मे उपलब्ध है। इस ग्रन्थ को आगम रूप मे स्वीकार कर लेना आचार्य श्याम की निर्मल नीति पर समग्र श्रमण सघ के हार्दिक विश्वास का द्योतक है। नाम उनका श्याम था, पर विशुद्धतम चरित्र की आराधना से वे अत्यन्त उज्ज्वल पर्याय के धनी थे।

आचार्य श्याम की अधिक प्रसिद्धि निगोद व्याख्याता के रूप मे है। एक वार सीमन्धर स्वामी से महाविदेह मे सूक्ष्म निगोद की विशिष्ट व्याख्या सौधर्मेन्द्र ने सुनी और प्रश्न किया—"भगवन्! भरत क्षेत्र मे भी निगोद-सम्बन्धी इस प्रकार की व्याख्या करने वाले कोई मुनि, श्रमण, उपाध्याय और आचार्य है?"

सौधर्मेन्द्र के समाधान मे सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे आचार्य श्याम के पास आया। उनके ज्ञानवल का परीक्षण करने के लिए उसने अपना हाथ उनके सामने किया। हस्त-

रेखा के आधार पर आचार्य श्याम ने जाना—'नवागन्तुक वृद्ध ब्राह्मण की आयु पल्योपम से भी ऊपर पहुच रही है।' आचार्य श्याम ने उसकी ओर गम्भीर दृष्टि से देखा और कहा—"तुम मानव नही देव हो।" सौधर्मेन्द्र को आचार्य श्याम के इस उत्तर से सन्तोप मिला एव निगोद के विपय मे जानना चाहा। आचार्य श्याम ने निगोद का सागोपाग विवेचन कर इन्द्र को आश्चर्याभिभूत कर दिया। अपनी यात्रा का रहस्य उद्घाटित करते हुए सौधर्मेन्द्र ने कहा—"मैने सीमन्धर स्वामी से जैसा विवेचन निगोद के विषय मे सुना था वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर मैं अत्यन्त ही प्रभावित हुआ हू।"[४]

देवो की रूप सम्पदा को देखकर कोई शिष्य श्रमण निदान न कर ले, इस हेतु से भिक्षाचर्या मे प्रवृत मुनि-मण्डल के आगमन से पहले ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशसा करता हुआ जाने लगा।

ज्ञान के साथ अह का अभ्युदय भी बहुत स्वाभाविक है। महा पराक्रमी विशिष्ट साधक बाहुबली मे एव कामविजयी आर्य स्थूलभद्र मे भी अहकार मूर्त रूप धारण कर प्रकट हो गया था। श्यामाचार्य के शब्दो मे भी अहं सिर उठाकर बोला—"सौधर्मेन्द्र ! देवागमन की बात मेरे शिष्य बिना किसी साकेतिक चिह्न के कैसे जान पाएगे ?" आचार्य देव का निर्देश पा सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिमाभिमुख कर दिया। आचार्य श्याम के शिष्य गोचरी करके लौटे। वे द्वार के स्थानान्तरण से लेकर इन्द्रागमन की सारी घटना को सुनकर विस्मयाभिभूत हो गए।

इन्द्रागमन की यह घटना प्रभावक चरित के कालक सूरि प्रबन्ध मे आचार्य कालक के साथ एव विशेषावश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो मे आर्य रक्षित के साथ भी प्रयुक्त है।

माथुरी युग-प्रधान पट्टावली के अनुसार आचार्य श्याम के बाद आर्य पाडिल्य हुए है। आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उन्हे जीतधर विशेपण से विशेपित किया है। आर्य षाडिल्य काश्यप गोत्रीय थे।[५] जीत व्यवहार की प्रतिपालना मे पूर्ण जागरूक थे। पाडिल्य गच्छ का प्रारम्भ इन्ही से हुआ था।

निगोद व्याख्याता श्यामाचार्य का शासनकाल ४१ वर्ष तक रहा। जैन शासन की श्रीवृद्धि मे विशेष ख्याति प्राप्त कर वीर निर्वाण ३७६ (वि० पू० ९४) में ९६ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गगामी बने।

आधार-स्थल

१ हारियगोत्त साइ च, वदिमो हारिय च सामज्ज ॥२६॥

(नन्दी स्थविरावली)

२ सिरिवीराओ गएसु पणतीसहिएसु तिसय (३३५) वरिसेसु।
पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जनामुत्ति ॥५५॥

(रत्न सचय प्रकरण, पत्राक ३२)

३ निज्जूढा जेण तया पन्नवणा सव्वभाव पन्नवणा।
तेवीसइमो पुरिसो पवरो सो जयइ सामज्जो ॥१८८॥

(परि० पर्व, ऋषि मडल, पत्राक ३५३)

४ सिरिवीर जिणिदाओ वरिससया तिन्निवीस(३२०) अहियाओ।
कालयसूरी जाओ सक्को पडिवोहिओ जेण।

(विचार श्रेणी परिशिष्टम्)

५ वन्दे कोसिय गोत्त, सडिल्ल अज्जजीयधर ॥१२६॥

(नन्दी स्थविरावली)

१७-१९. मोक्ष-वीथि-पथिक
आचार्य समुद्र, मंगू, भद्रगुप्त

हिमवन्त स्थविरावली और नन्दी स्थविरावली के अनुसार आचार्य पाडिल्य के उत्तराधिकारी समुद्र और समुद्र के उत्तराधिकारी आचार्य मगू थे। वालभी युग-प्रधान पट्टावली के अनुसार मगू रेवती मित्र के उत्तराधिकारी थे।

नन्दी स्थविरावली मे आचार्य समुद्र और मगू की प्रशस्त शब्दो मे प्रशसा की गयी है। आचार्य समुद्र के गुणानुवाद का श्लोक इस प्रकार है

तिसमुद्दखायकित्ति दीवसमुद्देसु गहियपेयाल।
वदे अज्जसमुद्द अक्खुभियसमुद्दगभीर ॥२६॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार आचार्य समुद्र की कीर्ति आसमुद्रान्त तक विस्तृत थी और वे प्रतिकूल परिस्थिति मे भी अक्षुभित समुद्र की भाति गभीर थे।

मगू के लिए नन्दी स्थविरावली का श्लोक है—

भणग करग-झरग पभावग णाणदसणगुणाण।
वदामि अज्जमङ्गु सुयसागरपारग धीर ॥२७॥

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या चूर्णिकार ने इस प्रकार से की है—"कालियपुव्व-सुत्तत्थ भणतीति भणको। चरण-करणक्रिया करोतीति कारक। सुत्तत्थे य मणसा झायतो ज्झरको। परप्पवादिजयेण पवयणपभावको। नाणदसणचरण गुणाण च पभावको आधारो य।"

आचार्य मगू आगम-अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले, परवादी विजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान, दर्शन, गुणसम्पन्न, श्रुत सागर-पारगामी, धृतिधर आचार्य थे।

आचार्य भद्रगुप्त दश पूर्वधर थे। ज्योतिष विद्या के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। आर्य रक्षित ने आचार्य भद्रगुप्त की अनशन की स्थिति मे विशेष उपासना की थी। आचार्य वज्र स्वामी ने भी दश पूर्वो का ज्ञान आचार्य भद्रगुप्त से ग्रहण किया था।

आचार्य पाडिल्य के उत्तराधिकारी होने के कारण आचार्य समुद्र का आचार्य

पदारोहण काल वी० नि० ४१४ (वि० पू० ५६) है। उनका स्वर्गवास वी० नि० ४५४ (वि० पू० १६) मे हुआ था। तदनन्तर आचार्य मगू का आचार्य-काल प्रारम्भ होता है।

आचार्य भद्रगुप्त का काल आचार्य वज्र स्वामी से कुछ पूर्व है। कालक्रम के अनुसार आचार्य समुद्र और मगू आचार्य कालक द्वितीय से पूर्व और आचार्य भद्रगुप्त कालक द्वितीय से बाद के है पर तीनो का जीवन-प्रसग एकसाथ सम्बद्ध कर देने के कारण इन्हे श्यामाचार्य और षाडिल्य के पश्चात् प्रस्तुत किया है।

२०. क्रान्ति-चरण आचार्य कालक (द्वितीय)

द्वितीय कालकाचार्य महान् क्रान्तिकारी थे। वे धारा नगरी के वैरसिंह राजा के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सुरसुन्दरी था और बहिन का नाम सरस्वती। सरस्वती अत्यन्त रूपवती कन्या थी। अश्वारूढ राजकुमार मन्त्री के साथ एक दिन नगर के बहिर्भूभाग मे इधर-उधर परिभ्रमण करता हुआ क्रीडारत था। वहा उसने गुणाकर मुनि को देखा, प्रवचन सुना। घनरव गम्भीर गिरा के श्रवण से परम प्रमोद को प्राप्त कालक कुमार ससार से विरक्त हो गया। दीक्षा लेने की भावना जागृत हुई। इस भावना का प्रभाव बहिन सरस्वती पर भी हुआ। दोनो भाई-बहिन मुनि गुणाकर के पास दीक्षित हो गए।

कालक कुमार कालक मुनि बन गए। कालक मुनि प्रतिभासम्पन्न युवक थे। अल्पसमय मे शास्त्रो के पारगामी विद्वान् बने। उनके गुरु ने उन्हे योग्य समझकर आचार्य पद से विभूषित किया।[1]

एक बार ससघ आचार्य कालक का पदार्पण उज्जयिनी मे हुआ। उस समय उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल था। वह आचार्य कालक की भगिनी साध्वी सरस्वती के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गया। राजा का आदेश पा राजपुरुषो ने करुण स्वर से क्रन्दन करती 'हा! रक्ष, हा! रक्ष, भ्रात!' कहकर सहोदर आचार्य कालक को स्मरती, कलपती-विलपती साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया।[2]

आचार्य कालक का प्रस्तुत घटना से उत्तेजित हो जाना सभव था। वे राज-सभा मे पहुचे एव राजा गर्दभिल्ल के सम्मुख उपस्थित होकर बोले—"फलो की रक्षा के लिए बाड का निर्माण होता है। बाड स्वय ही फल को खाने लगे तो फलो की रक्षा कैसे हो सकती है? सरक्षक ही सर्वस्व का अपरण करने लगे तो दु ख दर्द की बात किसके सामने कही जा सकती है?"[3]

"राजन्! आप समग्र वर्गों के एव धार्मिक समाज के रक्षक है। आपके द्वारा एक साध्वी के व्रतभग की बात उचित नही है।"

आचार्य कालक ने यह बात सयत स्वरो मे एव शालीन शब्दो मे कही थी, किन्तु नृपाधम पर इसका कोई प्रभाव नही हुआ। मन्त्रीसहित पौर जनो ने भी

गर्दभिल्ल को दृढ स्वरो मे निवेदन किया, पर मिथ्या मोहारूढ, मूढमति राजा ने उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया।[४]

आचार्य कालक मे क्षात्र तेज उद्दीप्त हो उठा, "तम्हा सइ सामत्थे आणा भट्ठम्मि नो खलु उवेहा" सामर्थ्य होने पर आज्ञा भ्रष्ट की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिए। "जिन प्रवचन के अहित साधक, अवर्णवादी को पूर्ण शक्ति लगाकर रोक देना चाहिए।" यह एक ही वात आचार्य कालक के मस्तिष्क मे चक्कर काटने लगी। उन्होने गर्दभिल्ल को राजच्युत करने की घोर प्रतिज्ञा की।[५]

आचार्य कालक का स्पष्ट निर्णय था—"मर्यादाभ्रष्ट गर्दभिल्ल को राजच्युत न कर दू तो सघ के प्रत्यनीक, प्रवचन-प्रघातक, सयम-विनाशक व्यक्तियो जैसी गति मुझे प्राप्त हो।[६]

गर्दभिल्ल शक्तिशाली शासक था। उससे लोहा लेना आसान वात नही थी। आचार्य कालक इस वात को वहुत अच्छी तरह जानते थे।

अपनी घोर प्रतिज्ञा का भेद कही खुल न जाए, इस वात को गम्भीरता से लेते हुए आचार्य कालक शहर मे सज्ञाशून्य की भाति घूमने लगे। नगर की गलियो, चौराहो राजपथो पर असबद्ध अपलाप करते हुए वे कहते—"गर्दभिल्ल नरेन्द्र है तो क्या ? देश समृद्ध है तो क्या ? उसका अन्त पुर रम्य है तो क्या ? नगरी सुरक्षित है तो क्या ? नागरिक जन सुन्दर परिधान पहने हुए है तो क्या ? मै भिक्षार्थ भटकता हू तो क्या ? शून्य देवल मे निवास करता हू तो क्या ?"[७]

आचार्य कालक के इस अपलाप ने सवको भ्रान्ति मे डाल दिया। राजा गर्दभिल्ल को लगा—"आचार्य कालक भगिनी के व्यामोह मे विक्षिप्त हो चुके है।" अपने करणीय हेतु निर्विघ्न भूमिका का निर्माण कर राजनीति-दक्ष आचार्य कालक कतिपय समय के वाद एकाकी वहा से निकल पडे। पश्चिम दिशा की ओर वढते हुए वे सिन्धु तट पर पहुचे।[८] वहा पर ९६ शाहो (शक सामन्तो) को विद्यावल से प्रभावित कर उनके साथ आचार्य कालक ने घनिष्ठ मित्रता स्थापित कर ली। शक सामन्तो पर एक मुख्य शाह (राजा) भी था। एक दिन शक सामन्त राजभय से घिर गए। उस सकट से वचाने के लिए शक सामन्तो को नौका पर चढाकर आचार्य कालक सिंधु नदी को पार करते हुए सौराष्ट्र पहुचे।[९]

निशीथचूर्णि मे शको का 'पारस कुल' मे होने का उल्लेख है। सम्भवत पारस कुल फारस खाडी के निकट का कोई प्रदेश था। विद्वानो की दृष्टि से वर्तमान मे यह ईरान का स्थान है। पारस कुल शको का निवासस्थान होने से शक कुल के नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। कई का अभिमत है—आचार्य कालक सिन्धु प्रान्त से शक सामन्तो को लेकर आए थे।

भारत से सुदूरवर्ती क्षेत्र ईरान से इतने विशाल दल को प्रभावित कर ले आना उस समय की कठिन परिस्थितियो मे एव यातायात के साधनो के उचित

अभाव मे एक आचार्य के लिए असभव था। शको की पूर्ण निवासस्थली पारस की कुल होने से निशीथचूर्णि मे उनके लिए पारस कुल का उल्लेख होना सम्भव है।

घनागम (वर्षा ऋतु का आगमन) के समागम होने के कारण शको सहित आचार्य कालक को सौराष्ट्र मे कई महीनो तक रुकना पडा। शरद्ऋतु का आगमन हुआ। विशालदल के साथ आचार्य कालक वहा से प्रस्थान कर पाचाल एव लाटादि प्रदेश पर विजयध्वज फहराते हुए मालव की सीमा पर पहुच गए।[१०]

नरेन्द्र गर्दभिल्ल अपनी विद्याशक्ति पर गर्वित था। आक्रमण की बात सुनकर भी गर्दभिल्ल ने कोई ध्यान नही दिया। उसने न नगर-दुर्ग को शस्त्रो से सज्जित किया और न सैन्य-दल को कोई आदेश दिया। नगर के द्वार भी शत्रु-भय से बन्द नही किए गए।

आचार्य कालक अपने मे पूर्ण सावधान थे। उन्होने अपने दल से कहा—"उज्जयिनी का शासक गर्दभिल्ल अष्टमी चतुर्दशी के दिन अष्टोत्तर-सहस्र जप-पूर्वक 'रासभी' विद्या की सिद्धि करता है। विद्या सिद्ध होने पर रासभी भौकती है। उसके कर्कश स्वरो को सुनते ही प्रतिद्वन्द्वी के मुखद्वार से पीप झरता है और वह सज्ञाशून्य हो जाता है। रासभी के इन स्वरो का प्रभाव प्रतिद्वन्द्वी पक्ष पर सार्ध तीन गव्यूति पर्यन्त होता है। अत विद्या से अप्रभावित क्षेत्र मे तम्बू तैनात कर लेना ठीक है। शक सामन्तो ने वैसा ही किया। रासभी के प्रभाव को समाप्त कर देने के लिए शब्दवेधी बाण को चलाने मे कुशल एक सौ आठ सुभट राज-प्रासाद की ओर निशाना साधकर उचित स्थान पर बैठ गए। विद्या साधन के समय रासभी का मुह खुलते ही अपने कर्म मे जागरूक सुभट्टो ने सुतीक्ष्ण बाणो से तत्काल उसका मुह भर दिया। इससे रासभी कुपित हुई एव अशुचि पदार्थों का राजा गर्दभिल्ल पर प्रक्षेप कर अदृश्य हो गयी। शत्रु को निर्बल जानकर शक सामन्तो ने सबल सैन्य-शक्ति के साथ अवन्ति पर एकसाथ धावा बोल दिया। लाट प्रदेश की सेना भी इसका पूरा साथ दे रही थी। पूर्व तैयारी के अभाव मे शक्तिशाली गर्दभिल्ल भी विदेशी सत्ता के सामने पराजित हो गया। सुभट्टो ने राजा गर्दभिल्ल को बन्दी बनाकर आचार्य कालक के सम्मुख प्रस्तुत किया। बहिन सरस्वती को पाकर आचार्य कालक प्रसन्न हुए एव उनके आदेश से अन्यायी शासक गर्दभिल्ल को पदच्युत कर सुभटो ने छोड दिया।

वृहत्कल्प भाष्य चूर्णि के अनुसार गर्दभ अवन्ति राजा 'अनिल सुत यव' का पुत्र था। वह अपनी बहिन अडोलिया के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध था। उसकी इच्छा-पूर्ति मे दीर्घपृष्ठ नाम का मन्त्री पूर्ण सहयोगी था।

चूर्णि साहित्य मे उल्लिखित यह गर्दभ सभवत सरस्वती का अपहरणकर्ता गर्दभिल्ल ही था। जो विषयान्धता के कारण विदेशी शक्ति द्वारा पराजित होकर

खिन्न था एव पख कटे पक्षी की भाति सर्व साधन सामग्री-विहीन लेकर छटपटा रहा था।

मालव प्रदेश पर शको का राज्य स्थापित हुआ। आचार्य कालक ने वहिन सरस्वती को पुन दीक्षा दी और स्वय ने प्रायश्चित्तपूर्वक मनोमालिन्य एव पापमय प्रवृत्ति का शोधन किया।" प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण पूर्ववत् सघ का नेतृत्व आचार्य कालक सभालने लगे।

भृगुकच्छ (भरोच) लाट देश की राजधानी थी। वहा के महान् शासक वलमित्र और भानुमित्र थे। वे आचार्य कालक के भानजे थे। आचार्य कालक को विजयी बनाने मे उनका पूरा सहयोग था।

अवन्ति पर चार वर्षों तक शको ने शासन किया। भारत भूमि को विदेशी सत्ता से शासित देखकर वलमित्र एव भानुमित्र का खून उवल उठा। उन्होने मालव पर आक्रमण किया एवं शक सामन्तो को बुरी तरह से अभिभूत कर वहा से उनके शासन का मूलोच्छेद कर दिया। उज्जयिनी का पावन प्रागण स्वातन्त्र्य की रम्य रश्मियो मे चमक उठा। वलमित्र वहा का शासक बना। शकोच्छेदक एव इतिहास-प्रसिद्ध तेजस्वी शासक वीर विक्रमादित्य यह वलमित्र ही था।

भानजे वलमित्र और भानुमित्र की विशेष प्रार्थना पर महान् प्रभावक आचार्य कालक ने भृगुकच्छ (भरोच) मे चातुर्मास किया। वलमित्र एव भानुमित्र की वहिन का नाम भानुश्री था। वलभानु भानुश्री का पुत्र था। परमविरक्ति को प्राप्त वलभानु को आचार्य कालक ने दीक्षा प्रदान की थी। इससे वलमित्र और भानुमित्र प्रकुपित हुए और उन्होने अनुकूल परिषह उत्पन्न कर आचार्य कालक को पावसकाल मे ही विहार करने के लिए विवश कर दिया था। प्रभावक चरित के अनुसार विहार का निमित्त राजपुरोहित था। भागिनेय वलमित्र व भानुमित्र की अगाध श्रद्धा आचार्य कालक के प्रति थी। राजपुरोहित राजसम्मान प्राप्त आचार्य कालक से जलता था। एक दिन शास्त्रार्थ मे आचार्य कालक से पराभव को प्राप्त राजपुरोहित ने उनके निष्कासन की योजना सोची। उसने वलमित्र और भानुमित्र से निवेदन किया—"राजन्! महापुण्योभाग आचार्य कालक के चरण हमारे लिए वदनीय है। पथ पर अकित उनके चरणचिह्नो पर नागरिको के पैर टिकने से अथवा उनका अतिक्रमण होने से गुरुराज की आशातना होती है। यह आशातना राज्य के लिए विघ्नकारक है। इससे राष्ट्र मे अमगल हो सकता है। सरलहृदय भ्रातृद्वय के हृदय में निकटवर्ती राजपुरोहित की यह वात जच गयी पर पावस काल मे आचार्य कालक का निष्कासन होने से महान् अपवाद का भय था। इस अपवाद से वचने के लिए राजा का आदेश प्राप्त कर राज पुरोहित ने घर-घर मे आधाकर्मदोष निष्पन्न गरिष्ठ भोजन आचार्य कालक को प्रदान करने की घोषणा की। नागरिक जनो ने वैसा ही किया। एषणीय आहार-प्राप्ति के अभाव मे शासन-व्यवस्था की

ओर से अनुकूल परीपह उत्पन्न हुआ जानकर आचार्य कालक ने पावस के मध्य ही विहार कर दिया। ग्रन्थान्तर के अनुसार आचार्य कालक का यह विहार 'अवन्ति' से हुआ था।

आचार्य कालक विहार कर प्रतिष्ठानपुर पधारे। प्रतिष्ठानपुर का शासक शातवाहन जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु श्रावक था। पौरजनो सहित शासक शातवाहन ने आचार्य कालक का भारी सम्मान किया। भाद्रव शुक्ला पचमी का दिन निकट था। सवत्सरी पर्व को अत्यन्त उत्साह के साथ मनाने की चर्चा चल रही थी। प्रतिष्ठानपुर में इसी दिन इन्द्रध्वज महोत्सव भी मनाया जाता था। शासक शातवाहन दोनो पर्वों के कार्यक्रम से लाभान्वित होना चाहता था। उसने प्रार्थना की—"आर्य! सवत्सरी पर्व षष्ठी को मनाया जाए, जिससे मैं भी इस पर्व की सम्यक् आराधना कर सकू।" आचार्य कालक मर्यादा के प्रति दृढ थे। राजभय से इस महान तिथि का अतिक्रमण करना उनकी दृष्टि मे उचित नही था। उन्होने निर्भय होकर कहा—"मेरु प्रकम्पित हो सकता है। पश्चिम दिशा मे रवि उदय हो सकता है, पर इस पर्व की आराधना मे पचमी की रात्रि का अतिक्रमण नही हो सकता।"[१२] राजा ने पर्व को चतुर्थी के दिन मनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया आचार्य कालक की दृष्टि मे इस पर्व को एक दिन पूर्व मनाने मे कोई बाधा नही थी। उन्होने शातवाहन के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतिशय उल्लास के साथ गर्दभिल्ल उच्छेदक आचार्य कालक के नेतृत्व मे सर्वप्रथम चतुर्थी के दिन सवत्सरी पर्व मनाया गया।

देश-देशान्तर मे विहरण करते हुए आचार्य कालक का पदार्पण एक बार अवन्ति मे हुआ। इस समय आचार्य कालक वृद्धावस्था मे थे। वार्धक्य की चिन्ता न कर वे अपने शिष्य वर्ग को अत्यन्त जागरूकता के साथ आगम वाचना देते थे। आचार्य कालक जैसा उत्साह उनके शिष्य वर्ग मे न था। वे आगम वाचना ग्रहण करने मे अत्यन्त उदासीन थे। अपने शिष्यो के इस प्रमत्तभाव से आचार्य कालक खिन्न हुए। उनको शिक्षा देने की नीयत से आचार्य कालक ने शिष्य-सघ से अलग हो जाने की बात सोची। शय्यातर के पास जाकर आचार्य कालक बोले—"मैं अपने अविनीत शिष्य सघ को यहा छोडकर इन्हे बिना सूचित किए ही अपने प्रशिष्य सागर के पास स्वर्णभूमि की ओर जा रहा हू। सोचता हू— शिष्यो द्वारा अनुयोग न ग्रहण करने पर मेरा इनके बीच मे रहने से कोई उपयोग नही है प्रत्युत इन शिष्यो की उच्छृखलता कर्मबन्धन का हेतु है। हो सकता है मेरे पृथक्त्व से वे सभल जाए और उन्हे अपनी भूल समझ मे आ जाए। पर मेरे चले जाने की सूचना शिष्य वर्ग को अत्यन्त आग्रहपूर्वक पूछने पर उन्हे सरोष स्वरो मे बताना।" शय्यातर को इस प्रकार अपना कथ्य पूरी तरह से समझाकर शिष्यो के उठने से पहले ही गुप्त रूप से आचार्य कालक ने विहार कर दिया।

मार्गवर्ती बस्तियो को पार करते हुए वे सुदूर स्वर्णभूमि मे सुशिष्य सागर के पास पहुचे। आगम वाचनारत शिष्य सागर ने उन्हे सामान्य वृद्ध साधु समझकर अभ्युत्थानादिपूर्वक कोई स्वागत नही किया। अर्थ-पौरुषी (अर्थवाचना) के समय शिष्य सागर ने सम्मुखीन आचार्य कालक को सकेत करते हुए पूछा—"खत ! मेरा कथन समझ मे आ रहा है ?" आचार्य कालक ने 'आम्' कहकर स्वीकृति दी। सागर सगर्व बोले—"वृद्ध ! अवधानपूर्वक सुनो।" आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा मे बैठे थे। आर्य सागर अनुयोग प्रदान मे प्रवृत्त हो गए।

अवन्ति मे आचार्य कालक के शिष्यो ने देखा—उनके बीच मे आचार्य कालक नही हैं। उन्होने इधर-उधर ढूटा पर वे कही न मिले। शय्यातर से जाकर शिष्यो ने पूछा—"आचार्य देव कहा है ?" मुखमुद्रा को वक्र बना शय्यातर ने कहा—"आपके आचार्य ने आपको भी कुछ नही कहा, मुझे क्या कहने ?" शिष्यो ने पुन आचार्य कालक को ढूढने का प्रयत्न किया पर वे असफल रहे। आग्रह-पूवक पूछने पर शय्यातर ने कठोर रुख बनाकर शिष्यो से कहा—"आप जैसे अविनीत शिष्यो की अनुयोग ग्रहण करने मे अलसता के कारण खेद-खिन्न आचार्य कालक स्वर्णभूमि मे प्रशिष्य सागर के पास चले गए है।" शय्यातर के कटु उपालम्भ से लज्जित, गुरु के बिना अनाश्रित, उदासीन शिष्यो ने तत्काल अवन्ति से स्वर्ण-भूमि की ओर प्रस्थान कर दिया। विशाल सघ को विहार करते देख लोग प्रश्न करते—"कौन आचार्य जा रहे हैं ?" शिष्य कहते—"आचार्य कालक।"

यह बात कानो-कान तेल-बिन्दु की तरस प्रसारित हो गयी। श्रावक वर्ग ने आर्य सागर से निवेदन किया—"विशाल परिवार सहित आचार्य कालक आ रहे हैं।" अपने दादा गुरु के आगमन की बात सुन उन्हे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। पुलकितमना होकर आर्य सागर ने अपने शिष्य वर्ग से गुरु के आगमन की सूचना दी और कहा—"मैं उनसे कई गम्भीर प्रश्न पूछकर समाहित बनूगा।"

शीघ्र गति से चलते हुए आचार्य कालक के शिष्य स्वर्णभूमि मे पहुचे और स्वागतार्थ सामने आए हुए श्रमण सागर के शिष्यो से पूछा—"आचार्य कालक यहा पधारे हुए हैं ?" उत्तर मिला—"एक वृद्ध श्रमण के अतिरिक्त कोई नही आया।" उपाश्रय मे पहुचकर आचार्य कालक को कालक के शिष्यो ने सभक्ति वन्दन किया। नवागन्तुक श्रमण सघ द्वारा अभिवन्दित होते देखकर आर्य सागर ने आचार्य कालक को पहचाना। अपने द्वारा कृत अविनय के कारण उन्हे लज्जा की अनुभूति हुई।" हृदय अनुताप से भर गया। गुरुदेव के चरणो मे गिरकर क्षमा मागी। विनम्र स्वरो मे पूछा—"गुरुदेव, मैं अनुयोग वाचना उचित प्रकार से दे रहा था ?" आचार्य कालक ने कहा—"तुम्हारा अनुयोग सम्यक् है, पर गर्व मत करना। ज्ञान अनत है, मुष्टि-भर धूलिराशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर एव दूसरे स्थान से तृतीय स्थान पर रखते-उठाते समय वह न्यून-न्यूनतर होती,

जाती है। तीर्थकर प्रतिपादित ज्ञान गणधर, आचार्य, उपाध्याय के द्वारा हम तक पहुचते-पहुचते वह अल्प-अल्पतर हो गया है।" आचार्य कालक ने प्रशिष्य सागर को अनेक प्रकार का प्रशिक्षण दिया एव वे अनुयोग-प्रवर्तन मे भी लगे।

आचार्य कालक का जीवन विस्मयकारी प्रसगो से सयुक्त है। अन्यायी राजा का प्रतिकार करने के लिए और उसे सबल सबक सिखाने के लिए भारत की सीमा को पार कर विदेश जाना, शाहो के साथ मैत्री स्थापित करना, शक सामन्तो के विशाल दल के साथ नौका से सिन्धु को पारकर भारत पहुचना, युद्ध का सबल मोर्चा बनाकर अवन्ति पर आक्रमण करना, गर्दभिल्ल जैसे शक्ति-सामर्थ्य से युक्त शासक को पराभूत कर उसे देश से निष्कासित कर देना तथा शको को राजसिंहासन पर स्थापित कर भारतीय राजनीति की एक नई तस्वीर गढ देना आचार्य कालक के सुदृढ मनोबल एव सशक्त व्यक्तित्व का परिचायक है। आचार्य कालक गभीर चिन्तक थे। उन्होने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, राग-द्वेष का परिहार, धर्मध्यान व शुक्लध्यान इन आठ प्रकार के पुष्पो से आत्मा की अर्चा को कल्याण का मार्ग बताकर विशुद्ध अध्यात्म भाव का प्रतिपादन किया है।[१४]

आचार्य कालक का भूभ्रमण भी बहुत विस्तृत था। पश्चिम मे ईरान एवं दक्षिण पूर्व मे जावा, सुमात्रा तक की पदयात्रा करने का श्रेय उन्हे है। विदेश-यात्रा आचार्यो की परम्परा मे सर्वप्रथम द्वार आचार्य कालक ने खोला।

आचार्य कालक का शिष्य सघ विशाल था। पर उनके साथ आचार्य कालक का दृढ अनुबध नही था। अविनीत शिष्यो के साथ रहने से कर्म बधन ही होगा, यह सोच वे एकाकी पदयात्रा पर चल पड़े थे। यह प्रसग उनके निर्लेप साधना जीवन का प्रशस्त निदर्शन है।

आचार्य कालक का निमित्त एव ज्योतिष-सबधी ज्ञान अत्यन्त विशद था।[१५] यह विद्या उन्होने प्रतिष्ठानपुर मे आजीवको के पास ग्रहण की थी।[१६]

चतुर्थी को सवत्सरी मनाने के उनके सर्वथा मध्यस्क निर्णय को सघ ने एक रूप मे मान्य किया। इसमे प्रमुख हेतु आचार्य कालक का तेजस्वी व्यक्तित्व ही था। आचार्य कालक की परम्परा मे पाडिल्य शाखा का निर्माण हुआ।

जैन समाज पर अतिशय प्रभाव छोडकर आचार्य कालक ने स्वर्ग-गमन किया। गर्दभिल्ल की राजच्युति एव शको के अवन्ति राजसिंहासन पर आरोहण का समय वी० नि० ४५३ (वि० पू० १७) है। इस आधार पर आचार्य कालक वी० नि० की पाचवी सदी के विद्वान् सिद्ध होते है।

२१. महाविद्या-सिद्ध आचार्य खपुट

आर्य खपुट अपने युग के विशिष्ट प्रभावी आचार्य थे। वे प्रभावोत्पादक विद्याओ के स्वामी थे। भव-विभ्रान्त पथिक के लिए विश्रामस्थल थे। निशीथ चूर्णि मे आठ व्यक्तियो का धर्म की प्रभावना मे महान् योगदान माना गया है।[1] विद्यावल पर प्रभावना करने वालो मे वहा आचार्य खपुट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[2] अतिशय विद्यासम्पन्नता के कारण प्रवधकोशकार ने उन्हे 'आचार्य सम्राट्' सज्ञा से अभिहित किया है।[3]

आचार्य खपुट किस गच्छ के थे इस सवध का कोई भी सकेत साहित्य मे उपलब्ध नही है।

आचार्य खपुट के भुवन नाम का एक शिष्य था। वह उनका भागिनेय भी था। आर्य खपुट ने उसे अनेक प्रकार की विद्याए प्रदान की थी। शीघ्रग्राही वुद्धि के कारण कर्णश्रुति से भी कई विद्याए उसने ग्रहण कर ली थी। भृगुकच्छ का राजा वलमित्र वौद्ध भक्त था। उसकी सभा मे मुनि भुवन का वौद्धो के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ। राजकीय सम्मान प्राप्त, प्रमाणज्ञ, तर्कज्ञ, न्यायज्ञ वौद्ध भिक्षु जैनो से अपने को प्रकृष्ट मानते थे। मुनि भुवन की अकाट्य तर्को के सामने इस शास्त्रार्थ मे वे पूर्ण परास्त हो गए। जैन शासन के विजीगिषु 'वड्ढकर' नामक वौद्धाचार्य गुडशस्त्रपुर से भृगुकच्छ आए। शास्त्रार्थ मे स्याद्वादवादी मुनि भुवन ने उन्हें भी परास्त कर दिया। इससे जैन शासन की महान् प्रभावना हुई।

गुडशस्त्रपुर मे एक वार यक्ष का उपद्रव होने लगा था। जैन सघ विशेपत इस उपद्रव से आक्रान्त था। गुडशस्त्रपुर से समागत मुनि द्वय के द्वारा विस्तृत विवरण सहित दु खद घटनाचक्र की सूचना आचार्य खपुट को मिली। इन मुनियो को जैन सघ ने ही प्रेपित किया था। आचार्य खपुट इस घटना से निर्वेद को प्राप्त हुए। भुवन शिष्य को उन्होने अपनी कपर्दिका (विशिष्ट विद्या से सम्वन्धित पुस्तक) सौंपी और कहा—"एपा कपर्दिका वत्स नोन्मोच्या कौतुका-दपि"-वत्स ! यह कपर्दिका मैं तुम्हे दे रहा हू। न किसीके हाथ मे देना है, न कौतुक वश होकर भी कभी इसे खोलना है। समग्र प्रकार से उचित प्रशिक्षण देकर आचार्य खपुट भृगुपुर से चले और गुडशस्त्रपुर पहुचे। वहा सघ से मिलकर समग्र

स्थिति को जाना। वे यक्षायतन मे गए एव यक्ष के कानो मे उपानह् डालकर सो गए। पुजारी इस व्यवहार से प्रकुपित हुआ। यह बात राजा के कानो तक पहुचाई। राजकीय पुरुषो द्वारा आचार्य खपुट की पिटाई होने लगी, पर सब विस्मयाभिभूत हो गए। यष्टि-प्रहार आचार्य खपुट की पीठ पर हो रहा था, करुण क्रन्दन अन्तपुर से सुनाई दे रहा था। राजा समझ गया यह चमत्कार उस विद्यासिद्ध योगी का है।[४] वह खपुटाचार्य के पास पहुचा एव अपने कठोर आदेश के लिए क्षमा मागी। इस विद्या बल से प्रभावित होकर राजा उनका परम भक्त बना[५] एव यक्ष-प्रतिमा भी उन्हे द्वार तक पहुचाने आयी। खपुटाचार्य का नाम मुख पर गूज उठा। यक्ष का उपद्रव पूर्णत शान्त हुआ।

आर्य खपुट जैन सघ को आश्वस्त करने हेतु उपद्रव शान्त हो जाने के बाद भी कुछ दिन तक वही रुके। इधर भृगुपुर मे विचित्र घटना घट गयी। मुनि द्वय भृगुपुर से आर्य खपुट के पास पहुचे। उन्होने निवेदन किया—"आर्य! आपके द्वारा निषेध करने पर भी आपकी कपर्दिका को भुवन शिष्य ने खोला। उससे उसे आकृष्टि महाविद्या प्राप्त हो गई है। वह इस विद्या का दुरुपयोग कर रहा है।

तत्प्रभावाद् वराहार मानीय स्वदतेतराम्।

प्रतिदिन गृहस्थो के घर से आकृष्टि महाविद्या के द्वारा सरस-सरस आहार को खीचकर उसने उसका उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया था। रस-लोलुप भुवन को स्थविरो ने बार-बार रोका। वह उसे सहन नही कर सका। स्थिति विकट हो गयी। जैन सघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर विद्या के गर्व से गुर्राता हुआ भुवन बौद्धो के साथ जा मिला। वहा इसी विद्या के आधार पर आकाश-मार्ग से पात्रो को बौद्ध उपासको के घर भेजता है और भोजन से परिपूर्ण होने के बाद उन्हे वापस खीच लेता है। इस चमत्कारिक विद्या के प्रभाव से अनेक जैन बौद्ध होने लगे। सारी स्थिति आपके ध्यान मे ला दी है। 'यदुचित तत्कुरुध्वम्'—अब जैसा उचित हो वैसा करे।" आर्य खपुट मुनियो द्वारा समग्र घटना-प्रसग को सुनकर वहा से चले और भृगुपुर पहुचे। प्रच्छन्न रूप से कही स्थित होकर आर्य खपुट ने विद्याबल के द्वारा आकाश मार्ग से समागत शिष्य भुवन के भोजनपूरित पात्रो को शिला प्रहार से खण्ड-खण्ड कर दिया।[६] भग्न पात्रो से मोदक आदि नाना प्रकार का स्वादिष्ट भोजन लोगो के मस्तक पर गिरने लगा।[७] शिष्य भुवन ने समझ लिया, उसके प्रभाव को प्रतिहत करने वाले आचार्य खपुट आ चुके है। वह नाना प्रकार के कल्पित भय से घबरा कर वहा से भाग गया। आर्य खपुट का मुख-मुख से जय-जयकार होने लगा।[८]

पाटलिपुत्र मे जैन सघ के सामने भयकर राजकीय सकट उपस्थित हुआ। वहा के राजा दाहड का जैन श्रमणो को आदेश मिला—वे ब्राह्मण वर्ग को नमन करें

अन्यथा उनका शिरच्छेद होगा। राजा की इस घोषणा से जैन सघ मे चिन्ता हुई। यह जीवन-सकट का प्रश्न नही, धर्म-सकट का प्रश्न था।

देहत्यागान्न नो दु ख शासनस्याप्रभावना

देहत्याग से उन्हे दु ख नही था पर शासन की अप्रभावना पीडित कर रही थी। अतिशय विद्यासम्पन्न आर्य खपुट और उनका शिष्य मडल ही इस सकट से जैन सघ को बचा सकता है।

जैन सघ ने भृगुपुर मे दो गीतार्थ स्थविर मुनियो को आचार्य खपुट के पास प्रेपित किया। आर्य खपुट ने समग्र स्थिति को समझा एव प्रतिकारार्थ अपने विद्वान शिष्य महेन्द्र को वहा भेजा। राजा दाहड की सभा मे ब्राह्मण पण्डितो के सम्मुख मुनि महेन्द्र द्वारा लाल एव धवल कणेर के माध्यम से विद्या-प्रयोग का प्रदर्शन जैन सघ के हित मे हुआ। राजा दाहड झुक गया एव श्रमण वर्ग के लिए प्रदत्त कठोर आदेश हेतु मुनि महेन्द्र से क्षमा याचना की। बार-बार राजा दाहड यही कहता रहा

क्षमस्वैक व्यलीक मे (२८) (प्रभा० चरित, पृ० ३५)

इस घटना-प्रसग से जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई। राजा दाहड जैन धर्म का भक्त बन गया।[९]

कुछ समय के बाद शिष्य भुवन ने भी अपने गुरु के पास आकर स्वकृत अविनय की क्षमा-याचना की और श्रमण सघ मे मिल गया।[१०] गुरु ने भी उसे योग्य समझकर बहुमान दिया। गुणवान्, विनयवान्, चरित्रवान् एव श्रुतवान् बनकर भुवन ने सघ को विश्वस्त किया। आचार्य खपुट ने शिष्य भुवन को सूरि पद पर स्थापित कर अनशनपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया।[११] आर्य कालक की भाति अनेक चामत्कारिक घटनाए खपुटाचार्य के जीवनवृत्त के साथ जुडी हुई है।

उनके चामत्कारिक प्रसगो के आधार पर प्रभावक चरित्र आदि साहित्य मे वे सर्वत्र विद्यासिद्ध आचार्य के रूप मे विशेषित हैं। टीकाकार मलयगिरि ने उन्हे विद्या चक्रवर्ती का सम्बोधन देकर अतिशय विद्याओ पर उनका प्रबल आधिपत्य सूचित किया है।[१२]

श्रीवीरमुक्तित शतचतुष्टये चतुरशीतिसयुक्ते।
वर्षाणा समजायत श्रीमानाचार्य खपुटगुरु ॥७९॥

(प्रभा० चरित, पृ० ४३)

प्रभावक चरित के उक्त उल्लेखानुसार आचार्य खपुट का समय वी० नि० ४८४ (वि० स० १४) है।

आधार-स्थल

१ अइसेस इड्ढि-धम्मकहि वादि-आयरिय-खमग-णेमित्ती ।
विज्जा-राया-गण-समना य तित्थ पभावेंति ॥३३ ।

(निशीथ भाष्य चूर्णि)।

२ नेमित्ती अट्ठ ग-णिमित्त-सपण्णो । विज्जासिद्धो जहा अज्जखउडो ।

(निशीथ चूर्णि)।

३ कापि गच्छेऽनेकातिशयलब्धिसम्पन्ना श्री आर्यखपटा नाम आचार्यसम्राज ।

(प्रबन्धकोश,खपुटाचार्य, प्रबन्ध पृ० ६, पक्ति १६)

४ तदाकर्ण्य नृपो दध्यौ विद्यासिद्धोऽसौ ध्रुवम् ॥१६२॥

(प्रभावक चरित, पृ० ३३)

५ राजा प्रबोध्य सद्य श्रावक कृत ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० १०, पक्ति २५)

६ पूर्णानि तानि भोज्यानामायान्ति गगनाध्वना ।
गुरुभि कृतयाऽदृश्यशिलया व्योम्नि पुस्फुटु ॥१७७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ३४)

७ पतन्ति पात्रेभ्य शालि-मण्डक-मोदकाद्य शाश्च लोकस्य मस्तकेषु । -

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पक्ति ३)।

८ जय जय महर्षिकुलशेखर! —इत्यादि स्तुतीरतनिष्ट ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पक्ति ५)

९ प्रतिबोधितो राजा विप्रलोकश्च । एव प्रभावनाऽभूत् ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पक्ति २०)

१० भुवनोऽपि बौद्धान्परिहृत्य स्वगुरुणा मीलित ।

(प्रबन्धकोश खपुटाचार्य प्रबन्ध पृ० ११ पक्ति २१)

११ आर्यखपटा सूरिपद भुवनाय दत्त्वाऽनशनेन धामारुरुहु ।

(प्रबन्धकोश, खपुटाचार्य, प्रबन्ध, पृ० ११, पक्ति २३)

१२ विज्जाणचक्कवट्टी विज्जासिद्धो स जस्स वेगाऽवि ।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व ॥

(आवश्यक मलय पृ० ५४१)

२२. पारस-पुरुष आचार्य पादलिप्त

आचार्य पादलिप्त गगन-गामिनी विद्या के स्वामी एव शातवाहन वशी राजा हाल की सभा मे शोभाप्राप्त विद्वान् थे। आठ वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर दस वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद के दायित्व को पा लेना उनकी महती योग्यता का सूचक है।

न्यायनीति-कुशल, शक्तिशाली राजा विजय वर्मा के द्वारा शासित कौशल नगरी मे आचार्य पादलिप्त का जन्म हुआ। कौशल नगरी के निवासी विपुल श्री-सम्पन्न श्रेष्ठी फुल्लचन्द्र उनके पिता थे। उनकी माता का नाम प्रतिमा था। प्रतिमा रूपवती एव गुणवती महिला थी। उसकी वाक् माधुरी के सामने सुधा घूट भी नीरस प्रतीत होती। विविध गुणो से सम्पन्न होने पर भी नि सन्तान होने के कारण प्रतिमा चिन्तित रहती। अनेकविध औपधियो का प्रयोग तथा नाना प्रकार के जन्त्र-मन्त्र आदि भी उसकी चिन्ता को मिटा न सके। एक बार उसने सन्तान-प्राप्ति हेतु वैरोट्या देवी की आराधना मे अष्ट दिन का तप किया। तप के प्रभाव से देवी प्रकट हुई। उसने कहा—"ज्ञान-सागर, बुद्धि-उजागर, लब्धिसम्पन्न आचार्य-नागहस्ती के पाद प्रक्षालित उदक का पान करो, उससे तुम्हे पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी।"[1]

आचार्य नागहस्ती विद्याधर गच्छ के थे। विद्याधर गच्छ विद्याधर वश के श्रुताम्भोनिधि युगप्रधान आचार्य कालक से सम्बन्धित था।[2]

देवी के मार्ग-दर्शन से प्रतिमा प्रसन्न हुई। वह भक्ति-भरित हृदय से उपाश्रय मे पहुची। आचार्य नागहस्ती के पाद-प्रक्षालित उदक की उपलब्धि अपने सम्मुख आते हुए एक मुनि के द्वारा उसे हुई।

आचार्य नागहस्ती से दस हाथ की दूरी पर चरणोदक पान करने के कारण उसे महाकान्तिमान्, द्युतिसम्पन्न दस सन्तानो की प्राप्ति बतलाई। प्रथम पुत्र के महाप्रभावी होने का सकेत भी उन्होने दिया।

चम्पक, कुसुम आदि नाना सुमनो के मकरन्द पान से उन्मत्त मधुपो की ध्वनि के समान मधुर गिरा से सभाषण करती हुई प्रतिमा विनम्र होकर बोली—"गुरु-देव, मैं अपनी प्रथम सन्तान को आपके चरणो मे समर्पित करूगी।" कृतज्ञता

ज्ञापन कर महान् आशा के साथ वह अपने गृह लौटी। श्रेष्ठी फुल्लचन्द्र भी पत्नी प्रतिमा से समग्र वृत्तान्त सुनकर प्रसन्न हुए और गुरुचरणो मे प्रथम सन्तान को समर्पित कर देने की बात को भी उन्होने पर्याप्त समर्थन दिया।

काल-मर्यादा सम्पन्न होने पर प्रतिमा ने कामदेव से भी अधिक रूपसम्पन्न, सूर्य से भी अधिक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के गर्भकाल मे प्रतिमा ने नाग का स्वप्न देखा था। स्वप्न के आधार पर पुत्र का नाम नागेन्द्र रखा गया। माता की ममता और पिता के वात्सल्य से परम पुष्टता को प्राप्त बालक दिन-प्रतिदिन विकास को प्राप्त होता रहा एव परिजनो के स्नेहसिक्त वातावरण मे वह बढता गया।

पुत्र जन्म से पूर्व ही उसे धर्म सघ को समर्पित कर देने हेतु प्रतिमा वचनवद्ध हो चुकी थी, अत पूर्ण जागरूक रहकर अभिभावक वर्ग ने नागेन्द्र को सरक्षण दिया।

शुभ लग्न एव शुभ मुहूर्त मे अष्टवर्षीय नागेन्द्र को आचार्य नागहस्ती ने दीक्षा प्रदान की। मण्डन मुनि की अध्यक्षता मे बालक मुनि का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।[३]

मुनि नागेन्द्र की शीघ्रग्राही वुद्धि थी। स्वल्प समय मे ही अनेकविध विषयो के साथ लक्षण, प्रमाण साहित्य पर उनका अच्छा अधिकार हो गया।[४]

एक दिन मुनि नागेन्द्र जल लाने के लिए गए। गोचरी से निवृत्तहोकर उपाश्रय मे लौटने के बादईर्या पथिकी आलोचना करने के बाद गुरु के समक्ष उन्होने एक श्लोक बोला—

अव तवच्छीए अपुप्फिय पुप्फदतपतीए।
नवसालिकजिय नववहूइ कुडएण मे दिन्न ॥३८॥

(प्रभा० च०, पृ० २९)

ताम्र की भाति ईषत् रक्ताभ, पुष्पोपम दन्तपक्ति की धारिणी नववधू ने मृण्मय पात्र से यह काजी जल प्रदान किया है।

शिष्य के मुख से शृगारमयी भाषा मे काव्य को सुनकर गुरु कुपित हुए। रोपारुण स्वरो मे वे बोले—"पलित्तओसि।" यह शब्द प्राकृत भाषा का रूप है एव रागाग्नि से प्रदीप्त भावो का द्योतक है।

सद्योत्तर प्रतिभा मुनि नागेन्द्र के पास थी। गुरु द्वारा उच्चारित शब्द को अर्थान्तरित कर देने हेतु मुनि नागेन्द्र ने नम्र होकर कहा—"आर्य! पलित्त मे एक मात्रा बढाकर उसको पालित्त बना देने का मुझे आप द्वारा प्रसाद प्राप्त हो। मात्रा वृद्धि से पलित्तओ का सस्कृत मे पादलिप्त हो जाता है। पादलिप्त शब्द से मुनि नागेन्द्र का तात्पर्य था

"गगनगमनोपायभूता पादलेपविद्या मे देहि येनाह 'पादलिप्तक' इत्य-

भिधीये।"—मुझे गगन गमन मे उपायभूत पादलेप विद्या का दान करे जिससे मैं पादलिप्तक कहलाऊ।

एक मात्र की वृद्धि मात्रा से पलित शब्द को विलक्षण अर्थ प्रदायिनी मुनि नागेन्द्र की प्रज्ञा पर गुरु प्रसन्न हुए और उन्होने पादलेप से प्राप्त गगनगामिनी विद्या शिष्य को प्रदान की। इस विद्या के आधार पर ही मुनि नागेन्द्र का नाम पादलिप्त प्रसिद्ध हो गया था।

प्रभावक चरित मे पादलिप्तक के स्थान पर पादलिप्त शब्द है—"पादलिप्तो भवान् व्योमयानसिद्ध्या विभूषित" ॥८१॥

प्रस्तुत सदर्भ मे मैंने पादलिप्त एव पादलिप्तक दोनो शब्दो का प्रयोग किया है।

दस वर्ष की अवस्था मे गुरु ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त किया।[५] आचार्य पादलिप्त के शिशुकाल मे ही गुरु ने उनकी माता से बालक के सघ मुख्य होने का सकेत कर दिया था। गुरु की भविष्यवाणी सत्य प्रमाणित हुई।

एक बार आचार्य पादलिप्त का मथुरा से पाटलीपुत्र मे पदार्पण हुआ। पाटलीपुत्र का राजा मुरुण्ड था।[६] छह महीनो से उसे मस्तिष्क-पीडा बाधित कर रही थी। अनेक प्रकार के उपचार किए गए पर किसी प्रकार की चिकित्सा वेदना को उपशान्त न कर सकी। राजपरिवार मे निराशा छा गयी थी। तभी महाप्रभावी आचार्य पादलिप्त के आगमन की बात सुनी। राजा का आदेश प्राप्त कर मत्री पादलिप्त के पास गया और निवेदन किया :

शिरोर्तिनिर्वर्त्यताम्, कीर्तिधर्मौ सचीयेताम्"

(प्रबन्धकोश, पृ० १२, पक्ति २५)

आर्य! राजा के मस्तिष्क-पीडा को निर्वर्त्तन कर कीर्त्ति धर्म का उपार्जन करें। मत्री की प्रार्थना पर आचार्य पादलिप्त वहा पहुचे।

प्रदेशिनी अगुली को अपने जानु पर घुमाकर क्षण-भर मे उन्होने राजा के सिरदर्द को ठीक कर दिया।[७] कला-कौशल से किसी भी व्यक्ति को अपना बनाया जा सकता है। पादलिप्त की मत्र-विद्या से पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त कर महाराज मुरुण्ड उनके परम भक्त बन गए। इस घटना के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध श्लोक है

जह जह पएसिणि जाणुयमि पालित्तउ भमाडेइ।
तह तह से सिरवियणा पणस्सई मुरुण्डरायस्स ॥५६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ३०)

महाराज मुरुण्ड एव पादलिप्त से सम्बन्धित कई घटनाए इतिहास-प्रसिद्ध एव पादलिप्त के बुद्धि-कौशल की परिचायिकाए है।

शत्रुञ्जय की यात्रा करते समय आचार्य पादलिप्त का मिलन निमित्त विद्या निष्णात श्रमण सिंह सूरि और रौद्रदेव सूरि से हुआ था। उनसे प्रभावक विद्याओ

की उपलब्धि आचार्य पादलिप्त को हुई।

एक बार पादलिप्त के वैदुष्य से प्रभावित लाट देश के पण्डितो ने उनसे प्रश्न किया

पालित्तय ! कह सु फुड सयल महिमडल भमतेण।
दिट्ठ सुय च कत्थ वि चदणरससीयलो अग्गी ॥१०९॥
(प्रभा० चरित, पृ० ३१)

महिमण्डल पर भ्रमण करते हुए आपने कही अग्नि को चन्दन रस के समान शीतल देखा या सुना है ?

पादलिप्त ने त्वरा से काव्यमयी भाषा मे उत्तर दिया

अयसाभियोग सदूमियस्स पुरिसस्स सुद्धहियस्स।
होइ वह तस्स दुह चदणस्स सीयलो अग्गी ॥१११॥
(प्रभा० चरित, पृ० ३२)

—जो व्यक्ति पवित्र हृदय के है उन्हे अपनी अकीर्तिजन्य दु ख के सामने अग्नि भी शीतल चन्दन के समान प्रतीत होती है।

आचार्य पादलिप्त की प्रत्युत्पन्न प्रतिभा का प्रभाव विद्वानो के हृदय मे गहरा अकित हो गया।

यही पर खपुटाचार्य के शिष्य मुनि महेन्द्र से पादलिप्त का मिलन हुआ था। दक्षिण दिशा मे परिभ्रमण करते हुए आचार्य पादलिप्त ने प्रतिष्ठानपुर की ओर प्रस्थान किया। उनके आगमन की चर्चा वहा के दानवीर शासक शातवाहन की विद्वन्मडली मे चली। पण्डितो ने शरद्कालीन सघन (जमा हुआ) घृत से भरा कटोरा एक व्यक्ति के साथ उनके सम्मुख भेजा। आचार्य पादलिप्त तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। वे विद्वानो की भावना को भाप गए। उन्होने घृत मे सूई डालकर कटोरे को लौटा दिया। विद्वानो का अभिमत था

एवमेतन्नगर विदुषा पूर्ण मास्ते, यथा घृतस्य पात्र तस्माद्विमृश्य प्रवेष्टव्यम्।
(प्रबन्धकोश, पृ० १४, पक्ति १४)

—शातवाहन की नगरी घृत से भरे कटोरे की भाति विद्वानो से भरी है। इस बात का नगरी मे प्रवेश करने से पूर्व भली भाति चिन्तन कर ले।

आचार्य पादलिप्त का उत्तर था

"घृत से भरे कटोरे मे जैसे सूई समा गयी है उसी प्रकार विद्वानो से मण्डित शासक शातवाहन की नगरी मे मैं प्रवेश पा सकूगा।" आचार्य पादलिप्त की विद्वत्ता का शातवाहन की विद्वन्मण्डली पर भारी प्रभाव हुआ। आचार्य पादलिप्त के नगर-प्रवेश के समय विद्वद् वर्ग सहित नृप ने सम्मुख जाकर स्वागत किया।

यात्रा के क्रम मे एक बार आचार्य पादलिप्त सौराष्ट्र मे विहरण करते हुए ढकापुरी मे पहुचे। वही पर उनको नागार्जुन शिष्य की उपलब्धि हुई। क्षत्रिय

पुत्र नागार्जुन नाना प्रकार की औषधियो का परिज्ञाता था। स्वर्ण बनाने की रसायन विद्या भी वह जानता था।

एक दिन प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य पादलिप्त के आगमन की बात उसने सुनी। स्वागत मे शिष्य के द्वारा स्वर्ण निर्मायक रसायन से भरा पात्र उनके पास भेजा। आचार्य पादलिप्त ने उसे पत्थर पर पटककर तोड डाला एव काच पात्र को स्व-प्रस्रवण से भरकर उसी शिष्य के साथ लौटा दिया। कटोरे को ढक्कन उठाकर विद्वान् नागार्जुन ने उसे सूघा। भारी दुर्गन्ध उसमे फूट रही थी। आचार्य पादलिप्त के इस व्यवहार से नागार्जुन कुपित हुआ एव पात्र को शिलाखण्ड पर पटका। प्रस्रवण का स्पर्श होते ही अग्नि प्रज्वलित हुई एव शिलाखण्ड स्वर्ण बनकर चमक उठा। आचार्य पादलिप्त के प्रस्रवण स्पर्श से भी स्वर्णसिद्धि देख, अपनी रसायन विद्या पर गर्व करने वाले रसायनवेत्ता विद्वान् नागार्जुन का गर्व मिट्टी मे मिल गया।

वह आचार्य पादलिप्त की सन्निधि मे रहने लगा।' गगन-गामिनी विद्या प्राप्त करने का अभिलाषी विद्वान् नागार्जुन प्रशान्तभाव से उनकी देह-सुश्रूषा एव चरण-प्रक्षालन का कार्य करता। आर्य पादलिप्त पैरो पर लेप लगाकर तीर्थ भूमिक गिरिशृगो पर प्रतिदिन गगन-मार्ग से जाते और आते थे। उनके आवागमन का यह कार्य एक मुहूर्त मे सम्पन्न हो जाता था। विद्याचरण लब्धि के धारक साधको की-सी क्षमता आर्य पादलिप्त मे थी। आर्य नागार्जुन उनके पाद-प्रक्षालित उदक के वर्ण-गन्ध-स्वाद आदि को समझकर, सूघकर, चखकर १०७ द्रव्यो का ज्ञाता हो गया।' आचार्य पादलिप्त की भाति विद्वान् नागार्जुन भी पैरो पर लेप लगाकर आकाश मे उडता पर पूर्ण ज्ञान के अभाव मे वह ताम्रचूड पक्षी की तरह थोडी ऊचाई पर जाकर नीचे गिर पडता एव घायल हो जाता था। पैरो के घाव को देखकर आचार्य पादलिप्त विद्वान् नागार्जुन की असफलता का कारण समझ गए और उनसे बोले, "कुशल मनीषी! तुम्हारी इस अपूर्णता का कारण गुरुगम्य ज्ञान का अभाव है।' ज्ञान-प्राप्ति की दिशा मे अह का साथ नही निभता।" आचार्य पादलिप्त से दिशा-दर्शन पाकर विद्वान् नागार्जुन उनके चरणो मे गिरा एव गगनगामिनी विद्या की माग की। आचार्य पादलिप्त ने पुन कहा—"मेरे से प्रशिक्षण पाने हेतु शिष्य बनना आवश्यक है।' विद्वान् नागार्जुन ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। उदारवृत्तिक आचार्य पादलिप्त ने पादलेप विद्या का समग्रता से बोध देते हुए कहा—"शिष्य! तुम्हे एक सौ सात औषधियो का ज्ञान उपलब्ध है। इनके साथ काजीजल-मिश्रित साठी तण्डुल का लेप करो।" तुम निर्बाध गति से गगन यात्रा कर सकोगे।" गुरु के मार्ग-दर्शन से नागार्जुन को अपने कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आचार्य पादलिप्त को धर्म प्रचार मे विद्वान् शिष्य नागार्जुन का अत्यधिक

सहयोग मिला। आचार्य नागार्जुन ने आर्य पादलिप्त का अपने पर महान् उपकार माना है। उनकी पावन स्मृति मे आर्य नागार्जुन की प्रेरणा से शत्रुञ्जय पर्वत की तलहटी मे बसे एक नगर का नाम पालितायण हुआ था।

मानखेटपुर के राजा कृष्ण एव ओकार पुर के राजा भीम भी आचार्य पादलिप्त की प्रतिभा पर मुग्ध थे।

आर्य पादलिप्त महान् साहित्यकार थे। उन्होने 'प्रश्न प्रकाश', 'निर्वाणकलिका' आदि उत्तम ग्रन्थो की रचना की। 'तरग लोला' नामक एक चम्पू काव्य का निर्माण कर राजा शातवाहन की सभा मे उसका व्याख्यान किया। काव्य सुनकर राजा तुष्ट हुआ। कवीन्द्र के नाम से आर्य पादलिप्त की ख्याति हुई। कवियो ने भी मुक्त कठ से प्रशसा की। राजसम्मानिता-गुणज्ञा गणिका ने उनकी स्तवना मे एक शब्द भी न कहा। राजा शातवाहन पादलिप्त से बोले—"तत्क्रियता येन स्तुते।' आर्य ऐसा उपक्रम करे जिससे यह गणिका भी आपके इस काव्य की स्तुति मे हमारे साथ हो। प्रभावक चरित्र के अनुसार गणिका के स्थान पर पाचाल कवि का उल्लेख है। आचार्य पादलिप्त के काव्य श्रवण से सब सन्तुष्ट थे पर असूयाक्रात पाचाल कवि काव्य मे दोषो को आरोपित कर रहा था।

आचार्य पादलिप्त कवि ही नही थे, चामत्कारिक विद्याओ पर भी उनका अधिकार था। वे उपाश्रय मे गए एव पवन-जय सामर्थ्य से श्वास की गति का अवरोध कर पूर्ण निश्चेष्ट हो गए। उनकी कपट पूर्ण मृत्यु भी यथार्थ मृत्यु की प्रतीति करा रही थी। सर्वत्र हाहाकार फूट पडा। आर्य पादलिप्त का शवयान नगर के प्रमुख मार्गों से ले जाया जा रहा था। वाद्यो की ध्वनि उठ रही थी। शवयात्रा पाचाल कवि के द्वार तक पहुची। आचार्य पादलिप्त को शवयान मे देखते ही शोक-पूरित कवि पाचाल रो पडा और बोला

आकर सर्वशास्त्राणा रत्नानामिव सागर ।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ॥३४०॥

(प्रभा० च० पृ० ३९)

—रत्नाकर की भाति समग्र शास्त्रो के आकर महासिद्धिपात्र आचार्य पादलिप्त थे। ईर्ष्यावश मैं उनके गुणो से भी परितुष्ट नही हुआ। मेरे जैसे असूयी व्यक्ति को कभी मोक्ष की प्राप्ति नही होगी। आचार्य पादलिप्त उच्च कोटि के कवि थे।

सीस कहवि न फुट्ट जमस्स पालित्तय हरतस्स ।
जस्स मुहनिज्झराओ तरगलोला नई वूढा ॥३४१॥

(प्रभा० चरित, पृ० ३९)

—जिनके मुख निर्झर से 'तरग लोला' नदी प्रवाहित हुई उन पादलिप्त के प्राणो को हरण करने वाले यमराज का सिर फूटकर दो टूक क्यो न हो गया।

कवि पांचाल के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर आचार्य पादलिप्त उठ बैठे और बोले—"मैं कवि जी के सत्य वचन के प्रयोग से जीवित हो गया हूं।" आचार्य पादलिप्त मे प्राण-शक्ति का संचार देख सभी के मुख कमल-दल की भांति मुस्करा उठे।

प्रबन्धकोष के अनुसार इस विस्मयकारक घटना को देखकर गणिका बोली—"मुने! आप मरकर भी हमारे मुख से स्तुति पाठ करवाते हैं।"

पादलिप्त ने कहा, "पञ्चम वेद का ज्ञान मृत्यु के बाद ही होता है।" आचार्य पादलिप्त के उत्तर से शोकपूरित वातावरण खिलखिला उठा।

आचार्य पादलिप्त अपने युग के प्रकृष्ट विद्वान् थे। वह युग प्राकृत का उत्कर्ष काल था। 'तरंगवती कथा' आचार्य पादलिप्त की सरस प्राकृत रचना है। यह प्राकृत कथासाहित्य का आदिस्रोत भी है। आचार्य पादलिप्त ने एक दिन में राजा सातवाहन विरुद् गौरव कथा का निर्माण कर राजा सातवाहन की सभा में इसका वाचन किया था। आचार्य उद्योतन की कुवलयमाला में पादलिप्त एवं तरंगवती कथा का उल्लेख है। नेमिचन्द्र द्वारा निर्मित १६४२ गाथाओं का 'तरंग लोला' नामक ग्रन्थ आचार्य पादलिप्त की कथा का ही संक्षिप्त रूप माना गया है।

राजा सातवाहन स्वयं भी कवि था। उसकी कृति 'गाथा सप्तति' अनेक कवियों की रचना का संकलन है। उसमें पादलिप्त का काव्य श्लोक भी है।

आचार्य पादलिप्त के जीवन के मुख्य प्रसंग—बाल्यकाल में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण, धर्मप्रचारार्थ मथुरा, पाटलिपुत्र, लाट, सौराष्ट्र शत्रुञ्जय आदि अनेक स्थानों पर भ्रमण, मुरुण्ड आदि कई राजाओं को प्रतिबोध देकर उन्हें सुलभ बोधि बनाने के सफल प्रयत्न और तरंगवती जैसे उच्चकोटि के प्राकृत काव्य का निर्माण है।

प्रभावी आचार्य पादलिप्त शत्रुञ्जय पर्वत पर ३२ दिवसीय अनशन के साथ स्वर्गगामी हुए।[1] प्रोफेसर लॉयमन ने आचार्य पादलिप्त का समय ई० स० दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है। इस आधार पर आचार्य पादलिप्त वी० नि० की ७वीं (वि० २) शताब्दी के विद्वान् प्रतीत होते हैं।

आधार-स्थल

१ श्री कालिकाचार्यसन्ताने विद्याधरगच्छे श्रुतसमुद्रपारग श्री आचार्य नागहस्ति गुरुणा-मनेकलब्धिमता पुत्रेच्छया पादप्रक्षालजलं पिब।

(पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० ९२, पंक्ति १५)

२ अथो फणीन्द्रकान्ताऽसावादिदेश सुते ! शृणु ।
पुरा नमि-विनम्याख्यविद्याधरवरान्वये ॥१४॥
आसीत् कालिकसूरि श्रीश्रुताम्भोनिधिपारग ।
गच्छे विद्याधराख्यस्यार्यनागहस्तिसूरय ॥१५॥

(प्रभावक चरित, पृ०,२८ प १४-१५)

३ गुरुभिरागत्याष्टमे वर्षे दीक्षित । मण्डनाभिधस्य मुने पार्श्वे पाठित

(प्रबन्ध कोश, पृ० स० १२)

४ लसल्लक्षण-साहित्य-प्रमाण-समयादिभि ।
शास्त्रैरनुपमो जज्ञे विज्ञेशो वर्षमध्यत ॥३४॥

(प्रभावक चरित, पृ० स० २६)

५ इत्यसौ दशमे वर्षे गुरुभिर्गुरुगौरवात् ।
प्रत्यष्ठाप्यत पट्टे स्वे कषपट्टे प्रभावताम् ॥४२॥

(प्रभावक चरित पृ० स० २६)

६ दिनानि कतिचित् तत्र स्थित्वाऽसौ पाटलीपुरे ।
जगाम तत्र राजास्ति मुरण्डो नाम विश्रुत ॥४४॥

(प्रभावक चरित, पृ० स० २६)

७ तत सूरीन्द्रो राजकुल गत्वा मन्त्रशक्त्या क्षणमात्रेणशिरोर्तिमपहरतिस्म ।

(प्रबन्धकोश पृ० स० १२ पक्ति २६)

८ स च विद्याध्ययनार्थं पादलिप्तक पुरे-पादलिप्ताचार्यं विद्यार्थी सेवते ।

(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० स० १ पक्ति ११)

९ आगताना नागार्जुनश्चरणक्षालन कृत्वा स्वाद वर्ण गन्धादिभि सप्तोत्तर शतमौषधाना ममीलयत् ।

(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० स० ९१, पक्ति १३)

१० गुरुभिरुक्तम्—गुरून् विना कला कथ फलदा स्यु ।

(पुरातन प्रबन्धक सग्रहपृ० स० ९१, पक्ति १७)

११ आरनालमिश्रतन्दुलैर्नकेनौषधानिपिष्ट्वा पादलेपे खगमनसिद्धि ।

(पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० स० ९४, पक्ति ३, ४)

१२ अथ प्रभु शत्रुञ्जये रदनसख्योपवासानशनेन ईशानेन्द्रसामानिकत्वेनोदपद्यतेति ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १४, पक्ति २६)

२३. विलक्षण वाग्मी आचार्य वज्र स्वामी

सौभाग्यनिधि प्रकृष्ट वाग्मी आचार्य वज्र स्वामी का जीवन विलक्षण विशेषताओं से मंडित था। शैशव काल में भी उनका मानस विरक्ति के झूले में झूलता रहा। दुग्धपान के साथ एकादशांगी का अमृत पान कर वे अध्यात्म पोष को प्राप्त हुए। गृहस्थ जीवन में भी दीक्षागुरु द्वारा उनका नामकरण हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में भी मातृवात्सल्य को ठुकराकर साधु-संगति से प्यार किया। आठ वर्ष की अवस्था में वे त्याग के पथ पर बढ चले। रूपश्री एव वाग्माधुर्य पर मुग्ध श्रेष्ठी पुत्री रुक्मिणी को संयम मार्ग की पथिका बनाने का श्रेय भी उन्हें है। वे आचार्यों की परम्परा में अन्तिम दश पूर्वधर थे एव गगन-गामिनी विद्या के उद्धारक थे।[1]

अवन्ति देश के अन्तर्गत स्वर्गीय नगर तुम्बवन मे आर्य वज्र का जन्म हुआ। उनका परिवार सब प्रकार से सम्पन्न था, सुखी था। उनके पितामह श्रेष्ठी धन उस नगर के समृद्ध व्यक्ति थे। अपने सौम्य, औदार्य, गाम्भीर्य आदि गुणो से समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त थे।

आर्य वज्र स्वामी के पिता का नाम धनगिरि था। आर्य वज्र जब गर्भ मे थे तभी उनके पिता श्री धनगिरि ने आर्य सिहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण कर ली थी। उनके दीक्षा ग्रहण करने की घटना विचित्र है।

धनगिरि विवेकसम्पन्न बालक थे। सासारिक विषयो के प्रति कमल की भाति निर्लेप थे। उसी नगर मे महालक्ष्मी का स्वामी धनपाल रहता था। वह प्रसिद्ध व्यापारी था। धनपाल के पुत्र का नाम समित था एव पुत्री का नाम सुनदा था। धनगिरि की भाति समित भी भोगो के प्रति अनासक्त था। श्रुत मलयाचल आर्य सिहगिरि के आगमन पर परम वैराग्य को प्राप्त समित ने उनसे दीक्षा ग्रहण की। गुणवती सुनदा तब तक अवस्था प्राप्त हो चुकी थी। धनपाल को पुत्री के विवाह की चिन्ता का भार अधिक समय तक वहन नही करना पडा। सुनदा धनगिरि के रूप और गुणो पर मुग्ध थी। उसने एक दिन अपने विचार पिता के सम्मुख प्रस्तुत किए।[2] सम्भवत उस युग मे भी लडकिया वर-चुनाव मे स्वतन्त्र थी। धनपाल ने भी पुत्री के विचारो को ठीक समझा। धनगिरि से इस सबध की बातचीत की

औरअपनी रूपवती कन्या सुनदा से पाणि ग्रहण करने के लिए उन्होने आग्रह किया। विरक्त धनगिरि के मानस मे भोग-कामना की कोई रेखा अकित नही थी। उन्होने निस्पृह भाव से अपने विचारो को प्रस्तुत करते हुए दामाद बनाने को उत्सुक श्रेष्ठी धनपाल से कहा

सुहृदा सुहृदा किं स्याद् वन्धन कर्तुमौचिती।

—३८ श्लोक

—अपने ही मित्रजनो को भव भ्रामक वधन मे डालना स्वजनो के लिए कहा तक समीचीन है? धनगिरि की प्रश्नात्मक शैली मे उपदेशमयी भाषा सुनकर श्रेष्ठी धनपाल गभीर हुए एव अध्यात्मभावभूमि पर भावो को अभिव्यक्ति देते हुए वोले, "भवार्णव पारगामी ऋषभ प्रभु ने भी ससार के कर्त्तव्य को निभाने हेतु इस वधन को स्वीकार किया था। अत मेरी वात किसी प्रकार से अनुचित नही है।" नारी को वधन मानते हुए भी धनगिरि श्रेष्ठी धनपाल के आग्रह को टाल न सके। उन्होने अन्यमनस्क भाव से उनके निवेदन की मौन स्वीकृति प्रदान की।

शुभ मुहूर्त्त एव शुभ घडी मे सुनदा एव धनगिरि का विवाह उल्लासमय वातावरण मे सम्पन्न हुआ। सासारिक भोगो का भोगते हुए उनका जीवन सानद वीतता गया। एक दिन सुनदा गर्भवती हुई। स्वप्न के आधार पर पुत्ररत्न का आगमन जान पति-पत्नी दोनो को प्रसन्नता हुई।

धनगिरि ने अपने को धन्य माना। उन्हे लगा अपनी मनोकामना पूर्ण करने का अव उचित अवसर उपस्थित हो गया है। अपनी भावना को पत्नी के सामने प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा, "आर्ये! नारी का वाल्यकाल मे पिता के द्वारा, यौवन मे पति के द्वारा एव वार्धक्य अवस्था मे पुत्र के द्वारा सरक्षण प्राप्त होता है।[1] तुम्हारे स्वप्न के आधार पर तुम नि सदेह पुत्र के सौभाग्य को प्राप्त करोगी। तुम्हारे मार्ग मे अव किसी प्रकार की चिन्ता अवशिष्ट नही रही है। मै भी अपने कर्त्तव्य-ऋण को उतार चुका हू। अव तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक सयम-मार्ग पर वढने के लिए आज्ञा प्रदान करो।" नारी का मानस सदा भावुक होता है। मधुर वातो से उसे किसी वात के लिए उकसाया जा सकता है, मनाया जा सकता हे एव भरमाया जा सकता है। सौम्य हृदया सुनदा एक ही वार मे पति के प्रस्ताव पर सहमत हुई एव उसने व्रत ग्रहण करने के लिए सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी।

उत्तम पुरुष श्रेय कार्य मे क्षणमात्र भी किसी की प्रतीक्षा नही करते। पत्नी के द्वारा आदेश-स्वीकृति मिलते ही श्रेष्ठीपुत्र धनगिरि जीर्ण धागे की तरह प्रेम-वन्धन को तोडकर महा त्याग के कठिन पथ पर चल पडे। उनके दीक्षा-प्रदाता गुरु आर्य सिंहगिरि थे।

आर्य समित एव धनगिरि परस्पर साला-वहनोई थे। दोनो का सवध सुनदा के निमित्त से जुडा हुआ था। जैन शासन मे दोनो प्रभावी मुनि थे। पैरो पर लेप

लगाकर नदी तैरने वाले ५०० तापसो के विस्मयाभिकारक मायावी आवरण को हटाकर भ्रान्त जनता के सामने सत्य धर्म का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने वाले आर्य समित एव प्रचार मे अनन्य सहयोगी मुनि धनगिरि आर्य सिंहगिरि के दो सुदृढ भुजा स्वरूप थे। इन मुनियो के सहयोग से आर्य सिंहगिरि का धर्म-प्रचार दिन प्रतिदिन उत्कर्ष पर था।

इधर गर्भकाल की स्थिति सम्पन्न होने पर सुनदा ने महातेजस्वी पुत्ररत्न को वी० नि० ४९६ (वि० २६) मे जन्म दिया। पुत्र-जन्मोत्सव मनाने की तैयारिया प्रारम्भ हुई। कई सखिया सुनदा को घेरकर खडी थी। जन्मोत्सव की आनन्दमय घडी मे धनगिरि का स्मरण करती हुई वे बोली—"बालक के पिता धनगिरि प्रव्रज्या ग्रहण नही करते और इस समय उपस्थित होते तो आज जन्मोत्सव के हर्षोल्लास का रूप कुछ दूसरा होता। स्वामी के बिना घर की शोभा नही होती। चन्द्र के बिना नभ की शोभा नही होती।"

नारी जन के आलाप-सलाप को नवजात शिशु ने सुना। उसका ध्यान प्रस्तुत वार्तालाप पर विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। भीतर ही भीतर ऊहापोह चला। तदावरण क्षीण होता गया। ज्ञानावरोधक कर्म के प्रबल क्षयोपशम भाव का जागरण होते ही बालक को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई।[१] चिन्तन की धारा आगे बढी। सोचा, महापुण्यभाग पिता ने सयम ग्रहण कर लिया है। मेरे लिए भी अब वही मार्ग श्रेष्ठ है। उस उत्तम पथ की स्वीकृति मे मा की ममता बाधक बन सकती है। ममत्व के गाढ बन्धन को शिथिल कर देने हेतु बालक ने रुदन करना प्रारम्भ कर दिया। वह निरन्तर रोता रहता है। सुनदा सुखपूर्वक न सो सकती थी, न बैठ सकती थी, न भोजन कर सकती थी। घर का कोई भी कार्य वह व्यवस्थित रूप से नही कर पाती थी। उसने बालक को प्रसन्न करने के नाना प्रयत्न किए। किसी प्रकार की राग-रागिनी उसके क्रदन को बन्द न कर सकी और न अन्य प्रकार के साधन भी उसे लुभा सके। सुनदा बहुत अधिक स्नेह देती, प्यार करती, मधुर लोरिया गा-गाकर उसे सुलाने का प्रयत्न करती पर, बालक का रुदन कम न हुआ। छह महीने पूर्ण हो गए, किसी भी यन्त्र, मन्त्र, औषध-चिकित्सा का उस पर प्रभाव न हुआ। सुनदा बालक-क्रदन से खिन्न हो गई।

एव जग्मुस्तस्य षण्मासा षट् वर्षशतसन्निभा ॥५५॥ प्रभा० च०, पृ० ३

—उसे छह मास भी छह सौ वर्ष जैसे लगने लगे।

एक दिन आर्य सिंहगिरि का तुम्बवन नगर मे पदार्पण हुआ। आर्य समित एव मुनि धनगिरि भी उनके साथ थे। प्रवचनोपरात गोचरी के लिए धनगिरि ने गुरु से आदेश मागा। उसी समय पक्षीरव सुनाई दिया। निमित्त ज्ञान के विशेषज्ञ आचार्य सिंहगिरि ने कहा—"मुने! यह पक्षी का शब्द शुभ कार्य का सकेतक है। आज तुम्हे भिक्षा मे सचित्त-अचित्त जो कुछ भी प्राप्त हो उसे बिना विचार किए

ले आना। अतुच्छधी प्रसन्नमना धनगिरि ने गुरु के निर्देश को 'तथेति' कह स्वीकृत किया और अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ चले। दोनो ने सर्वप्रथम सुनदा के गृह की पूर्व परिचित राह पकडी। आर्य समित एव धनगिरि को आते देख सखी जनो ने सुनदा को उनके आगमन की सूचना दी और कहा—"सुनन्दे! चिन्ता-मुक्त होने के लिए सुन्दर अवसर उपस्थित हुआ है। वालक के पिता मुनि धनगिरि स्वय तुम्हारे प्रागण को शीघ्र पवित्र करने वाले है। उन्हे अपने पुत्र का दान कर सुखी वनो।"

वालक के अनवरत रुदन से सुनदा को सखियो की वात पसन्द आयी। वह आगमन से पूर्व ही पुत्र को गोद मे लेकर खडी हो गयी। आर्य समित एव मुनि धनगिरि सुनदा के घर पहुचे। सुनदा ने उनको वन्दन किया और बोली—"मुने! पुत्र के अनवरत रुदन से मै खिन्न हू। माता-पिता दोनो पर सन्तान के सरक्षण का दायित्व होता है। इतने दिन वालक का पालन मैने किया है। अव आप इस दायित्व को सभाले। इसे अपने पास रखे। वालक मेरे पास रहे या आपके पास इसकी कोई चिन्ता नही। यह सुखी रहेगा इसमे मुझे प्रमोद है।"

दूरदर्शी मुनि धनगिरि ने कहा—"मै इस पुत्र को दान मे स्वीकार कर सकता हू पर भविष्य मे इस घटना से कोई जटिल समस्या पैदा न हो जाए, अत विग्रह-विवाद से वचने के लिए साक्षीपूर्वक यह कार्य करो। अभी से सोच लेना, भविष्य में तुम किसी प्रकार की माग पुत्र के लिए नही रख सकोगी।"

निर्वेद प्राप्त सुनदा वोली—"इस समय आर्य समित और ये मेरी सखिया भी साक्षी है। मै अपने पुत्र के लिए भविष्य मे किसी प्रकार का प्रश्न खडा नही करूगी।"[५]

सम्यक् प्रकार से कार्य की भूमिका को सुदृढ बनाकर मुनि धनगिरि ने वालक को पात्र मे ग्रहण कर लिया। मुनि धनगिरि के पास आते ही वालक चुप हो गया मानो उसे अपना लक्ष्य मिल गया हो।

मुनि धनगिरि वालकसहित पात्र को उठाकर चले। गुरु के समीप पहुचे। भारी पात्र से मुनि धनगिरि का हाथ लचक रहा था, कधा झुक गया था। चलने मे भी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। आर्य सिहगिरि मुनि धनगिरि को अधिक भार सहित आते देख उनका सहयोग करने के लिए उठे और धनगिरि के हाथ से पात्र को अपने हाथ मे लिया। आर्य सिहगिरि को भी पात्र अपने हाथ मे छूटता-सा लग रहा था। उनके मुह मे शब्द निकला—"यह वज्रोपम क्या उठा लाए हो?" सहज भाव से उच्चारित वज्र शब्द वालक का स्थायी नाम वन गया। आज भी उनकी प्रसिद्धि वज्र स्वामी के रूप मे है।

'होनहार विरवान के होत चिकने पात' यह लोकोक्ति वालक वज्र के जीवन मे सत्य प्रतीत हो रही थी। उसका सौम्य वदन, तेजस्वी भाल एव चमकते नेत्र

शुभ भविष्य की सूचना दे रहे थे। निमित्त ज्ञानी आर्य सिंहगिरि को लगा, यह बालक प्रवचनाधार एव धर्म सघ का विशेष प्रभावक होगा। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद प्राप्त पुत्र का जितना हर्ष एक पिता को होता है उनमे शतगुणाधिक आनन्द आर्य सिंहगिरि को बालक वज्र की उपलब्धि से हुआ। वे साध्वियो के उपाश्रय मे शय्यातर महिला को शिशु सरक्षण का दायित्व सभलाकर लोक कल्याणार्थ वहा से प्रस्थित हुए।

शय्यातर श्राविका बालक के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखती, माता जैसा प्रगाढ स्नेह देती। स्नान, दुग्ध-पान, शयन आदि की सम्यक् व्यवस्था करती। बालक का अधिकाश समय साध्वियो के परिपार्श्व मे बीतता। झूले मे झूलता हुआ बालक वज्र अतन्द्र रहकर साध्वियो के स्वाध्याय को सुनता एव शास्त्रीय पद्यो की स्पष्टोच्चारण विधि तथा प्रत्येक शब्द के व्यजन, स्वर, मात्रा, बिन्दु, घोष पर विशेष ध्यान रखता। श्रवण मात्र से बालक को एकादशागी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया था।' शिशु के इस ज्ञान ग्रहण-कौशल को कोई नही जान सका।

सुनदा साध्वियो के दर्शनार्थ आया करती थी। उसने सम्यक् सरक्षण मे प्रफुल्ल वदन अपने पुत्र को देखा। मा का ममत्व जाग गया। उसे लेने की स्पृहा जगी। साध्वियो से भी पुत्र को लौटा देने के लिए उसने बहुत बार अनुनय-विनय भी किया। साध्वियो ने उसे समझाया। बहिन ! वस्त्र, पात्र की भाति भक्ति भाव से प्रदत्त इस बालक को भी लौटाया कैसे जा सकता है। तुम्हारा पुत्र म माह है। तुम यहा आकर इसका लालन-पालन कर सकती हो। गुरुदेव के आदेश बिना इसे घर नही ले जा सकती। कुछ समय तक सुनदा वही पुत्र को स्नेह प्रदान कर अपनी मनोकामना पूर्ण करती रही। "आम्र का स्वाद इमली मे नही आता।" यही स्थिति सुनदा की थी।

आर्य सिंहगिरि का पुन तुम्बवन मे पदार्पण हुआ। सुनदा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की माग की। उसकी प्रार्थना स्वीकृत नही हुई। मुनि ने कहा—"कन्यादान की भाति उत्तम पुरुषो के वचन भी बार-बार बदले नही जाते।"

एव विमृश धर्मज्ञे ! नो वा सन्त्यत्र साक्षिण ।

—धर्मज्ञे ! जिनको साक्षी बनाकर तुमने दान दिया था वे भी उपस्थित है। तू अपने वचन की सम्यक् प्रतिपालना कर। पुत्र गुरु की निधि हो चुकी है। उसपर अब तुम्हारा कोई अधिकार नही है।

निरुपाय सुनदा राजा के पास पहुची और न्याय मागा। उस युग मे न्याय निष्पक्ष था। नारी हो या पुरुष, धनी हो या निर्धन, न्याय सबके लिए समान व सुलभ था। एक नारी को न्याय देने के लिए राजा ने समघ मुनिजनो को आमत्रित किया।

"धर्माधिकरणा युक्तै पृष्ठौ पक्षावुभावपि ॥८२॥ प्रभा० च०, पृ० ४

—न्यायाधिकारी वर्ग ने उभय पक्ष की बात सुनी। एक ओर पुत्र की याचना,

करती हुई माता दुष्प्रतिकार्य थी, दूसरी ओर धर्म सघ का प्रश्न था। मुनिजनो की दृष्टि मे माता द्वारा स्वेच्छा एव साक्षीपूर्वक प्रदत्त दान धर्म सघ की सपदा हो चुकी थी। इस जटिल गुत्थी को सुलझाने के लिए राजा ने गभीर चिंतन किया और उभय पक्ष के सामने उन्होने घोषणा सुना दी "यह वालक स्वरुचि से जिसके पास जाना चाहता है वह उसी का है।" उस समय पुरुप ज्येष्ठ की मान्यता प्रवल होते हुए भी न्यायी राजा ने मातृ-ममता पर विचार कर वालक को प्रभावित करने के लिए प्रथम अवसर सुनदा को दिया। वह वालक के निकट आयी एव मधुर भोजन तथा क्रीडनार्थ खिलौने देकर उसे अपनी ओर वुलाने लगी। वालक मा की ममता से निरपेक्ष एव उदास वैठा था। सुनदा अपने प्रयत्न मे पूर्ण असफल रही।

द्वितीय अवसर पिताश्री मुनि धनगिरि को प्राप्त हुआ। मुनि ने वालक के सामने धर्मध्वज रखा और सरल सहज भाषा मे बोले—"वत्स! तू तत्त्वज्ञ है। कर्म रजो को हरण करने वाला यह रजोहरण तुम्हारे सामने है। प्रसन्नमना तू इसे ग्रहण कर।

उत्प्लुत्य मृगवत् सोऽथ तदीयोत्सङ्गमागत ।
जग्राह चमराभ तच्चारित्रधरणीभृत ।।८८।।

प्रभा० चरित, पृ० ५

—वालक वज्र मृगशावक की भाति ऊपर उछला एव मुनिजनो के चामराकृति रजोहरण को लेकर उनके उत्सग मे वैठ गया। न्याय मुनि धनगिरि की तुला पर चढ गया। मगल ध्वनिपूर्वक जय-जय रव से दिग्-दिगत गूज उठा। राजा ने सघ को सम्मान दिया। इस समय वालक तीन वर्ष का था।

सरल स्वभावी सुनदा ने चिन्तन किया—मेरे सहोदर समित एव प्राणाधार पति दीक्षित हो चुके है एव पुत्र भी श्रमण वनने के लिए दृढ सकल्प कर चुका है। मेरे लिए भी अव यही पथ श्रेष्ठ है। परम विरक्त भाव को प्राप्त सुनदा आर्य सिंहगिरि के पास दीक्षित हुई और श्रमणी समूह मे मिल गयी। श्रमणी सघ की प्रमुखा का नाम-निर्देश नही है।

आर्य वज्र की दीक्षा आठ वर्ष की अवस्था मे वी० नि० ५०४ (वि० ३४) मे हुई थी। वालक वज्र मुनि कोमल प्रकृति के थे। सहज, नम्र एव आचार के प्रति दृढ निष्ठावान् थे। श्रमण परिवार से परिवृत आर्य सिंहगिरि विहारचर्या मे एक वार किसी पर्वत की तलहटी तक पहुच पाए थे। तीव्रधार दुर्निवार वर्षा प्रारम्भ हुई। वादलो की गरज, झपाझप कौधती विजलियो की चमक प्रलयकारी रूप प्रस्तुत कर रही थी। स्वल्प समय मे ही धरा जलाकार दिखाई देने लगी, आवागमन के रास्ते वन्द हो गए। तोय जीवो की विराधना से वचने के लिए श्रमण सघ को गिरि-कन्दरा मे वही रुक जाना पडा। उपदेशमाला के अनुसार इस समय ससघ आर्य

सिंहगिरि अवन्ति के उद्यान मे स्थित थे। आहारोपलब्धि की सभावना न देख तप पूत्त, क्षमाप्रधान, परीपह विजेता, समता रस लीन अध्यात्मपीन श्रमणो ने उपवास व्रत स्वीकार कर लिया।

यह असामयिक अतिवृष्टि प्रकृति का प्रकोप नही देवमाया थी। बाल मुनि वज्र के चरित्रनिष्ठ जीवन की परीक्षा के लिए पूर्व भव के मित्र जृंभक देवो ने कुतूहलवश इस सघन घनाघन घटा पटल का निर्माण किया था।

वर्षा के रुकने पर उपासक वणिक् आर्य सिंहगिरि के पास आए और गोचरी की प्रार्थना की। आचार्य की अनुमति पा वज्रमुनि माधुकरी वृत्ति के लिए अक्लात अखिन्न मनसा उठे एव द्वार तक पहुचकर वे रुक गए। नन्ही-नन्ही बूदे तब तक आ रही थी। वर्षा पूर्ण रुक जाने पर ईर्या समितिपूर्वक मद-मद अनुद्विग्न गति से चलते हुए सयोगवश वे उसी बस्ती मे प्रविष्ट हुए जो देव-निर्मित थी। मानव के रूप मे देव गण बाल मुनि वज्र को अपने गृह मे ले गया एव भक्तिभावपूर्वक दान देने को प्रस्तुत हुआ।

बाल मुनि आर्य वज्र भिक्षा की गवेपणा मे जागरुक थे। इस अवसर पर प्रदीयमान सामग्री को अशुद्ध आधाकर्मी दोपयुक्त देवपिण्ड जानकर उसे लेना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। भिक्षा मे द्रव्य से कुष्माण्डपाक क्षेत्र से मालव देश मे प्राप्त हो रहा था। काल से ग्रीष्म काल का समय था। भाव की दृष्टि से अनिमिप नयन, अम्लान कुसुम मालाधारी व्यक्ति भोज्य सामग्री प्रदान कर रहा था। दान-प्रदाता के चरण धरा से ऊपर उठे हुए थे। इस प्रकार का दान मानव वशज से सभव नही था। कुष्माण्ड पाक ग्रीष्म काल मे और मालव देश मे सर्वथा अप्राप्य था। आर्य वज्र की दृष्टि मे यह आहार देवपिण्ड था तथा देवता के द्वारा दिया जा रहा था। साधु के लिए देवपिण्ड आहार सर्वथा अकल्प्य है, यह जान वज्र मुनि ने महान् क्षुधा मे बाधित होने पर भी उसे ग्रहण नही किया।[७]

जृंभक देवो ने प्रकट होकर वज्र मुनि के उच्चतम साधनानिष्ठ जीवन की प्रशसा की एव नाना रूप निर्मात्री वैक्रिय विद्या उन्हे प्रदान कर वे लौटे।

आर्य वज्र के सामने आहार-पानी की गवेपणा मे उत्तीर्ण होने का एक अवसर और प्रस्तुत हुआ। ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्नकाल मे माधुकरी वृत्ति मे व्यस्त बाल-मुनि वज्र को देखकर जृंभक देव पुन धरती पर वैक्रिय शक्ति द्वारा मानव-रूप बनाकर आए एव प्रार्थनापूर्वक वज्र मुनि को देव-निर्मित गृह मे ले गए। श्रावक रूप मे प्रकटीभूत जृंभक देवो ने मुनि को दान देने के लिए घृत निष्पन्न मिष्टान्न (मिठाई) से भरा थाल प्रस्तुत किया। थाल मे शरद्कालीन मिष्टान्न थे। ग्रीष्म ऋतु मे इस प्रकार की मिष्टान्न सामग्री को देखकर वज्र मुनि सभल गए। उसे देवपिंड समझकर उन्होने ग्रहण नही किया।

भाग्यवान् व्यक्तियो को पग-पग पर निधान मिलता है। आर्य वज्र स्वामी के

जृ भक देव पूर्व जन्म के मित्र थे। उनके आचार कौशल को देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए एव इस समय उन्हे गगन-गामिनी विद्या प्रदान की।

सुविनीत आर्य वज्र के पास श्रुत सपदा का गभीर अध्ययन था। एक वार आर्य सिंहगिरि शौचार्थ वाहर गए। माधुकरी मे प्रवृत्त अन्य मुनि भी उस समय उपाश्रय में नही थे। वाल मुनि आर्य वज्र स्थान पर अकेले थे। नीरव वातावरण से उनके मन मे कई प्रकार के भाव जागृत हुए। आगम वाचना प्रदान करने की उत्सुकता जगी। वातावरण को भी सर्वथा अनुकूल पाया। वाचना प्रदान करने के कार्य मे कोई भी वाधक व्यक्ति वहा पर नही था। अपने चारो ओर श्रमणो के उपकरणो को रखकर उन्हे ही श्रमणो का प्रतीक मानकर वाचना प्रदान का कार्य मुनि वज्र ने प्रारभ किया। मनोनुकूल कार्य मे सहज लीनता आ जाती है। वज्र मुनि भी वाचना प्रदान कार्य मे तल्लीन हो गए। उन्हे समय का भी भान न रहा। आर्य सिंहगिरि उपाश्रय के निकट आए। उन्हे मात्रा विन्दु सहित आगम पद्यो का स्पष्ट उच्चारण सुनाई दे रहा था। मधुर-मधुर ध्वनि ने आर्य सिंहगिरि के मन को मुग्ध कर दिया। आगम के प्रत्येक पद्य का अतीव सुन्दर सागोपाग विवेचन सुनकर आर्य सिंहगिरि शिशु मुनि वज्र की प्रतिभा पर आश्चर्यविभोर थे।

अप्रकटीकृतशक्ति शक्तोऽपि नरस्तिरस्कृति लभते।
निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलित ॥१६॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१२)

शक्ति गुप्त रहने पर सबल व्यक्ति भी तिरस्कार को प्राप्त होते है। अन्तर्निहित अग्निक काष्ठ को लाघा जा सकता है, प्रज्वलित काष्ठ को नही।

वैयावृत्यादिषु लघोर्माऽवज्ञाऽस्य भवत्विति।
ध्यात्वाऽऽहुर्गुरव शिष्यान् विहार कुर्महे वयम् ॥१२८॥
(प्रभा० च०, पृ० ६)

ज्ञान-गुणसम्पन्न आर्य वज्र की योग्यता अज्ञात रहने पर स्थविर मुनियो द्वारा वैयावृत्य आदि कराते समय किसी प्रकार की अवज्ञा न हो इस हेतु से मेरा अन्यत्र प्रस्थान प्रयुक्त होगा। यह सोच दूसरे दिन आर्य सिंहगिरि ने शिष्य समूह को देशान्तर का निर्णय सुना दिया। अध्ययनार्थी मुनियो ने निवेदन किया—"गुरुदेव! हमे वाचना कौन प्रदान करेगे?" आर्य सिंहगिरि ने लघु शिष्य मुनि वज्र का नाम वाचना प्रदानार्थ प्रस्तुत किया।

"निर्विचार गुरोर्वच" गुरु के वचन अतर्कणीय होते है। विनीत शिष्य मण्डल ने 'तथेति' कहकर आर्य सिंहगिरि के आदेश को निर्विरोध स्वीकार किया।

स्थविर मुनियो से परिवृत आर्य सिंहगिरि का विहार हुआ एव आर्य वज्र ने शिष्य समूह को वाचना देनी प्रारभ की। लघुवय होने पर भी आर्य वज्र का विशद ज्ञान एव तत्त्व वोध प्रदान करने की पद्धति सुदर थी। मदमति शिष्य भी सुखपूर्वक

आर्य वज्र से वाचना को ग्रहण करने लगे। कतिपय समय के वाद आर्य सिंहगिरि का आगमन हुआ। श्रमण वर्ग को आर्य वज्र की वाचना से सतुष्ट पाया। वाचनाचार्य के रूप मे आर्य वज्र की नियुक्ति के लिए स्वय मुनिजनो ने आचार्य देव से प्रार्थना की थी।

श्रुत्वेति गुरव प्राहुर्मत्वेद विहृत मया।
अस्य ज्ञापयितु युष्मान् गुणगौरवमद्भुतम् ॥१२५॥

(प्रभा० चरित, पृ० ६)

आर्य सिंहगिरि वोले—"मैं पहले ही मुनि वज्र की योग्यता को परख चुका था पर तुम्हे इससे अवगत कराने के लिए मैंने अन्यत्र विहार किया था। गुरु की दूरदर्शिता पर श्रमण सघ हर्षित हुआ एव प्रतिभासपन्न-सुविनीत योग्य शिष्य को पाकर आर्य सिंहगिरि को पूर्ण तोष था।

मुनि वज्र शिष्य समूह को वाचना देते और स्वय भी आर्य सिंहगिरि से तपो-विधिपूर्वक अध्ययन करते। आगम निधि आचार्य सिंहगिरि के पास जितना ज्ञान था उसे वालमुनि वज्र की सुतीक्ष्ण प्रतिभा पूर्णरूप से ग्रहण कर चुकी थी। आर्य सिंहगिरि ने उनको विशेष अध्ययनार्थ दश पूर्वधारी भद्रगुप्त के पास जाने का मार्ग-दर्शन दिया।

गुरु का आदेश प्राप्त कर आर्य वज्र ने दशपुर से अवन्ति की ओर विहार किया। वे अवन्ति नगर के वहिर्भूभाग की सीमा तक पहुचे तव तक सध्या हो चुकी थी। उन्होंने रात्रि-निवास नगर के वाहर ही कही किया। उसी रात्रि मे आचार्य भद्रगुप्त ने स्वप्न देखा

पात्र मे पयसा पूर्णमतिथि कोऽपि पीतवान्।

(प्रभा० च०, पृ० १२६)

—दूध से भरा हुआ मेरा पात्र था, कोई अतिथि आकर पी गया। रात्रिकालीन इस स्वप्न की वात आर्य भद्रगुप्त ने अपनी शिष्यमडली से कही और इस स्वप्न के आधार पर अपना विश्वास प्रकट करते हुए वे वोले—"दश पूर्वो का ग्राहक विद्यार्थी अवश्य मेरे पास आएगा।" वात के प्रसग मे ही आर्य वज्र वहा पहुच गए।

प्रतिभासम्पन्न, पूर्व ज्ञानराशि को ग्रहण करने मे सक्षम-सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को पाकर आर्य भद्रगुप्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होने सप्रयास अपना सपूर्ण अधीत-श्रुत उन्हे पढाया। दश पूर्व ज्ञानामृत का समग्रता से पान कर आर्य वज्र को भी परम तृप्ति की अनुभूति हुई। निर्धारित लक्ष्यसिद्धि के वाद आर्य भद्रगुप्त ने उन्हे पुन अपने गुरु के पास जाने का आदेश प्रदान किया। सुविशाल ज्ञान-सपदा का अर्जन कर वे आर्य सिंहगिरि के पास आए।

शिष्य की योग्यता से गुरु को सतोष हुआ। सघ ने होनहार शिष्य का सम्मान किया।

आचार्य सिहगिरि इस समय वृद्ध हो चुके थे। अव वे उत्तरदायित्व से मुक्त होना चाहते थे। उन्होने वैसा ही किया। सुयोग्य शिष्य आर्य वज्र को वी० नि० ५४८ (वि० ७८) मे आचार्य पद पर नियुक्त कर वे सघ-चिता से मुक्त वने। पूर्व जन्म के मित्र देवो ने इस अवसर पर महान् उत्सव मनाया।[८] आर्य वज्र स्वामी सघ का सकुशल नेतृत्व करते हुए पाच सौ श्रमणो के साथ विहरण करने लगे। उनके व्यक्तित्व मे रूप-सौदर्य एव वाक्-माधुर्य का अनुपम सयोग था।

एक वार श्रमण परिवार से परिवृत वज्र स्वामी का पदार्पण पाटलिपुत्र मे हुआ। पाटलिपुत्र के उद्यान मे वे ठहरे।

पाटलिपुत्र के राजा पर आर्य वज्र स्वामी के व्यक्तित्व का प्रभाव पहले से ही अकित था। उनके आगमन की सूचना पाकर वे हर्षित हुए एव वज्र स्वामी के स्वागतार्थ दल-वल सहित चले उज्जयिनी की ओर। श्रमणो के अलग-अलग दल शीघ्र गति से चलते हुए आ रहे थे। सवके वाद विशाल मुनि मडली से परिवृत आर्य वज्र को दूर से आते देखकर राजा का मन प्रफुल्ल हो उठा। भक्तिपूरित श्रावक की भाति मुकुलित पाणि एव नत मस्तक मुद्रा मे राजा ने विधिपूर्वक वज्र स्वामी को वन्दन किया एव 'अभिवदिओ अभिणदिओ' आदि शव्दो से उनका भव्य स्वागत किया था।

पाटलिपुत्र के उद्यान मे आर्य वज्र ने विशाल मानव-मेदिनी को सवोधित करते हुए मोह-विनाशिनी धर्मकथा प्रारभ की। घनरव-गभीर घोष मे वे वोले

खणदिट्ठनट्ठविहवे, खणपरियट्ठ तविविहसुहदुक्खे।
खणसजोगवियोगे, नत्थि सुह किंपि ससारे ॥५६॥

(उपदेशमाला विशेप वृत्ति, पृ० २१५)

—ससार प्रतिक्षण परिवर्तनधर्मा है। वैभव स्थायी नही है। सुख-दु ख, सयोग-वियोग का प्रतिक्षण चक्र चलता रहा है।

"पोइणिदलग्गजलविंदुचचलजीविय"—पद्मिनी दलाग्र पर स्थित जल-विंदु के समान जीवन अस्थिर है।

विलसिततडिलेहचचला लच्छी—विद्युत्लेखा की भाति लक्ष्मी चचल है। "ता जिणधम्म मोत्तूण सरण न हु किमपि ससारे"—जिनधर्म को छोडकर कही शरण नही है।

आर्य वज्र की अमृतोपम देशना को राजा के साथ राजकुमारो, श्रेष्ठी पुत्रो, प्रशासको, मन्त्रियो एव सहस्रो नागरिको ने भी सुना। आर्य वज्र की प्रभावोत्पादक वाणी से श्रोतागण मत्रमुग्ध हो गए। प्रवचनोपरात शहर मे वज्र स्वामी के प्रवचन की चर्चा होने लगी। यह चर्चा रुक्मिणी के कानो तक भी पहुची। रुक्मिणी पाटलिपुत्र के श्रीसम्पन्न धन श्रेष्ठी की पुत्री थी। वह यानशाला मे विराजित साध्वियो के द्वारा स्वाध्याय करते समय प्रतिदिन सुना करती थी

एस अखडियसीलो, बहुस्सुओ एस एस पसमड्ढो।
एसो य गुणनिहाण, एय सरित्थो परो नत्थि ।।४८।।

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

—अखडित शील, बहुश्रुत प्रशात भाव से सम्पन्न, गुणनिधान आर्य वज्र के समान दुनिया मे कोई दूसरा पुरुष नही है। "वइरस्स गुणे सरइदुनिम्मले" उनके गुण शरच्चन्द्र की भाति निर्मल है। रुक्मिणी वज्र स्वामी के यशोगान श्रवण मात्र से उनके व्यक्तित्व एव रूप-सौदर्य पर मुग्ध हो चुकी थी। पिता के सामने भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए उसने स्पष्ट कह दिया—"तात !

जइ मज्झ वरो वइरो, हो ही ताह विवाहमीहेमि।
जालाजालकरालो, जलणो मे अन्न हा सरण ।।२५०।।

(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पृ० २१४)

"मै वज्र स्वामी के साथ पाणिग्रहण करूगी, अन्यथा अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वालाओ की शरण ग्रहण कर लूगी। उत्तम कुल की कन्याए कभी दो बार वर का चुनाव नही किया करती।" पुत्री के द्वारा अग्निदाह की बात सुनकर वात्याचक्र के तीव्र झोको से प्रताडित पीपल के पत्ते की भाति धन श्रेष्ठी का दिल काप गया।

साहिति साहुणीओ, जहा न वइरो विवाहेइ ।।५१।।

(उप० वृत्ति, पृ० २१४)

रुक्मिणी को साध्वियो ने बोध देते हुए कहा—"आर्य वज्र श्रमण हो चुके है वे विवाह नही करेंगे।" रुक्मिणी दृढ स्वरो मे बोली, "मुझे भी प्रव्रजित होना स्वीकार है। आर्य वज्र के अतिरिक्त मेरा कोई वर नही होगा।" आर्य वज्र को पा लेने की प्रतीक्षा मे रुक्मिणी अपने दृढ सकल्प का वहन करती रही। तपस्या निष्फल नही जाती। दृढसकल्प शक्ति भी एक दिन अवश्य फलवान् होती है। कुछ समय के बाद आचार्य वज्र स्वामी का आगमन रुक्मिणी के सौभाग्य से पाटलिपुत्र मे हुआ। वह उनके दर्शन को उत्सुक बनी। सकल्प की बात पिता के सामने दुहराती हुई बोली—"श्रीमद् वज्राय मा यच्छ शरण मे अन्यथानल —तात ! मेरी मनोकामना पूर्ण करने का अवसर आ गया है। आर्य वज्र यहा पहुच चुके है। मुझे आप उन्हे समर्पित कर दे, अन्यथा मै अग्निदाह कर लूगी।" पुत्री के सकल्प से श्रेष्ठी धन एक बार पुन सिहर उठा। वह शत-कोटि सम्पदा के साथ रुक्मिणी कन्या को लेकर वज्र स्वामी की परिषद् मे पहुचा।

आर्य वज्र स्वामी के द्वारा प्रदत्त प्रथम देशना की प्रशसा सुनकर अत पुर मे हलचल हुई। रानिया भी आर्य वज्र के रूप-सौदर्य को देखने एव मधुर वाणी का रसास्वाद प्राप्त करने को उत्सुक बनी एव अनेक नारियो से परिवृत होकर वे धर्म-स्थान पर उपस्थित हुई। आर्य वज्र विविध लब्धियो के स्वामी थे। क्षीराश्रवलब्धि से उनकी वाणी मे मधु-मिश्रित दुग्ध जैसा मिठास आता था। राजपरिवारयुक्त

विशाल परिषद के सामने विरूपाकृति मे प्रस्तुत होकर आर्य वज्र ने पुष्करावर्त मेघ की नाई धाराप्रवाह प्रवचन दिया। लोगो के मन मे विचार उठने लगे

जइ नामरुवलच्छी हुति एयस्स तो न तिजए वि।
असुरोसुरो व विज्जाहारो व इमिणा समो हुतो ॥७१॥
(उप० वृत्ति, पृ० २१५)

आर्य वज्र मे अद्भुत वाक्-कौशल के साथ रूप भी होता तो सुर-असुर, विद्याधर कोई भी व्यक्ति इनकी तुलना मे नही आता। आर्य वज्र ने जनता की भावना को जाना एव तत्काल रूप-परिवर्तन किया। वे सहस्रारदलाकृति आसन पर स्थित अत्यन्त सौंदर्यसम्पन्न एव विद्युत्पुञ्ज की भाति प्रकाशवान दिखाई देने लगे। जनता उनके अनूप रूप पर चमत्कृत हुई और लोग कहने लगे—"नारिया इनके रूप-सौदर्य पर विमूढ न बन जाय सभवत इसीलिए आर्य वज्र ने देशना के प्रारभ मे विरूप रूप का प्रदर्शन किया था।" राजा ने भी उनके व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशसा की।

विस्मितानन समग्र सभा को देखकर आर्य वज्र बोले—"तपोधन, लब्धिसम्पन्न अणगार असख्यात सौदर्यसम्पन्न रूपाकृतियो का निर्माण कर सकता है। मैंने एक रूप का प्रदर्शन किया है इसमे आश्चर्य जैसा क्या है।"

श्रेष्ठी पुत्री रुक्मिणी आर्य वज्र के गुण-रूपसम्पन्न व्यक्तित्व की यशोगाथा सुनकर पहले से ही उन पर समर्पित हो चुकी थी। प्रवचोनपरात धन श्रेष्ठी आर्य वज्र स्वामी के निकट गया, वदन किया और नम्र शब्दो मे बोला—"आर्य ! आपका जैसा विस्मयकारी रूप है मेरी यह पुत्री भी रूप-सौदर्य मे कम नही है। शतकोटि सपदा सहित इसे स्वीकार करे।" आर्य वज्र ने कहा—"श्रेष्ठिन् ! तुम स्वय ससार मे वद्ध हो और दूसरो को भी वाधना चाहते हो ? जानते नही

कलुणा नराणमेए, भोगा भुयगव्व भीसणा भोगा।
महुलग्ग अग्गधारा, करालकरवाललिहणसमा ॥८०॥
किंपागाण व पागा, कडुयविवागा इमे मुहे महुरा।
भोगा मसाणभूमिव्व सव्वओ भूरि भयहेऊ ॥८१॥
किं वहुणा भणिएण, चउगइ दुक्खाणकारण भोगा।
ता किर को कल्लाणी, सल्लेसु व तेसु रज्जेज्जा ॥८२॥
(उप० वृत्ति, पृ० २१५)

—भोग भुजग के समान भीषण होते है। मधुलिप्त असिधारा के समान कष्ट कारक होते है। किम्पाक फल के समान मुख मधुर कटु विपाकी होते है। श्मशान भूमि की तरह भयप्रद होते है। अधिक क्या, चातुर्गतिक दु खो के कारण भोग है। कल्याण चाहने वाला व्यक्ति इनमे रजित नही होता।

"श्रेष्ठीवर ! भौतिक द्रव्य एव विषयानद का प्रलोभन देकर अनन्तआनद स्रोत

तप-सपदा को मेरे से छीन लेना चाहते हो, यह प्रयास रेणु के बदले रत्नराशि को, तृण के बदले कल्पवृक्ष को काक के बदले कोकिला को, कुटिया के बदले प्रासाद को क्षार जल से अमृत को पा लेने जैसा है। सयम-धन की तुलना मे ये विषयभोग तुच्छ हैं, क्षुद्र है। इनसे प्राप्त क्षण-भर का सुख महान् सकट का सूचक है। यह तुम्हारी पुत्री मेरे मे अनुरक्त है। छाया की भाति मेरा अनुगमन करना चाहती है, उसकी चाह की सर्व सुदर राह यह है

मयादृत व्रत धत्ता, ज्ञानदर्शनसयुत ॥१४६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ६)

—ज्ञान दर्शन युक्त मेरे द्वारा आदृत इस त्यागमार्ग का अनुसरण करे।

आर्य वज्र स्वामी की सहज सुमधुर उपदेशधारा से रुक्मिणी के अतर्नयन खुल पडे। वह साध्वी बनी एव श्रमणी सघ मे सम्मिलित हो गयी।[1]

आर्य वज्र ज्ञान के निधान थे। आचाराग सूत्र के अतर्वर्ती महा परिज्ञा नामक अध्ययन से उन्होने गगन-गामिनी विद्या का उद्धार किया। इस विद्या से मानुषोत्तर पर्वत तक निर्वाध गति से गमन करने की क्षमता आ जाती है। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए श्रुतनिधि आर्य वज्र स्वामी ने पूर्वी भारत मे धर्म की अतिशय प्रभावना की।

एक बार आर्य वज्र स्वामी का पदार्पण पूर्व से उत्तर भारत मे हुआ। वहा पर अति क्षयकारी दुर्भिक्ष का विकट समय उपस्थित हुआ। धरा पर क्षुधा से आर्त्त लोग आकुल-व्याकुल हो उठे।

दुष्काल जनित सकट से घिर जाने पर शय्यातर सहित सम्पूर्ण सघ को पट पर बैठाकर गगन-गामिनी विद्या के द्वारा आकाश-मार्ग से उडते हुए वज्र स्वामी उत्तर भारत से महापुरी नगरी मे पहुचे थे। वहा पर भी राजकीय सकट उपस्थित होने पर पर्युषण पर्व के मनाने मे सुविधा न मिल सकी अत वे आकाश मार्ग से पुन सघ को माहेश्वरी उद्यान मे ले गए। इस समय उनकी इस चामत्कारिक विद्या से प्रभावित होकर सहस्रो जैनेतर व्यक्तियो ने वहा जैन धर्म स्वीकार किया।

महानिशीथ सूत्र के तृतीय अध्ययन मे चर्चित विषयानुसार वज्र स्वामी के युग मे पचमगल रूप नमस्कार महामत्र का सूत्रो के साथ सयोजन हुआ। उसके पहले 'पचमगल महाश्रुत' नामक यह एक स्वतत्र ग्रथ था और उसके व्याख्या ग्रथ भी पृथक् थे।

आर्य वज्र स्वामी से सबधित दक्षिणाचल की घटना विस्मयकारक है। एक बार वे यथोचित समय पर औषध लेना भूल गये थे। उन्हे अपनी स्मृति की क्षीणता पर आयुष्य की अल्पता का भान हुआ। इस समय उनके ज्ञानदर्पण मे भावी अत्यन्त भीषण दुष्काल के सकेत भी झलक रहे थे। श्रमण सघ को दुष्काल से बचाने के लिए वज्र स्वामी ने पाच सौ श्रमणो सहित वज्रसेन को सोपारक देश

की ओर जाने का आदेश दिया। द्वादश वर्षीय भयकर दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण विहारी श्रमण सघ को आहोरोपलब्धि कठिन हो गई।[१०] वज्र स्वामी ने आपत्कालीन स्थिति मे क्षुधा-शान्ति के लिए लब्धि पिंड (लब्धि द्वारा निर्मित भोज्य सामग्री) ग्रहण करने का और विकल्प मे अनशन स्वीकार का अभिमत शिष्यो के सामने प्रस्तुत किया। निर्मल चरित्र पर्याय के पालक आर्य वज्र स्वामी ने इस प्रकार के परामर्श प्रदान का प्रयोग शिष्यो के धृति परीक्षणार्थ ही किया होगा।

ताहे भणति सव्वे, भत्तेणेएण सामि ! अलमत्थु।
अणसणविहिणाऽवस्स, साहिस्सामो महाधम्म ॥३६॥
(उप० वृ०, पृ० २१८)

—सयमनिष्ठ श्रमणो ने एक स्वर मे कहा—"भगवन् ! सदोप आहार हमे किसी भी स्थिति मे स्वीकार नही है। भोजन बहुत किया है। अब अनशन विधिपूर्वक उत्कृष्ट चारित्र धर्म की आराधना मे अपने-आपको नियोजित करेगे।"

मरणान्तक स्थिति मे भी शिष्य गण का दृढ आत्मवल देखकर वज्र स्वामी प्रसन्न हुए एव विशाल श्रमण परिवार सहित आर्य वज्र स्वामी अनशनार्थ गिरि श्रृग की ओर प्रस्थित हुए। उनके साथ एक लघु वय का शिष्य था। अवस्था की अल्पता के कारण वज्र स्वामी उसे अनशन मे साथ लेना नही चाहते थे। उन्होने कोमल शब्दो मे शिष्य से कहा

अज्ज वि त वच्छ लहू ! अच्छ सु एत्थेव ताव पुरे ॥४१॥
(उप० वृ०, पृ० २१८)

—वत्स ! अनशन का मार्ग बहुत कठिन है ! तुम बालक हो। अब भी यही पुर या नगर मे रुक जाओ।

आर्य वज्र स्वामी द्वारा निर्देश मिलने पर भी कष्ट-सहिष्णु उच्च अध्यवसायी बाल मुनि रुकने के लिए प्रस्तुत नही हुआ। अनशन-पथ की कठोरता उसे तिलमात्र भी विचलित न कर सकी।

स्वेच्छापूर्वक बाल मुनि के न रुकने पर किसी कार्य के व्याज से उसे एक ग्राम मे प्रेषित कर ससघ वज्र स्वामी आगे बढ गए। कार्य-निवृत्त होकर वह शिष्य लौटा, उसे सघ का एक भी सदस्य दिखाई नही दिया। वह खिन्न हुआ, सोचा—मुझे इस पण्डित-मरण मे गुरुदेव ने अपना साथी नही बनाया, क्या मै इतना नि सत्त्व, निर्वीर्य, निर्बल हू ? वह वहा से चला—मेरे द्वारा उनकी तपोमयी ध्यान साधना मे किसी प्रकार का विक्षेप न हो यह सोच, वज्र स्वामी जिस गिरिश्रृग पर अनशनस्थ हो गए थे उसी पहाड की तलहटी मे पहुचकर तप्त पाषाण शिला पर पादोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया। तप्त शिला के तीव्र ताप से शिशु मुनि का नवनीत-सा कोमल शरीर झुलसने लगा। भयकर वेदना को समता से सहन करता हुआ लघुवय मुनि उन सबसे पहले स्वर्ग का अधिकारी बना। बाल मुनि की उत्तम

साधना को जैन धम की प्रभावना का निमित्त मान देव महोत्सव के लिए आए। देवागमन देखकर वज्र स्वामी ने श्रमण सघ को सूचित किया—अत्यन्त तीव्र परिणामों से भीष्ण तार-लहरी को सहन करता हुआ लघुवय मुनि का अनशन पूर्ण हो चुका है।

लघु शिष्य से पहले ही पाच सौ श्रमणो सहित आर्य वज्र स्वामी शैल शिखर पर आरोहण कर चुके थे। परम वैराग्य को प्राप्त श्रमणो ने देवगुरु का स्मरण किया। पूर्वकृत दोषो की आर्य वज्र के पास आलोचना की। गिरिखड पर अधिष्ठित देवी से आज्ञा लेकर यथोचित स्थान पर आसन ग्रहण कर मेरु की भाति अकम्प समाधिस्थ बने।

वे क्षण-भर के लिए विस्मित हुए। उनके भावो की श्रेणी चढी। चिन्तन चला—बाल मुनि ने स्वल्प समय मे ही परमार्थ को पा लिया है। चिरकालिक सयम प्रव्रज्या को पालन करने वाले हम भी क्या अपने लक्ष्य तक नही पहुच पाएगे? उत्तरोत्तर उनकी भाव-तरगे तीव्रगामी बनती रही। रात्रि के समय प्रत्यनीक देवो का उपसर्ग हुआ। उस स्थान को अप्रतीतिकर जानकर ससघ वज्र स्वामी अन्य गिरिशृग पर गए। वहा पर दृढ सकल्प के साथ अपना आसन स्थिर किया। मृत्यु और जीवन की आकाक्षा से रहित उच्चतम भावो मे लीन श्रमण प्राणो का उत्सर्ग कर स्वर्ग को प्राप्त हुए।

अनशन की स्थिति मे वज्र स्वामी का स्वर्गवास वी० नि० ५८४ (वि० स० ११४) मे हुआ।

पाच सौ श्रमणो सहित आर्य वज्र की समाधिस्थली गिरि मडल के चारो ओर रथारूढ इन्द्र ने रथ को घुमाकर प्रदक्षिणा दी, अत उस पवत का नाम रथावर्त पर्वत हो गया था।

आय वज्र स्वामी के तीन प्रमुख शिष्य थे—वज्रसेन, पद्म, आर्यरथ। वज्रसेन उनमे ज्येष्ठ थे।

दायित्व को वहन करने मे समर्थ एव गीतार्थ आचार्य सिहगिरि के कुशल पट्टधर आर्य वज्र स्वामी आठ वर्ष तक गृहस्थ जीवन मे रहे। कुल ८८ वर्ष की अपनी आयु मे ८० वप तक सयम पर्याय का उन्होने पालन किया एव ३६ वर्ष तक युगप्रधान पद को अलकृत किया।

आर्य वज्र स्वामी जैन शासन के सबल आधार-स्तम्भ थे। उनके स्वर्गगमन के साथ ही दसवें पूर्व की ज्ञान-सम्पदा एव चतुर्थ अर्धनाराच नामक सहनन की महान् क्षति जैन शासन मे हुई।[11]

कालिक सूत्रो का अपृथक्त्व व्याख्यान पद्धति (प्रत्येक सूत्र की चरण करुणानुयोग आदि चारो अनुयोगो पर विभागश विवेचन) भी आर्य वज्र स्वामी के बाद अवरुद्ध हो गई।[12]

युगप्रधान आचार्यों की परपरा मे वज्रस्वामी का जीवन-प्रसग अत्यन्त प्रभावक एव विस्मयकारी घटनाओ से अनुस्यूत है। वाज्रीशाखा (वायरी शाखा) का निर्माण आर्य वज्र स्वामी के नाम पर हुआ।

आधार-स्थल

१ जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ।
वदामि अज्जवइर अपच्छिमो जो सुअधराण ॥७६६॥
(आवश्यक निर्युक्ति, मलयवृत्ति, भाग २, पत्राक ३६०)

२ धणपालसेट्ठिधूया, भणइ सुनदत्ति तमि चेव पुरे।
देह मम धणगिरिणो, जेणाह त वसे नेमि ॥१४॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्राक २०७)

३ 'जेण कुमारीण पिया, जोव्वणभरभारियाण भत्तारो।
थेरत्ते पुत्तो पुण, नारीण रक्खओ होइ ॥२२॥
(उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्राक २०७)

४ ता ऊसवो स सन्नी, निम्मलमइनाणसगओ सुणइ।
महिलाण तमुल्लाव जाइसरणो तओ ॥३१॥
(उपदेशमाला विशेषवृत्ति, पत्राक २०८)

५ अतिखिन्ना च साऽवादीदन्नाऽर्य्यसमितो मुनि।
साक्षी सस्यश्च साक्षिण्यो भापे नाऽत्त किमप्यहम् ॥६४॥
(प्रभावक चरित, पत्राक ४)

६ निवसतो तो तासि, समीवदेसे सुणइ अगाई।
एक्कारमवि पढतीण, ताव तेणोवलद्धाणि ॥६७॥
एगपयाओ पयसयमणुसरइ मइ तहाविहा तस्स।
जाओ अ अट्ठवरिसो, ठविओ गुरुणा नियसमिवे ॥६८॥
(उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्राक २१०)

७ नियत देवपिण्डोऽय साधूना नहि कल्पते।
तस्मादनात्तपिण्डोऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥१५४॥
(परि० पर्व०, सर्ग १२)

८ वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद विज्ञाय ते सुरा।
तस्याचार्य प्रतिष्ठाया चक्रुरुत्सवमद्भुतम् ॥१३२॥
(प्रभावक चरित, पत्राक ६)

६ तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूडामणिना [प्रव्राजिता।
(विविध तीर्थ कल्प, पाटलिपुत्र नगरकल्प, पृ० ६६)

१० इतो य वइरसामी दक्खिणावहे विहरति दुब्भिक्खं च ।
जाव बारसवरिसिगं सव्वतो समंता छिन्नपंथा निराधारं जातं ।

(आवश्यक चूर्णि, पत्राक ४०४)

११ वास पवयणेहिं अज्जवयरे दसम पुव्वं, मघयणचउक्कं च अवगच्छिही ।

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३८)

१२ जावंत अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स ।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ ॥१६३॥

(आवश्यक मलय निर्युक्ति, पृ० ३८३)

२४. कीर्ति-निकुञ्ज आचार्य कुन्दकुन्द

जैन साहित्य के अभ्युदय मे दाक्षिणात्य प्रतिभाओ का महान् योगदान रहा है। उनमे आचार्य कुन्दकुन्द को सर्वतोऽग्र स्थान प्राप्त है।

वे कर्णाटक के कोडकुड के निवासी थे। उनके पिता का नाम करमडू और माता का नाम श्रीमती था। बोधप्राभृत के अनुसार वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे, पर यथार्थ मे उनकी गुरुपरपरा प्राप्त नही है। भद्रबाहु उनके साक्षात् (अनतर) गुरु नही थे। यह आज कई प्रमाणो से सिद्ध हो चुका है।

कन्नडी भाषा मे आचार्य कुन्दकुन्द कोडकुड नाम से विख्यात है। 'कुन्दकुन्द' कोडकुड का ही सस्कृत रूप प्रतीत होता है।

पद्मनन्दी, वक्रग्रीव, गृध्रपिच्छ और एलाचार्य नाम भी आचार्य कुन्दकुन्द के थे। उनका सबसे पहला नाम पद्मनन्दी था। सतत अध्ययन मे झुकी हुई ग्रीवा रहने के कारण वक्रग्रीव और एक समय गृध्रपिच्छी धारण करने से गृध्रपिच्छ कहलाए।

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म के प्रमुख व्याख्याकार थे। उनकी आत्मानुभति-परक वाणी ने अध्यात्म के नए क्षितिज का उद्घाटन किया और आगमिक तत्त्वो को तर्कसुसगत परिधान दिया।

आचार्य कुन्दकुन्द की आगमिक परिभाषाए निश्चयनय पर केद्रित है और उनकी दृष्टि मे भावशून्य क्रियाए सर्वथा निष्फल थी। इन्ही विचारो की अभिव्यक्ति मे उनका एक श्लोक है

भावरहिओ ण सिज्जई, जइवि तव चरई कोडि कोडियो।
जम्मतराइ वहुसो लवियहत्थो गलियवत्थो॥

जीव दोनो हाथ लटकाकर और वस्त्र त्याग कर करोड जन्म तक निरन्तर तपश्चर्या करता रहे पर भावशून्यावस्था मे उसे कभी सिद्धि प्राप्त नही होती।

आचार्य कुन्दकुन्द चौरासी प्राभृतो (पाहुड) के रचनाकार थे, पर वर्तमान मे उन चौरासी प्राभृतो के पूरे नाम भी उपलब्ध नही है।

प्राभृत साहित्य मे दर्शन प्राभृत (दसण-पाहुड), चरित्र प्राभृत (चरित्त-पाहुड),

सूत्र प्राभृत (सुन-पाहुड), वोध प्राभृत (वोध-पाहुड), भाव प्राभृत (भाव-पाहुड), मोक्ष प्राभृत (मोक्ख-पाहुड), लिंग प्राभृत (लिंग-पाहुड), शील प्राभृत (सील-पाहुड) ये आठ प्राभृत प्रमुख हैं। इनकी भापा शौरसेनी है। इनमे दर्शन, चारित्र आदि विविध विपयो का निश्चयनय की भूमिका पर सुदर विवेचन प्रस्तुत है।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार—यह रत्नत्रयी आचार्य कुन्दकुन्द की अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस रत्नत्रयी मे 'समयसार आर्यावृत्त' मे गुम्फित जैन सौरसेनी भाषा का सर्वोत्कृष्ट परमागम है। जीवादि नव तत्त्वो का वोध, रत्नत्रयी की आराधना तथा निश्चयनय की अवगति मे व्यवहारनय की उपयोगिता पर सुदर विवेचन प्रदान करता हुआ यह ग्रथ कुन्दकुन्द की समग्र कृतियो मे शीर्पस्थानीय है।

प्रवचन सार मे जिनवाणी का नवनीत और नियमसार मे परमात्म-भाव का सम्यक् प्रतिपादन तथा शाश्वत सुखप्राप्ति हेतु विविध नियमो का निर्देश है।

वैदिक दर्शन मे जो आदरास्पद स्थान उपनिपद्, ब्राह्मणसूत्र और गीता को प्राप्त हुआ है वही स्थान दिगम्बर समाज मे इस रत्नत्रयी को है।

पचास्तिकाय सग्रह भी उनकी मौलिक रचना है। इसमे जैन दर्शनसम्मत द्रव्य विभाग की सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या है। सप्तभगी का स्पष्ट उल्लेख भी सर्वप्रथम इसी ग्रथ मे हुआ है।

आचार्य कुन्दकुन्द की समग्र रचनाए प्राकृत भाषा मे पद्यात्मक हैं और उनकी रचना के प्रत्येक श्लोक मे दिव्य ध्वनि का सदेश माना गया है। दिगम्बर अभिमत से सातवें गुणस्थान मे झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव से ये गाथाए प्रकट हुई हैं। इसीलिए कुन्दकुन्द को कलिकाल-सर्वज्ञ कहकर उनके प्रति महान् आदर भाव प्रकट हुआ है और उनकी वाणी को गणधर गिरा की तरह प्रामाणिक समझा गया है।

प्राकृत की तरह तमिल भापा पर भी आचार्य कुन्दकुन्द का सवल अधिकार था।

तिरुकुरल तमिल भापा की अत्युत्तम कृति है। इस कृति के कर्ता एलाचार्य थे। एलाचार्य ने ही मदुरा (दक्षिण मथुरा) मे सस्थापित तमिल भापा के सगम साहित्य केंद्र का नेतृत्व किया था। ये एलाचार्य सभवत कुन्दकुन्द ही थे। आचार्य कुन्दकुन्द दर्शन युग मे आए पर उन्होने अध्यात्म प्रासाद को दर्शन की नीव पर खडा नही किया। प्रस्तुत दर्शन को आगमिक साचे मे ढाला।

दिगम्बर समाज मे आचार्य कुन्दकुन्द का वहुत ऊचा स्थान है। भगवान् महावीर और गौतम के साथ उनका नाम मगल रूप मे अतिशय गौरव के साथ स्मरण किया जाता है।

मगल भगवान् वीरो, मगलम् गौतमप्रभु।
मगल कुन्दकुन्दार्या, जैन धर्मोस्तु मगलम्॥

कर्णाटकीय पहाडियो की जैन गुफाओ मे उन्होने ध्यान और तप की उत्कृष्ट साधना की। उनकी मुख्य निवास-स्थली-नन्दी पर्वत की गुफाए थी।

धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होने सपूर्ण भारत मे परिभ्रमण किया था। वे महाविदेह मे भी गए थे और उनके पास चारण ऋद्धि भी थी। उन्हे सीमधर स्वामी से ज्ञानोपलब्धि हुई ऐसी जनश्रुति भी विश्रुत है।

डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने उनका समय ई० पू० ८ से ४४ ईस्वी माना है। इस आधार पर वे वीर निर्वाण ५१६ से ५७१ (विक्रम ४८ से १०१) तक विद्यमान थे।

२५ अक्षयकोष आचार्य आर्यरक्षित

आर्यरक्षित अनुयोग व्यवस्थापक आचार्य थे। अनुयोगद्वार आगम के निर्यूहक थे। युगप्रधान आचार्यों की परपरा मे भी उनको विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मध्य प्रदेश (मालवा) के अतर्गत दशपुर नगर मे वी० नि० ५२२ (वि० ५२) मे उनका जन्म हुआ। वर्णज्येष्ठ, कुलश्रेष्ठ, त्रियानिष्ठ, कलानिधि, राजपुरोहित सोमदेव के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम रुद्रसोमा था। रुद्रसोमा उदार हृदय, प्रियभाषिणी महिला थी। वह जैन उपासिका थी। उसके द्वितीय पुत्र का नाम फल्गुरक्षित था। कुल की धुरा को वहन करने मे दोनो पुत्र सूर्याश्व की तरह सक्षम थे।[1] पुरोहित सोमदेव ने दोनो पुत्रो को वेदो का सागोपाग अध्ययन करवाया। शास्त्रीय ज्ञान का पीयूष पान कर लेने पर भी महाविद्वान् आर्यरक्षित का मानस अतृप्ति का अनुभव कर रहा था। आगे पढने की तीव्र उत्कठा उनमे थी। विशेष प्रशिक्षण पाने के लिए वे पाटलिपुत्र गए। सद्यग्राही जागृत कुडलिनी के बल से धृतिधर प्रकृष्ट बुद्धिमान आर्यरक्षित वेदो, उपनिषदो के पारगामी मनीषी बने। यथेप्सित अध्ययन कर लेने के बाद उपाध्याय का आदेश प्राप्त कर वे दशपुर लौटे। राजपुरोहितपुत्र होने के कारण महाप्राज्ञ आर्यरक्षित को राजसम्मान प्राप्त हुआ। नागरिको ने हार्दिक अभिवादन दिया एव घर-घर से उन्हे आशीर्वाद मिला। सभी का भव्य स्वागत झेलते हुए आर्यरक्षित मा के पास पहुचे। रुद्रसोमा सामायिक कर रही थी। उसने आशीर्वाद देकर अपने पुत्र का वर्धापन नही किया।

राजसम्मान पा लेने पर भी मा के आशीर्वाद के बिना जननी वत्सल आर्यरक्षित खिन्न थे। सोचा, धिक्कार है मुझे! शास्त्र समूह को पढ लेने पर भी मैं मा को तोष नही दे सका।[2] सुत के उदासीन मुख को देखकर सामायिक-सपन्नता के बाद रुद्रसोमा बोली—"पुत्र! जो विद्या तुझे आत्मबोध न करा सकी उससे क्या? मेरे मन को प्रसन्न करने के लिए महाकल्याणकारी जिनोपदिष्ट दृष्टिवाद का अध्ययन करो।" आर्यरक्षित ने चिंतन किया—"दृष्टिवाद का नाम भी सुदर है। इसका अध्ययन मुझे अवश्य करना चाहिए।" मा से आर्यरक्षित ने दृष्टिवाद के अध्यापनार्थ अध्यापक का नाम जानना चाहा। रुद्रसोमा ने बताया—"अगाध ज्ञान के निधि, दृष्टिवाद के ज्ञाता आर्य तोसलिपुत्र नामक आचार्य इक्षुवाटिका मे विराज

रहे हैं', जाओ पुत्र ! उनके पास अध्ययन प्रारम्भ करो। तुम्हारी इस प्रवृत्ति से अवश्य ही मुझे शांति की अनुभूति होगी।"

मा का आशीर्वाद पाकर दूसरे दिन प्रात काल होते ही आर्यरक्षित ने इक्षु-वाटिका की ओर प्रस्थान कर दिया। नगर के वहिर्भूभाग में उन्हे पिता का मित्र वृद्ध ब्राह्मण मिला। उसके हाथ में ६ इक्षुदण्ड पूर्ण थे। दसवा आधा था। इक्षु का यह उपहार लेकर वह आर्यरक्षित से मिलने ही आ रहा था। सयोगवश मित्रपुत्र को मार्ग के मध्य में ही पाकर वह प्रसन्न हुआ। आर्यरक्षित ने उनका अभिवादन किया। पिता-मित्र,वृद्ध ब्राह्मण ने भी प्रीति-वश उन्हे गाढ आलिगन में बाध लिया। आर्यरक्षित ने कहा—"मैं अध्ययन करने के लिए जा रहा हू। आप मेरे वधु जनो की प्रसत्ति के लिए उनसे घर पर मिले।" आर्यरक्षित ने अनुमान लगाया—इक्षु-वाटिका की ओर जाते हुए मुझे सार्धनव इक्षुदण्डो का उपहार मिला। इस आधार पर मुझे दृष्टिवाद ग्रथ के सार्ध नव परिच्छेदो की प्राप्ति होगी, इससे अधिक नही।"

उल्लास के साथ आर्यरक्षित इक्षुवाटिका मे पहुचे। ढड्ढर श्रावक को वदन करते देख उन्होने उसी भाति आर्य तोषलिपुत्र को वदन किया। श्रावकोचित क्रियाकलाप से अज्ञात नवागतुक व्यक्ति को विधियुक्त वदन करते देख आर्य तोषलि पुत्र ने पूछा—"वत्स ! तुमने यह विधि कहा से सीखी ?" आर्यरक्षित ने ढड्ढर श्रावक की ओर सकेत किया और अपने आने का प्रयोजन भी वताया। आर्य तोषलि पुत्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—"श्रीमद् वज्र स्वामी के वाद यह वालक महा प्रभावी होगा।" नवागतुक आर्यरक्षित को सबोधित करते हुए उन्होने कहा—"दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए मुनि वनना आवश्यक है। आर्य रक्षित में ज्ञान पिपासा प्रवल थी। वे श्रमण दीक्षा स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हुए और गुरु चरणो मे उन्होने नम्र निवेदन किया—"आर्य ! मिथ्या मोह के कारण लोग मेरे प्रति अनुरागी है। जैन सस्कारो से अज्ञात पारिवारिक जनो का ममकार (ममत्व) भी दुस्त्याज्य है। मेरे श्रमण वनने का वृत्तात ज्ञात होने पर राजा के द्वारा भी मुझे शक्ति-प्रयोग से घर ले जाने के लिए विवश किया जा सकता है। इस प्रकार की घटना से किसी प्रकार जैन शासन की लघुता न हो इस कारण मुझे दीक्षा प्रदान करते ही अन्य देश मे विहरण करना उचित होगा। आर्य तोषलिपुत्र ने समग्र वातो को ध्यान से सुना और ईशान कोणाभिमुख आर्यरक्षित को सामायिक व्रत का उच्चारण करते हुए वी० नि० ५४४ (वि० ७४) मे दीक्षा प्रदान कर वहा से अन्यत्र प्रस्थान कर दिया। कालातर मे अपनी ज्ञाननिधि को पूर्णत प्रदान कर देने के वाद आर्य तोषलि पुत्र ने उनको अग्रिम अध्ययन के लिए आर्य वज्र स्वामी के पास भेजा।

गुरु के आदेशानुसार आर्यरक्षित वहा से चले। मार्गान्तिरवर्ती नगर अवन्ति मे आचार्य भद्रगुप्त से उनका मिलन हुआ। आचार्य भद्रगुप्त वज्र स्वामी के विद्या-

गुरु थे। उन्होंने आर्य रक्षित को गाढ स्नेह प्रदान करते हुए कहा—"आर्यरक्षित ! पूर्वों को पढने की तुम्हारी अभिलाषा भद्र है, प्रशसनीय है। तुम्हारा यहा आना उचित समय पर हुआ। मेरी मृत्यु का समय निकट है। अनशन की स्थिति मे मेरे पास रहकर तुम सहायक (निर्यामक) बनो। कुलीन व्यक्तियो का यही कर्त्तव्य होना है।" आर्य तोपलि पुत्र का निर्देश पाकर आर्यरक्षित ने परम प्रसन्न मन से स्वय को सेवा धर्म मे नियुक्त कर दिया—परम समाधि मे लीन, अनशन मे स्थित आर्य भद्रगुप्त ने एक दिन प्रसन्न मुद्रा मे कहा—"तुमने मेरी इतनी अच्छी परिचर्या की है जिससे क्षुधा एव तृषा की खिन्नता भी मुझे अनुभूत नही हुई। मैं तुम्हे एक मार्ग-दर्शन देता हू। तुम वज्र स्वामी के पास पढने के लिए जाओगे पर भोजन एव शयन की व्यवस्था अपनी पृथक् रूप से रखना। क्योकि आर्य वज्र की जन्म-कुडली (जन्मपत्रिका) का योग है—जो भी नवागन्तुक व्यक्ति उनकी मडली मे भोजन करेगा और आर्य वज्र स्वामी के पास रात्रि-शयन करेगा वह उन्ही के पास पचत्व को प्राप्त होगा। तुम शासन के प्रभावक बनोगे, सघाधार बनोगे अत यह उपदेश मैं तुम्हे दे रहा हू।"

आर्यरक्षित ने शीश झुकाकर 'आम्'—इति—कहकर अत्यन्त विनीत भाव से आर्य तोपलि पुत्र के मार्ग-दर्शन को स्वीकार किया। समाधिपूर्ण अवस्था मे आर्य भद्रगुप्त के स्वर्गगमन के पश्चात् आर्यरक्षित ने वज्र स्वामी की दिशा मे अध्ययनार्थ प्रस्थान कर दिया। वहा पहुचते ही आर्य वज्र स्वामी के पास न जाकर रात्रि मे सोने की व्यवस्था उन्होंने अपनी अलग की। आर्य वज्र स्वामी ने ढलती रात मे स्वप्न देखा—दूध से भरा कटोरा नवागन्तुक पथिक आकर पी गया है पर कुछ पय उसमे अवशेष रह गया है। प्रात होते ही स्वप्न की यह बात वज्र स्वामी ने अपने शिष्यो से कही। वार्तालाप के यह प्रसग पूर्ण भी नही हो पाया था कि तभी अपरिचित अतिथि ने आकर वज्र स्वामी को वन्दन किया। आर्य वज्र स्वामी ने पूछा—"तुम कहा से आ रहे हो ?" आर्यरक्षित बोले "मैं आर्य तोपलि पुत्र के पास से आ रहा हू।" दूरदर्शी, सूक्ष्मचिन्तक आर्य वज्र स्वामी ने कहा—"तुम आर्यरक्षित हो ? अवशिष्ट पूर्वो का ज्ञान करने के लिए मेरे पास आए हो ? तुम्हारे उपकरण, पात्र, सस्तारक कहा हैं ? उनको यहीं ले आओ। आहार-पानी की व्यवस्था यहा बनाकर अध्ययन-कार्य को प्रारम्भ करो। पृथक् रहने से पूर्वो का अध्ययन कैसे कर पाओगे ?" आर्यरक्षित ने आर्य भद्रगुप्त द्वारा प्रदत्त मार्ग-दर्शन को कह सुनाया और अपनी पृथक् रहने की व्यवस्था भी बता दी। वज्र स्वामी ने भी ज्ञानोपयोग से समग्र स्थिति को जाना और आर्य भद्रगुप्त के निर्देशानुसार उनके पृथक् रहने की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया।

दृष्टिवाद का पाठ विविध भागो, पर्यायो एव गभीर शब्दो के प्रयोग से अत्यत

दुर्गम था। आर्यरक्षित ने स्वल्प समय मे ही इस ग्रथ के २४ यव पढ लिए थे। उनका अध्ययन विषयक प्रयास अद्‌भुत था।

इधर दशपुर मे रुद्रसोमा को पुत्र की स्मृति वाधित करने लगी। उसने सोचा, घर में दीपक की तरह प्रकाश करने वाला पुत्र चला गया। इससे सारा वातावरण अधकारमय हो गया है। सोमदेव का परामर्श लेकर रुद्रसोमा ने कनिष्ठ पुत्र फल्गुरक्षित से कहा—"पुत्र ! मेरा सदेश लेकर ज्येष्ठ भ्राता के पास जाओ। उनसे कहना—'भ्रात ! आपने जननी का मोह छोड दिया है पर जिनेन्द्र भगवान ने भी वात्सल्यभाव को समर्थन दिया था और गर्भावास मे माता के प्रति अपूर्व भक्ति प्रदर्शित की थी। अत आप भी माता को दर्शन देने की कृपा करे। हो सकता है आपने जिस मार्ग को स्वीकारा है आपका परिवार भी उस मार्ग पर चलने के लिए प्रस्तुत हो। आप मे मोहवुद्धि नही है। पर मा के उपकार को स्मरण करते हुए एक वार पधारकर उनके सामने कृतज्ञ भाव प्रकट करे। माता का आशीर्वाद ले।'

मा का आदेश प्राप्त कर नम्राग फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के पास गए एव मा की भावना को प्रस्तुत करते हुए बोले—"आपके दर्शन से पूज्या मा को अमृतपान जैसी तृप्ति होगी।" सयम साधना मे सावधान, विवेकशील, अन्तर्मुखी आर्य रक्षित ने फल्गुरक्षित के द्वारा रुद्रसोमा की अन्र्वेदना को अनासक्त भाव से सुना और उन्होने अत्यन्त वैराग्यमयी भापा मे कहा—"फल्गुरक्षित ! इस अशाश्वत ससार से क्या मोह है ? तुम्हारा भी सच्चा मोह मेरे प्रति है तो मुनि-जीवन स्वीकार कर अनवरत मेरे पास रहो।"

श्रेय कार्य मे विलम्व श्रेष्ठ नही होता, यह सोच फल्गुरक्षित ने भाई की वात को सम्मान देते हुए तत्क्षण दीक्षा स्वीकार कर ली। यविकाओ का अविरल अध्ययन करते हुए एक दिन आर्यरक्षित ने आर्य वज्र स्वामी से पूछा "भगवन् ! अध्ययन कितना अवशिष्ट रहा है ?" आर्य वज्र स्वामी गभीर होकर वोले—"यह प्रश्न पूछने से तुम्हे क्या लाभ है ? तुम दत्तचित्त होकर पढते जाओ।" थोडे समय के वाद यही प्रश्न पुन आर्यरक्षित ने आर्य वज्र स्वामी के सामने प्रस्तुत किया। वज्र स्वामी ने कहा—"वत्स ! तुम सर्षप मात्र पढे हो, मेरु जितना शेष पडा है। तुम अल्प मोहवश पूर्वो के अध्ययन को छोडने की सोच रहे हो यह काजी के वदले क्षीर को, लवण के वदले कर्पूर को, कुसुम के वदले कुकुम को, गुजाफल के वदले स्वर्ण को परित्यक्त करने जैसा है।" गुरु का प्रशिक्षण पाकर आर्यरक्षित पुन अध्ययन मे स्थिर हुए और नवपूर्वो का पूर्ण भाग एव दसवे पूर्व का अर्धभाग उन्होने सम्पन्न कर लिया। आर्य फल्गुरक्षित पुन-पुन ज्येष्ठ भ्राता को माता की स्मृति कराते रहते थे। दृष्टिवाद के अथाह ज्ञान को धारण कर लेने मे एक दिन आर्य रक्षित का धैर्य डोल उठा। उन्होने वज्र स्वामी से निवेदन किया—"मुझे दशपुर जाने का आदेश प्राप्त हो, मै शेष अध्ययन के लिए लौटकर शीघ्र ही आने का

प्रयान करूगा।" आर्य वज्र ने ज्ञानोपयोग से जाना—मेरा आयुष्य कम है। आर्यरक्षित का मेरे से पुन मिलन होना असभव है। दूसरा कोई योग्य व्यक्ति ज्ञान-सिन्धु—दृष्टिवाद को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। दसवा पूर्व मेरे तक ही सुरक्षित रह पायेगा। ऐसा ही स्पष्ट दीख रहा है।

आर्य वज्र गम्भीर होकर बोले—"वत्स! परस्पर उच्चावच्च व्यवहार के लिए 'मिच्छामि दुक्कड' हैं। तुम्हे जैसा सुख हो वैसा करो। तुम्हारा मार्ग शिवानुगामी हो।" गुरु का आदेश प्राप्त होने पर उन्हे वदन कर आर्यरक्षित फल्गुरक्षित के साथ वहा से चल पडे।

सुख समयपूर्वक यात्रा करते हुए बन्धु सहित आर्यरक्षित पाटलिपुत्र पहुचे। दीक्षाप्रदाता आर्य तोषलिपुत्र से प्रसन्नतापूर्वक मिले एव सार्ध नव पूर्वो के अध्ययन की बात कही। पूर्वधर आर्यरक्षित को सर्वथा योग्य समझकर आर्य तोषलिपुत्र ने आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति की।

आर्यरक्षित ने दशपुर की ओर प्रस्थान किया। मुनि फल्गुरक्षित ने आगे जाकर मा को आर्यरक्षित के आगमन की सूचना दी। ज्येष्ठ पुत्र के दर्शनार्थ उत्कठित जननी रुद्रसोमा पुत्रागमन की प्रतीक्षा कर ही रही थी। आर्यरक्षित आ पहुचे।

पिता सोमदेव को अपने पुत्रों का यह सीधा आगमन अच्छा नही लगा। वे चाहते थे, महान उत्सव के साथ दोनो पुत्रो का नगर-प्रवेश होता। सोमदेव ने विशेष स्वागतार्थ दोनों पुत्रों को नगर के बाह्य उद्यान मे लौट जाने को कहा पर आर्यरक्षित ने इस बात की स्वीकृति नही दी।

पिता सोमदेव का दूसरा प्रस्ताव था—"पुत्र! श्रमण वेश को छोडकर द्वितीय आश्रम गृहस्थ जीवन की साधना करो और रूप यौवनसम्पन्ना योग्य कन्या के साथ महोत्सवपूर्वक श्रौत विधि से विवाह करने के लिए प्रस्तुत बनो। तुम्हारी माता को भी इसमें आनन्द प्राप्त होगा। गृहस्थ जीवन की गाडी को वहन करने के लिए धनोपार्जन की चिन्ता तुम्हे नही करनी होगी। पूज्य नृपवर की कृपा से सात पीढी सुख से भोग सके इतना द्रव्य मेरे पास है।"

अध्यात्म-साधना मे रत आर्यरक्षित ने राजपुरोहित पिता सोमदेव से कहा—"मनीषी-मान्य, विज्ञ! शास्त्रो का दुर्धर भार ही वहन कर रहे हो, जीवन के यथार्थ को नही पहचाना है। जन्म-जन्म मे माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पत्नी सुता आदि अनेक बार ये सबध हुए हैं, इनमे क्या आनद है? राज-प्रसाद को भी भृत्य रूप मे रहकर अर्जित किया है इसमे भी गर्व किस बात का? अर्थ-सम्पदा अनर्थ की जननी है, वह उपद्रवकारिणी है। मनुष्यजन्म रत्न की तरह दुष्प्राप्य है। गृहमोह मे फसकर विज्ञ मनुष्य इसको खोया नही करते। मेरा दृष्टिवाद का पठन भी पूर्ण नही होपाया है। मै यहा कैसे रुक सकता हू? आपका मेरे प्रति सच्चा अनुराग मै तभी समझूगा, आप दीक्षा स्वीकार करे।"

आर्य रक्षित की धीर-गभीर मगलमयी गिरा को सुनकर राजपुरोहित परिवार प्रतिवुद्ध हुआ एव श्रमण धर्म मे दीक्षित हुआ। सोमदेव का दीक्षा सस्कार साप-वादिक था। उन्होने छत्र, जनेऊ, कौपीन एव पादुका का अपवाद रखा। पिता सोमदेव को इन अपवादो से मुक्त कर जैन-विहित विधि मे आर्यरक्षित द्वारा स्थिर करने की घटना आगम के व्याख्यात्मक साहित्य मे युक्तिपूर्ण सदर्भ के साथ प्रस्तुत है।

एक वार सोमदेव मुनि श्रमणो के साथ चल रहे थे। आर्य रक्षित के सकेतानुसार मार्गवर्ती वालको ने कहा—"छत्रधारी के अतिरिक्त सव मुनियो को वन्दन करते है।" सोमदेव मुनि ने इसे अपना अपमान समझा और छत्र धारण करना छोड दिया। इसी तरह कौपीन के अतिरिक्त अन्य उपकरण भी छोड दिये थे। सोमदेव मुनि पहले भिक्षा लेने भी नही जाते। आर्यरक्षित के निर्देशानुसार एक दिन मुनि मडली ने उन्हे भोजन के लिए निमन्त्रण नही दिया। सोमदेव मुनि कुपित हुए। पिता की परिचर्या के लिए आर्यरक्षित स्वय भिक्षाचरी करने के लिए प्रस्तुत हुए।

सोमदेव मुनि ने कहा—"पुत्र! आचार्य भिक्षाचरी करे और मै न करु, यह लोकव्यवहार की दृष्टि से उचित नही है अत स्वय ही इस क्रिया मे मैं प्रवृत्त वनूगा।" सोमदेव मुनि भिक्षा के लिए चले। सम्पन्न श्रेष्ठी के घर पीछे के द्वार से उन्होने प्रवेश किया। कोई भी नवागन्तुक व्यक्ति प्रमुख द्वार से आता है। मुनि को चोर पथ से आते देख श्रेष्ठी कुपित हुआ। सोमदेव मुनि वुद्धि के घनी थे, वाक्पटु थे। उन्होने तत्काल कहा—"श्रेष्ठी! लक्ष्मी का आगमन उल्टे द्वार से ही होता है। मधुर वाणी मे वातावरण को वदल देने की क्षमता होती है। सोच-समझकर विवेक-पूर्ण वोला गया एक वाक्य भी विष को अमृतमय बना देता है। सोमदेव के सुमधुर शब्द के प्रयोग से श्रेष्ठी के क्रोध का पारा उतर गया। वह मुनि पर प्रसन्न हुआ। भक्तिभाव से अपने घर मे ले गया ओर वत्तीस मोदको का दान दिया। धर्मस्थान मे आर्यरक्षित के मार्ग-दर्शन से शिष्य मडली मे उन मोदको का वितरण कर (दान देकर) महान् लाभ के भागी सोमदेव मुनि वने।

आर्यरक्षित का युगप्रधानत्व काल वी० नि० ५८४ (वि० ११४) से प्रारम्भ होता है। आर्यरक्षित का युग विचारो के सक्रमण का युग था। वह नई करवट ले रहा था। पुरातन परम्पराओ के प्रति जनमानस मे आस्थाए डगमगा रही थी।

नग्नो न स्यामह यूय मा वन्दध्व सपूर्वजा।
स्वर्गोऽपि सोऽस्थ मा भूयाद् यो भावी भवदर्चनात्॥ १६८॥

प्रभा० चरित्र, पृ० १४

—मुझे तुम वन्दन भले न करो और तुम्हारी अर्चा से प्रापणीय स्वर्ग की उपलब्धि भी भले न हो, मैं नग्नत्व को स्वीकार नही करुगा।"—पूर्वधर आर्य रक्षित

के सामने पिता सोमदेव मुनि के ये शब्द प्राचीन नग्नत्व परम्परा के प्रति स्पष्ट विद्रोह का उद्घोष था।

आर्यरक्षित भी स्थिति-पालक नही थे। वे स्वस्थ परम्परा के पोषक थे। क्रान्तिकारी विचारो के वे सवल समर्थक भी थे। चतुर्मास की स्थिति मे दो पात्र रखने की प्रवृत्ति स्वीकार कर नई परम्परा को जन्म देने का साहस उन्होने किया था।[६] उनके शासनकाल मे सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनुयोग व्यवस्था का हुआ। आगम-वाचना का यह अतीव विशिष्ट अग है। उससे पहले आगमो का अध्ययन समग्र नयो एव चारो अनुयोगो के साथ होता था। अध्ययन क्रम की यह जटिल व्यवस्था थी। अस्थिरमति शिष्यो का धैर्य डगमगा जाता था। आर्यरक्षित के युग मे अध्ययन की नई व्यवस्था प्रारम्भ हुई। इसमे मुख्य हेतु विन्ध्य मुनि वने थे। विन्ध्य मुनि अतीव प्रतिभासम्पन्न, शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्यरक्षित शिष्य मडली को जो आगम-वाचना देते विन्ध्य मुनि उसे तत्काल ग्रहण कर लेते थे। उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए वहुत-सा समय अवशिष्ट रह जाता था। आर्यरक्षित से विन्ध्य मुनि ने प्रार्थना की मेरे लिए अध्ययन की व्यवस्था पृथक् रूप से करने की कृपा करे। आर्यरक्षित ने इस महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्वलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। कुछ समय के वाद अध्यापनरत दुर्वलिका पुष्यमित्र ने आर्यरक्षित से निवेदन किया—"आर्य विन्ध्य को आगम-वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन मे वाधा पहुचती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी अधीत पूर्व ज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी।"

शिष्य दुर्वलिका पुष्यमित्र के इस निवेदन पर आर्यरक्षित ने सोचा—महा-मेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है। आगम-वाचना प्रदान करने मात्र से अधीत ज्ञान राशि के विस्मरण की सभावना वन रही है। ऐसी स्थिति मे आगम ज्ञान का सुरक्षित रहना वहुत कठिन है।

दूरदर्शी आर्यरक्षित ने समग्रता से चिन्तन कर पठन-पाठन की जटिल व्यवस्था को सरल वनाने हेतु आगम अध्ययन क्रम को चार अनुयोगो मे विभक्त किया।[७] इस महत्त्वपूर्ण आगम-वाचना का कार्य द्वादश वर्षीय दुष्काल की परिसमाप्ति के वाद दशपुर मे वीर निर्वाण ५९२ (वि० १२२) के आसपास सम्पन्न हुआ।

सीमधर स्वामी द्वारा इन्द्र के सामने निगोद व्याख्याता के रूप मे आर्यरक्षित की प्रशसा, मथुरा मे आर्यरक्षित की प्रतिमा परीक्षा हेतु इन्द्रदेव का वृद्ध रूप मे आगमन, वनावटी वृद्ध की हस्तरेखा देखकर आर्यरक्षित द्वारा देव होने की स्पष्टोक्ति तथा निगोद की सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर सुरेन्द्र द्वारा मुनीन्द्र की भूरि-भूरि प्रशसा, जाते समय अन्य मुनियो की जानकारी के हेतु सुगधित पदार्थों का वातावरण मे विकीर्णन तथा उपाश्रय द्वार के दिक् परिवर्तन तक की समग्र घटना का विस्तार से आवश्यक निर्युक्ति—मलयवृत्ति मे उल्लेख है।[८] पन्नवणा सूत्र के

रचनाकार आचार्य श्याम के साथ भी यह घटना अत्यन्त प्रसिद्धि-प्राप्त है, अत इसे प्रस्तुत प्रकरण मे न देकर आचार्य श्याम के जीवन-प्रसग मे ससदर्भ निबद्ध कर दिया गया है।

आर्यरक्षित के पास योग साधक शिष्यो की प्रभावक मडली थी। तीन पुष्य-मित्र उनके शिष्य थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, घृत पुष्यमित्र एव वस्त्र पुष्यमित्र। तीनो शिष्य लब्धिसम्पन्न शिष्य थे[१] एव आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ध्यानयोग के विशिष्ट साधक भी थे।

आर्यरक्षित का प्रमुख विहार-क्षेत्र अवन्ति, मथुरा एव दशपुर (मन्दसौर) के आसपास का क्षेत्र था। उनके जीवन की विशेष घटनाए इन्ही नगरो से सबधित है। महाप्रभावी आचार्य रक्षित जी की सम्पूर्ण आयु ७५ वर्ष की थी। उन्होने १६ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद का दायित्व सभाला। मन्दसौर मे वी० नि० ५६७ (वि० स० १२७) मे देवेन्द्र वन्दित अनुयोग व्यवस्थापक महानुभाव आर्यरक्षित स्वर्गगामी बने। उनकी सम्पूर्ण आयु ७५ वर्ष की थी।

कुछ इतिहासकार उनकी आयु ९५ वर्ष की मानते है। उनके अनुसार आर्य रक्षित का जन्म वी० नि० ५०२ (वि० स० ३२) मे और भद्रगुप्त से उनका मिलन वी० नि० ५३३ (वि० स० ६३) मे हुआ था।

आधार-स्थल

१ सूर्याश्वयोरिव यमौ तयो पुत्रौ बभूवतु ।
आर्यरक्षित इत्याद्यो द्वितीय फल्गुरक्षित ॥ ९ ॥

(प्रभा० चरित, पत्राक ६)

२ धिक्! ममाधीतशास्त्रौघ वह्नप्यवकरप्रभम ।
येन मे जननी नैव परितोषमवापिता ॥ १६ ॥

(प्रभा० चरित, पत्राक ६)

३ ताव चिंतेइ—नामपि चेव सुन्दर, जइ कोइ अज्झावेइ अज्झामि, मायावि तोसिया भवई, ताहे भणइ कहिं ते दिट्ठवायजाणतगा ? सा भणइ—अम्ह उच्छुघरे तोसलिपुत्ता नाम आयरिया।

(आवश्यक मलय वृत्ति, पत्राक ३९४)

४ नवाङ्ग दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्ययनानि वा।
दशम खण्डमध्येऽध्ये दध्यौ यानिति सोमभू ॥ ५४ ॥

(परि० पर्व०, सर्ग० १३)

५ श्रीमत्तोसलिपुत्राणा मिलित परया मुदा।
पूर्वाणा नवके सार्द्धे सगृहीती गुणोदधि ॥ ११७ ॥

त च सूरिपदे न्यस्य गुरवोऽगु पर भवम् ।
अथार्यरक्षिताचार्य प्रायाद् दशपुरपुरम् ॥ ११८ ॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १२)

६ व्यवहार चूर्णि उद्देशो ८

७ देविदवदिएहिं मणाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥ ७७४ ॥

८ (क) आवश्यक मलयवृत्ति, पत्राक ४००

(ख) इत्थ भूअघरे ठिआ निगोअवत्तव्वय नियाउपरिमाण च पुच्छिअ तुट्ठचित्तेण सक्केण अज्जरक्खिअसूरी वदिआ उवस्सयस्स अ अन्न ओहुत्त दार कय ।

(विविध तीर्थ कल्प, पृ० १६)

९ इत्थ वत्थपूसमित्तो घयपूसमित्तो दुब्बलियापूसमित्तो अ लद्धिसपन्ना विहरिया ।

(विविध तीथ कल्प, पृ० १६)

२६. ध्यानयोगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र स्वाध्याय योग एव ध्यान योग के विशिष्ट साधक थे। वे अनुयोग व्यवस्थापक आर्यरक्षित के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० ५५० (वि० ८०) मे हुआ। ससार से विरक्त होकर वी० नि० ५६७ मे उन्होने मुनि-दीक्षा स्वीकार की।

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रवल धृतिधर एव महामेधावी सत थे। आर्यरक्षित की सार्ध नौ पूर्व की विशाल ज्ञानराशि से वे ९ पूर्वों को ग्रहण करने मे सफल सिद्ध हुए। शास्त्रो के अनवरत गुनन-मनन-परावर्त्तन मे दत्तचित्तता एव प्रवल ध्यान साधना के परिश्रम परिणामस्वरूप उनका शरीर सस्थान अत्यन्त कृश था। दुर्बलिका पुष्यमित्र—यह उनका नाम कृशकाय होने के कारण सार्थक भी था।

एक वार बौद्ध भिक्षु आर्यरक्षित के पास आए। प्रभावक चरित के अनुसार वौद्ध उपासक आये थे।[1] उन्होने वौद्ध शासन मे निर्दिष्ट उच्चतम ध्यान प्रणाली की प्रशसा की और कहा, "हमारे सघ मे विशिष्ट ध्यान साधक भिक्षु है, आपके सघ मे ध्यान साधना का विकास नही है।"

आर्यरक्षित ने कहा, "जैन परम्परा मे भी ध्यान साधना का क्रम विद्यमान है।" उन्होने दुर्वलिका पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत करते हुए बताया, "इस शिष्य के वपु दौर्वल्य का निमित्त ध्यान साधना है।[2] यह दुर्वलिका पुष्यमित्र अप्रमत्त भाव से अहर्निश ध्यान साधना मे निरत रहता है।"

वौद्ध उपासको को आर्यरक्षित के कथन पर विश्वास नही हुआ। उन्होने कहा, "मुनि की कृशता का कारण स्निग्धाहार का अभाव हे। आपको गरिष्ठ भोजन की उपलब्धि नही होती है।"

वौद्ध उपासको की शका के समाधान मे आर्य रक्षित ने घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया और कहा, "इन शिष्यो को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सवधित चारो ही प्रकार की घृतलब्धि और वस्त्रलब्धि प्राप्त है।[3] ये श्रमण लब्धियो के प्रभाव से घृत और वस्त्र-सवधी सामग्री को पर्याप्त रूप से प्रस्तुत कर समग्र सघ की यथेप्सित आवश्यकता को पूरी कर सकते है।"

दोनो शिष्यो की क्षमता को उदाहरण की भाषा मे समझाते हुए आर्य रक्षित बोले, "मथुरा देश की अनाथ कृपण महिला अपने हाथ से कपास को बीनकर वस्त्र बनाती है और उनके विक्रय से अपनी आजीविका चलाती है। यह महिला वर्षा, शिशिर और हेमन्त ऋतु में भी श्रमण वस्त्र पुष्यमित्र के उपस्थित होने पर उसे प्रमुदितमना वस्त्र प्रदान करने हेतु प्रस्तुत हो जाती है।

"अवन्ति प्रदेश की कृपण गर्भिणी निकट प्रसवा महिला के लिए उसके पति ने याचनापूर्वक छह महीनो के प्रयत्नो से घृत सचय किया। उस घृत को कृपण महिला अपने क्षुधार्त पति के द्वारा माग किए जाने पर भी प्रदान नही करती पर घृतपुष्यमित्र के उपस्थित होने पर ज्येष्ठ और आषाढ मास मे भी वह घृत उसी कृपण महिला द्वारा ब्रह्मस्थ मुनि को सहर्ष प्रदान कर दिया जाता है।[५]

"लब्धिधर इन समर्थ मुनियो के होते हुए भी सघ मे पौष्टिक भोजन के अभाव की कल्पना भ्रान्ति मात्र है। शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र प्रतिदिन गरिष्ठ एव घृता-सिक्त भोजन स्वेच्छापूर्वक करता है।[६] प्रस्तुत विषय की विश्वसनीयता प्राप्त करने के लिए इन्हे अपने स्थान पर रखकर परीक्षा ले सकते है।"

श्रमण दुर्बलिका पुष्यमित्र गुरु के आदेश से उनके साथ चले गये। बौद्ध उपासको ने अपने स्थान पर शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना और आहार विधि का समग्रता से कई दिनो तक अवलोकन किया। स्निग्ध और अति-स्निग्ध भोजन को ग्रहण करने पर भी कृशकाय मुनि दुर्बलिका पुष्यमित्र का शरीर दिन-प्रतिदिन अधिक कृश बनता गया। भस्म मे प्रक्षिप्त घृत की भाति रस परिणत आहार उनके शरीर मे भस्म परिणत सिद्ध होता।[७] रसोत्पत्ति न होने का कारण उनके शरीर मे पाचन शक्ति की दुर्बलता नही पर स्वाध्याय, ध्यानरत आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र द्वारा अनास्वाद वृत्ति से भोजन का ग्रहण था। बौद्ध उपासको को दुर्बलिका पुष्यमित्र की साधना वृत्ति से अन्त तोष हुआ।

आर्यरक्षित के घृत पुष्यमित्र और वस्त्र पुष्यमित्र के अतिरिक्त चार और प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, गोष्ठामाहिल।[८] दुर्बलिका पुष्यमित्र विनय, धृति आदि गुणो से सम्पन्न था। आर्य रक्षित की विशेष कृपा इन पर थी।

मेधावी फल्गुरक्षित आर्यरक्षित के लघु सहोदर थे। गोष्ठामाहिल तार्किक-शिरोमणि एव वादजयी मुनि थे। घृत पुष्यमित्र एव वस्त्र पुष्यमित्र भी श्रमण परिषद् के विशेष अलकारभूत थे।

एक बार श्रमण परिवार परिवृत आर्यरक्षित दशपुर मे विहरण कर रहे थे। मथुरा मे अक्रियावादी अपना प्रबल प्रभुत्व स्थापित करने लगे थे। आर्यरक्षित ने उनके प्रभाव को प्रतिहत कर देने के लिए शास्त्रार्थ-कुशल गोष्ठामाहिल को वहा भेजा था। उनके वाक्-कौशल का अमित प्रभाव मथुरा के नागरिको पर हुआ।

श्रावकों ने वादजयी मुनि के पावस की विशेष माग आचार्य देव के सामने प्रस्तुत की। जैन शासन की विशेप प्रभावना की सम्भावना का चिन्तन कर आर्यरक्षित न गोष्ठामाहिल को मथुरा मे ही चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न करने का आदेश दिया।

आर्यरक्षित का यह चातुर्मास दशपुर मे था। इस चातुर्मास मे उनके सामने भावी उत्तराधिकारी की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। आचार्य पद जैसे उच्चतम पद के लिए आर्यरक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को योग्य समझा था।[8] उस समय का श्रमण वर्ग भी इस विपय मे अत्यधिक जागरुक था। उन्होंने मेधावी मुनि फल्गुरक्षित और वादजयी मुनि गोष्ठामाहिल का नाम प्रस्तुत किया।[9]

आचार्य का दायित्व श्रमण सघ को अधिक से अधिक तोप प्रदान करना है। अपने इस दायित्व की भूमिका पर श्रमणो के मन को समाहित करने के लिए तीन कलशो का दृष्टान्त देते हुए आर्यरक्षित प्रश्न की भाषा मे बोले, "सुविज्ञ श्रमणो! कल्पना करो एक कलश उडद धान्य से, दूसरा कलश तेल से, तीसरा कलश घृत से पूर्ण भरा हुआ है। तीनो कलशो को उलट देने का परिणाम क्या होगा?" सघ हितैषी श्रमणो ने नम्र होकर कहा, "पहला कलश पूर्ण रिक्त हो जायेगा। दूसरे कलश मे तेल की बूदे अल्प मात्रा मे एव तीसरे कलश मे घृत की बूदें अत्यधिक परिमाण में अवशिष्ट रह जाएगी।"

दृष्टान्त को शिष्यो पर घटित करते हुए आर्यरक्षित मधुर एव गम्भीर शब्दो मे समझाने लगे, "शिष्यो! उडद धान्य प्रथम कलश की भाति म अपना सम्पूर्ण ज्ञान दुर्बलिका पुष्यमित्र मे निहित कर चुका हू। फल्गुरक्षित मे द्वितीय कलश के समान एव गोष्ठामाहिल मे तृतीय कलश के समान अल्प-अल्पतर मात्रा मे मैं ज्ञान राशि को स्थापित कर पाया हू।"[10]

सुविनीत, श्रद्धानिष्ठ, चिन्तनशील श्रमणो ने आर्यरक्षित के विचारो की गहराई को समझा। उनके मन को समाधान मिला।

आर्यरक्षित की सूझ-बूझ से निर्विरोध वातावरण का निर्माण हुआ। आचार्य पद की नियुक्ति के लिए सर्वथा समुचित अवसर उपस्थित हो गया था। अनुकूल परिस्थिति का लाभ उठाते हुए आर्यरक्षित ने शिष्य समुदाय को सबोधित करते हुए कहा, "शिष्यो! मेरे द्वारा प्रदत्त सूत्रागम और अर्थागम का ज्ञाता दुर्बलिका पुष्यमित्र को मैं आचार्य पद पर स्थापित कर रहा हू।" श्रमण सघ को आचार्य के निर्विरोध निर्णय से प्रसन्नता हुई।

दुर्बलिका पुष्यमित्र को आर्यरक्षित ने प्रशिक्षण दिया—"आर्य! मैंने जैसे फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल के साथ समुचित व्यवहार किया है तुम भी इन्हे इसी प्रकार सम्मान से रखना।" श्रमणो को भी आचार्य के प्रति कर्तव्य-बोध का पथ-दर्शन दिया। समग्र सघ को समुचित शिक्षाए देकर आर्यरक्षित गण-चिन्ता से मुक्त बने। उनका इसी वर्ष स्वर्गवास हो गया। आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने वी०

२ ताणि भणति—अम्ह भिक्खुणो झाणपरा, तुज्झ झाण नत्थि, आयरिया भणति—अम्ह चेव झाण, दुब्बलिय पूसमित्तो सो झाणेण चेव दुब्बलो ।

(आव० मलयवृत्ति, पत्राक ३६८)

३ तत्राद्यपुष्यमित्रस्य लब्धिरासीच्चतुर्विधा ।
द्रव्यत क्षेत्रतश्चापि कालतो भावतस्तथा ॥२०६॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

४ द्रव्यतो घृतमेव स्यात् क्षेत्रतोऽवन्तिमण्डलम् ।
ज्येष्ठापाढे कालतस्तु भावतोऽथ निगद्यते ॥२१०॥
दुर्गता ब्राह्मणी [पड्भिर्मासै प्रसवधर्मिणी ।
तद्भर्तेति विमृश्याज्य भिक्षित्वा सचयेदघौ ॥२११॥
तत सा प्रसवे चाद्यश्वीने क्षुद्बाधित द्विजम् ।
तद् घृत याचमान त रुणद्ध्यन्यनिराशया ॥२१२॥
समुनिश्चेदर्थयेत दत्ते तदपि सा मुदा ।
यावद्गच्छोपयोग्य स्यात् तावदाप्नोति भावत ॥२१३॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

५ दुर्बल पुष्यमित्रोऽपि यथालब्ध घृत घनम् ।
भुनक्ति स्वेच्छयाऽभीक्ष्ण पाठाभ्यासात् तु दुर्बल ॥२१८॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

६ स्वजना व्यमृशन्नस्य भुक्त भस्मनि होमवत् ॥२२८॥

(प्रभावक चरित, पृ० १६)

७ तत्थय गच्छे चत्तारि जणा पहाणा, सो चेव दुब्बलियपूसमित्तो विझो फग्गुरक्खितो-गोट्ठामाहिलोत्ति ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पत्राक ३६८)

८ आर्यरक्षितसूरिश्च व्यमृशत् क पदोचित ।
दुर्बल पुष्यमित्रोऽय तद्विचारे समागमत् ॥२६४॥

(प्रभावक चरित, पृ० १७)

९ जो पुण से सयणवग्गो तेसिं गोट्ठामाहिलो फग्गुरक्खितो वा अभिमतो ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पत्राक ४००)

१० दुब्बलियापूसमित्त पति सुत्तत्थतदुभएसु निप्फावकुडसमाणी अह जातो, फग्गुरक्खिय पति तेल्लकुडसमाणो, गोट्ठामाहिल पति घयकुडसमाणो, अतो मम ।

(आव० मलयवृत्ति, पत्राक ४००)

११ विञ्झो अणुभासइ, त सुणेइ, अट्ठमे कम्मपवायपुव्वे कम्म वन्निज्जइ, जहा कम्म वज्झइ, जीवस्सय कह वधो, एत्थ विचारे सो अभिनिवेसेण अन्नहा मन्नतो य निण्हवो जातो ।

(आवश्यक मलयवृत्ति, पृ० ४०२)

२७ विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन

विवेकसम्पन्न आर्य वज्रसेन अपने युग के विलक्षण आचार्य थे। युगप्रधान आचार्यों की शृखला मे सवा सौ वर्ष से भी ऊपर उम्र पाने वाले एव सवा सौ वर्ष की वृद्धावस्था मे आचार्य पद को अलकृत करने वाले वे प्रथम थे।

उनका जन्म वी० नि० ४९२ (वि० २२) मे हुआ। उम्र का एक दशक ही पूर्ण नही हो पाया, वे त्याग के कुलिश-कठोर पथ पर बढने को उत्सुक बने। पूर्ण वैराग्य के साथ वी० नि० ५०१ (वि० स० ३१) मे उन्होने मुनि-जीवन मे प्रवेश पाया। आगमो का गम्भीर अध्ययन कर वे जैन दर्शन के विशिष्ट ज्ञाता बने।

उत्तर भारत उनका प्रमुख विहार-क्षेत्र था। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध महान् सकट का समय था। द्वादश वर्षीय दुष्काल की काली छाया से पूरा उत्तर भारत भयकर रूप से आक्रान्त हो चुका था। यह समय वी० नि० ५८० (वि० स० ११०) से वी० नि० ५९२ (वि० स० १२२) तक था। इस समय लब्धिधर विलक्षण वाग्मी एव सघ की नौका को कुशलतापूर्वक वहन करने वाले आर्य वज्र स्वामी वृद्धावस्था मे पहुच चुके थे। जीवन के सध्याकाल मे वे पाच सौ मुनियो के परिवार सहित अनशनार्थ रथावर्त पर्वत पर जाने की तैयारी मे लगे थे।

दुष्काल के इन क्षणो मे मुनिवृन्द से परिवृत आर्य वज्रसेन का पदार्पण सोपारक मे हुआ।[1] सोपारक देश का राजा जितशत्रु एव रानी धारिणी थी। वहा का धनी-मानी श्रेष्ठी जिनदत्त धर्म का महान् उपासक था। उसकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। धृतिसम्पन्न एव विपुल सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी श्रेष्ठी जिनदत्त दुष्काल धर्म के उग्र प्रकोप से विक्षुब्ध हो उठा था। क्षुधा-पिशाचनी के क्रूर प्रहार से प्रताडित श्रेष्ठी का परिवार जिन्दगी की आशा खो चुका था। श्राविका ईश्वरी का धैर्य भी धान्याभाव के कारण डगमगा गया। पारिवारिक जनो ने परस्पर परामर्शपूर्वक सविष भोजन खाकर प्राणान्त करने की बात सोची।[2] ईश्वरी ने एक लाख स्वर्ण मुद्रा के शालि पकाए। अब वह भोजन मे विष मिलाने का प्रयत्न कर रही थी। भिक्षार्थ नगर मे पर्यटन करते हुए आर्य वज्रसेन श्रेष्ठी जिनदत्त के घर पहुचे।[3] मुनि को देखकर श्राविका ईश्वरी एव जिनदत्त परम प्रसन्न हुए।

उन्होंने अपना अहोभाग्य माना। विषयुक्त पाक को भोजन से दूर रख दिया एवं मुनि को विशुद्ध भावों से दान दिया।

ईश्वरी चतुर महिला थी। उसने भावी अन्तर्द्वन्द्व को मुनि के सामने रखा एवं लक्ष मूल्य के पाक में विष-मिश्रित करने की योजना प्रस्तुत की।[1] घटना-प्रसंग को सुनते ही आर्य वज्रसेन मुनि को दश पूर्वधर वज्र स्वामी के कथन का स्मरण हो आया और जिनदत्त श्रेष्ठी के सकल परिवार को आश्वासन देते हुए वे बोले, "भोजन को विष-मिश्रित मत करो, अब यह कष्ट अधिक समय का नहीं है। दुष्काल चरम सीमा पर पहुंच चुका है। मुझे दश पूर्वधर वज्र स्वामी ने कहा था, 'जिस दिन लक्ष मूल्य पाक की उपलब्धि होगी वही दुष्काल की परिसमाप्ति का दिन होगा। उस कथन के आधार पर कल ही सुखद प्रभात का उदय होने वाला है।'"

उदीप्त भाल एवं निस्वार्थ परहितैषी मुनि वज्रसेन के अमृतोपम वचनों को सुनकर जिनदत्त श्रेष्ठी एवं उसके परिवार को आत्मतोष की अनुभूति हुई एवं भोजन के साथ विष-मिश्रण की योजना स्थगित कर सुकाल की प्रतीक्षा मे समता से काल-यापन करने लगे।

दूसरे दिन प्रभात मे अन्न से भरे पोत नगर की सीमा पर आ पहुचे।[2] आर्य वज्रसेन की वाणी सत्य प्रमाणित हुई। श्रेष्ठी का पूरा परिवार काल-कवलित होने से बच गया।

प्रस्तुत घटना-प्रसंग के बाद संसार से विरक्त होकर जिनदत्त श्रेष्ठी और ईश्वरी ने अपने पुत्र नागेन्द्र, चन्द्र, विद्याधर और निवृत्ति के साथ आर्य वज्रसेन से दीक्षा ग्रहण की।[3] चारों पुत्रों के नाम पर चार कुल (गण) स्थापित हुए—नागेन्द्र कुल, चन्द्र कुल, विद्याधर कुल, निवृत्ति कुल। प्रत्येक शाखा मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है। नागेन्द्र आदि चारों मुनियों के लिए कुछ कम दश पूर्वधारी होने का उल्लेख भी मिलता है।[4]

विवेक-दर्पण आचार्य वज्रसेन दीर्घजीवी आचार्य थे। वे नौ वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने। अनुयोगधर आयरक्षित की अनुयोग-व्यवस्था के समय आचार्य वज्रसेन वाचनाचार्य के रूप मे उपस्थित थे। उन्होंने युगप्रधान के रूप मे आचार्य पद का दायित्व ध्यानयोगी आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के बाद वी० नि० ६१७ (वि० १४७) मे सभाला। उनका आचार्य-काल मात्र तीन वर्ष का था। सयम-पथ पर उनके चरण लगभग १२० वर्ष तक सोत्साह बढते रहे। उनकी सर्वायु १२८ वर्ष की थी। वे वी० नि० ६२० (वि० १५०) मे स्वर्ग-सम्पदा के स्वामी बने।[5]

आधार-स्थल

१ वज्रसेनश्च सोपार नाम पत्तनमभ्यगात् ॥१८५॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

२ विना धान्यक्षयाद्‌दुःख जीवितास्म कियच्चिरम् ।
तद्वर सविष भोज्यमुपभुज्य समाहिता ॥१८६॥

(परि० पर्व सर्ग १३)

३ पक्वकाधान्न लक्षमूल्य ना यावेन्नाक्षिपद्विपम् ।
वज्रसेनमुनिस्तावत्तज्जीवातुरिवागमत् ॥१८६॥

(परि० पर्व, सर्ग १३)

४ हृष्टास्तम्मै विस्मेरचक्षुर्भिक्षामदत्त सा ।
लक्षमूल्यस्य पाकस्य वृत्तान्त च न्यवेदयत् ॥१६२॥

(परि० पर्व, सर्ग १३)

५ तो भणइ वइरसेणो, मा खीरीए खिवेइ विसमेय ॥३७०॥

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति २२०)

६ अह अवरह्णे देसतराहि पत्ताणि जाणवत्ताणि ।
अइपउर धन्नपुन्नाइ, तेहिं जाय अइसुभिक्ख ॥७६॥

(उपदेशमाला, विशेषवृत्ति २२०)

७ ध्यात्वेति सा सपुत्राऽथ व्रत जग्राह साग्रहा ।
नागेन्द्रो निर्वृतिश्चन्द्र श्रीमान् विद्याधरस्तथा ॥१६६॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

८ अभूवस्ते किंचिदूनदशपूर्वविदस्तत ।
चत्वारोऽपि जिनाधीशमतोद्धारधुरधरा ॥१६७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ८)

९ तत्पट्टे १४ श्री वज्रसेन सूरि स च दुर्भिक्षे श्री वज्रस्वाम्याज्ञया सोपारके पत्तने गत्वा जिनदत्तगृहे ईश्वरीनाम्न्या भार्यया दुर्भिक्षभयाल्लक्षपाकभोज्ये विपक्षेपादिकारणे निवेदिते प्रात सुकालो भावीत्युक्त्वा विषनिक्षेप निवार्य नागेन्द्र १ चन्द्र २ निवृत्ति ३ विद्याधरा-४ ख्यान् चतुर नकुटुम्बेभ्य पुत्रान् प्राव्राजितवान् तेभ्यश्चत्वारि कुलानि जज्ञिरे । स वज्रसेनो ६ वर्षाणि गृहे ११६ व्रते त्रीणि वर्षाणि युगप्रधानत्वे सर्वायु साप्ताविंशतिशत प्रपाल्य वीरात् ६२० वर्षान्ते स्वर्गभाक् बभूव ।

(पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टा०, पृ० १६६, १६७)

२८. आलोक-कुटीर आचार्य अर्हद् बलि

आचार्य अर्हद् वलि मूल सघ के अधिपति थे। वे अगो के एक देशपाठी थे। पूर्वांशो का ज्ञान भी उन्हे था। इनका दूसरा नाम 'गुप्ति गुप्त' भी था।

आचार्य अर्हद् बलि महान् समर्थ आचार्य थे। उनके पुष्पदत और भूतवलि नामक दो विद्वान् शिष्य थे। पुष्पदत श्रेष्ठीपुत्र थे। भूतवलि सौराष्ट्र के 'नहपान' नामक नरेश थे। 'गौतमीपुत्र' 'सातकरणी' से पराजित होकर अर्हद् वलि के पास उन्होने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की थी।

आन्ध्र प्रदेश मे स्थित वेणा नदी के तट पर वसे हुए महिमा नगर मे महामुनि-सम्मेलन हुआ था। उसकी अध्यक्षता आचार्य अर्हद् वलि ने की थी। इस सम्मेलन मे सघ की अतरग और वहिरग स्थितियो पर विचार-विमर्श हुआ था।

मूल सघ मे उस समय अनेक विद्वान्, तपस्वी, स्वाध्यायी, ध्यानी एव अध्ययन-अध्यापनरत श्रमण विद्यमान थे। अर्हद् वलि ने इस सघ को नन्दी, देव, सिंह, भद्र, वीर, अपराजित, पच स्तूप, गुणधर आदि भिन्न-भिन्न उपसघो मे विभक्त कर एक नई सघ व्यवस्था को जन्म दिया। इन सघो को स्थापित करने मे धर्मवात्सल्य की अभिवृद्धि एव जैन सघ की प्रभावना का उद्देश्य प्रमुख था।

आचार्य अर्हद वलि पुण्ड्रवर्धन नगर के निवासी थे। शिष्य पुष्पदन्त और भूत-बलि के योग से उनकी प्रख्याति अधिक विश्रुत हुई।

आचार्य अर्हद् वलि ज्ञानालोक के कुटीर थे एव अपने युग की महान् हस्ती थे। उनका समय वी० नि० ५६५ (वि० ९५) के आस पास माना गया है।

२६. दूरदर्शी आचार्य धरसेन

दिगम्बर परम्परा के आचार्य धरसेन आगम-ज्ञान के विशिष्ट ज्ञाता एव अष्टाग निमित्त के पारगामी विद्वान् थे। द्वितीय पूर्व का आशिक ज्ञान भी उनके पास सुरक्षित था। सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्र गुफा मे उनका निवास था। उन्होने योनि पाहुड (योनि प्राभृत) ग्रन्थ लिखा जो आज अनुपलव्ध है।

श्रुत की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए महिमा महोत्सव मे एकत्रित दक्षिणापथ विहारी महासेन आचार्य प्रमुख श्रमणो के पास एक पत्र भेजा था। इस पत्र के द्वारा उन्होने प्रतिभासम्पन्न मुनियो की माग की थी।-

श्रमणो ने धरसेन द्वारा प्रेपित पत्र पर गम्भीरता से चिन्तन किया और समग्र श्रमण मुनि परिवार से चुनकर दो मेधावी मुनियो को उनके पास भेजा था। उनमे एक का नाम सुवुद्धि तथा दूसरे का नाम नरवाहन था। दोनो ही श्रमण विनयवान्, शीलवान्, जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न एव कलासम्पन्न थे। आगमार्थ को ग्रहण और धारण करने मे समर्थ थे और वे आचार्यो से तीन वार पूछकर आज्ञा लेने वाले थे।

टीकाकार वीरसेन के शब्दो मे यह प्रसग निम्नोक्त प्रकार से उल्लिखित है

"तेण वि सोरट्ठ-विसयगिरिणयरपट्टणचद गुहाठिएण अट्ठ ग महाणिमित्त-पारएण गन्थवोच्छेदो होहदित्ति जादभएण पवयण-वच्छलेणदक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो। लेहट्ठिय धरसेणवयणमवधारिय ते हि वि आइरिएहि वे साहू गहणधारण समत्था धवलामलवहुविह विणयविहूसियगा सीलमा-लाहरा गुरुपेसणासणतित्ता देसकुलजाइसुद्धा सयलकलापारया त्तिक्खुत्ता वुच्छि-याइरिया अन्धविसयवेण्णायणादो पेसिदा।"

जव दोनो श्रमण वेणानदी के तट से धरसेनाचार्य के पास आने के लिए प्रस्थित हुए थे उस समय पश्चिम निशा मे आचार्य धरसेन ने स्वप्न देखा था—दो धवल वर्ण ऋपभ उनके पास आए और उन्हे प्रदक्षिणा देकर उनके चरणो मे वैठ गए हैं। इस शुभसूचक स्वप्न से आचार्य धरसेन को प्रसन्नता हुई। उत्तम पुरुपो के स्वप्न सत्य फलित होते है। आचार्य धरसेन का स्वप्न भी फलवान् वना। दोनो श्रमण ज्ञान ग्रहण करने के लिए उनके पास आ पहुचे थे।

आचार्य धरसेन की परीक्षाविधि मे भी उभयमुनि पूर्ण उत्तीर्ण हुए और विनयपूर्वक श्रुतोपासना करने लगे। उनका अध्ययन क्रम शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ दिन मे प्रारम्भ हुआ था। आचार्य धरसेन की ज्ञान प्रदान करने की अपूर्व क्षमता एव युगल मुनियो की सूक्ष्मग्राही प्रतिभा का मणि-काचन योग था। अध्ययन का क्रम द्रुतगति से चला। आपाढ शुक्ला एकादशी के पूर्वाह्न काल मे वाचना-कार्य सम्पन्न हुआ था। कहा जाता हे, इस महत्त्वपूर्ण कार्य की सम्पन्नता के अवसर पर देवताओ ने भी मधुरवाद्य ध्वनि की थी। इसी प्रसग पर धरसेनाचार्य ने एक का नाम भूतवलि और दूसरे का नाम पुष्पदत रखा था।

निमित्त ज्ञान मे अपना मृत्युकाल निकट जानकर धरसेनाचार्य ने सोचा, 'मेरे स्वर्गगमन से इन्हे कष्ट न हो।' उन्होने दोनो मुनियो को श्रुत की महा उपसम्पदा प्रदान कर कुशलक्षेमपूर्वक उन्हे विदा किया।

आगम निधि सुरक्षित रखने का यह कार्य आचार्य धरसेन के महान् दूरदर्शी गुण को प्रकट करता है। जैन समाज के पास आज पट्खण्डागम जैसी अमूल्य कृति है उसका श्रेय आचार्य धरसेन के इस भव्य प्रयत्न को है।

आचार्य धरसेन आचारग के पूर्ण ज्ञाता लोहाचार्य के निकटवर्ती थे। लोहाचार्य का स्वर्गवास वी० नि० ११५३ (वि० ६८३) मे माना जाता है। लोहाचार्य के स्वर्गगमन के समय अगागम के पूर्ण ज्ञाता आचार्य धरसेन वृद्धावस्था मे थे। प्रस्तुत प्रसग के आधार पर धृतिसम्पन्न आचार्य धरसेन वी० नि० की ७वी (वि० २) शताब्दी के विद्वान् थे।

३०. लब्धगौरव आचार्य गुणधर

षट्खण्डागम की भांति प्राकृत भाषा मे निबद्ध कषाय प्राभृत ग्रन्थ को दिगम्बर परम्परा मे मौलिक स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य गुणधर थे। गुणनिधि आचार्य गुणधर आचार्य धरसेन के समकालीन थे। धरसेनाचार्य की भांति वे भी पूर्वांशो के ज्ञाता थे। ज्ञानप्रवाद नामक पचमपूर्व की १०वी वस्तु के अधिकारान्तर्गत तृतीय पेज्जदोष पाहुड मे उन्होंने कषाय प्राभृत ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के २३३ गाथा सूत्र है। प्रत्येक सूत्र की भाषा सक्षिप्त एव गूढार्थक है।

यह ग्रन्थ पन्द्रह अधिकारो मे विभक्त है। इन अधिकारो मे क्रोध आदि कषायो की राग-द्वेषमयी परिणतियो का विस्तार से वर्णन है तथा मोहनीय कर्म की विभिन्न अवस्थाओ को और इसे शिथिल करने वाले आत्मपरिणामो को ससन्दर्भ समझाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पर यतिऋषभ ने छह सहस्र श्लोक परिमाण चूर्णि साहित्य की रचना की है। आचार्य वीरसेन एव जिनसेन ने इसी ग्रन्थ पर ६० सहस्र श्लोक परिमाण जयधवला नामक टीका लिखी है।

कषाय प्राभृत के रूप मे साहित्य युग को अनुपम उपहार प्रदान करने वाले अतिशय गौरवलब्ध आचार्य गुणधर का समय आचार्य धरसेन के समकालीन होने के कारण वी० नि० की ६वी (वि० २) शताब्दी है।

३१-३२. प्रबुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एव भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि महामेधासम्पन्न आचार्य थे। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञा आचार्य धरसेन के ज्ञान-पारावर को ग्रहण करने मे सक्षम सिद्ध हुई। उन्होने अगस्त्य ऋषि के सागर-पान की परम्परा को श्रुतोपासना की दृष्टि से दुहरा दिया था।

आचार्य धरसेन से ज्ञान-सम्पदा लेकर लौटने के वाद दोनो ने एकसाथ अकलेश्वर मे चातुर्मासिक स्थिति सम्पन्न की। वहा से पुष्पदन्त वन की ओर चले गए तथा भूतवलि का पदार्पण द्रमिल देश के हुआ।

आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक व्यक्ति को दीक्षा प्रदान की। जिनपालित को योगियो का भी अधीश्वर माना गया है।

षट्खण्डागम दिगम्बर साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सत्कर्म प्राभृत, खण्ड सिद्धान्त तथा षट्खण्ड सिद्धान्त की सज्ञा से भी यह ग्रन्थ पहचाना जाता है। इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि थे।

आचार्य पुष्पदन्त ने वीसदिसूत्र के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रो का निर्माण कर उन्हे जिनपालित के द्वारा भूतवलि के पास प्रेषित किया था।

'पुष्पदन्त के जीवन का सध्याकाल है'—यह सूचना आचार्य भूतवलि को जिनपालित से प्राप्त हुई।

आचार्य पुष्पदन्त द्वारा रचित १७७ सूत्रो के आगे साठ सहस्र सूत्रो का निर्माण कर आचार्य भूतबलि ने अवशिष्ट ग्रन्थ को पूर्ण किया था। इस ग्रन्थ का नाम ही 'षट्खण्डागम' है।

षट्खण्डागम के छह विभाग हैं। प्रथम खण्ड का नाम 'जीवस्थान' (जीवट्ठाण) है। उसके आठ अनुयोग द्वार है। नौ चूलिकाए है। श्लोक परिमाण सख्या अठारह सहस्र है।

द्वितीय विभाग का नाम 'क्षुल्लक बन्ध' है। इसके ग्यारह अधिकार हैं।

तृतीय खण्ड का नाम 'स्वामीत्वविचय' है। इसमे कर्म-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

चतुर्थ विभाग का नाम 'वेदना' है। इसके दो अनुयोग द्वार हैं।

पचम विभाग का नाम 'वर्गणा' है। इसमे विभिन्न प्रकार की कर्म वर्गणा का

प्रतिपादन है।

षष्ठ विभाग का नाम 'महावन्ध' है। महावन्ध का विस्तार तीस सहस्र श्लोक परिमाण है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वन्ध की व्याख्या इस विभाग मे प्राप्त है।

षट्खण्डागम के छह खण्डो मे चालीस सहस्र श्लोक परिमाण यह अन्तिम खण्ड महावन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। महावन्ध का दूसरा नाम महाधवल भी है। षट्-खण्डागम ग्रन्थ से सयुक्त होते हुए भी यह स्वतन्त्र कृति के रूप मे उपलब्ध है। षट्खण्डागम के पाचो खण्डो से महावन्ध का विस्तार अधिक है। धवल टीकाकार आचार्य वीरसेन ने इस पर टीका लिखने की आवश्यकता ही नही समझी थी। यह महावन्ध आधुनिक शैली मे सात भागो मे 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित है। जैन दर्शनसम्मत कर्मवाद का पर्याप्त विवेचन इस कृति से प्राप्त किया जा सकता है।

जिनपालित आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि के मध्य मे ग्रन्थ-निर्माण-कार्य मे सयोजक कडी सिद्ध हुए। सभवत आचार्य भूतवलि के पास रहकर ग्रन्थ लेखन का कार्य भी जिनपालित ने किया था।

साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतवलि के समय मे प्रथम वार साहित्य निवद्ध किया गया था। दिगम्बर परम्परा मे इससे पहले श्रुत पुस्तक-निवद्ध नही था।

आचार्य पुष्पदन्त एव भूतवलि द्वारा प्रसूत इस नई प्रवृत्ति का जनता के द्वारा विरोध नही, स्वागत ही हुआ था। कहा जाता है—पुस्तकारूढ साहित्य को ज्येष्ठ शुक्ला पचमी के दिन सघ के सामने प्रस्तुत किया गया था। अत यह पचमी 'श्रुत पचमी' के नाम से प्रसिद्ध हुई है। इस प्रसग पर ग्रन्थ का सघ ने पूजा महोत्सव मनाया। यह ग्रन्थ सम्पन्न हुआ, उस समय तक भाग्य से आचार्य पुष्पदन्त विद्यमान थे। भूतवलि ने इस ग्रन्थ को सम्पन्न कर आचार्य जिनपालित के साथ प्रेषित किया। विविध सामग्री से परिपूर्ण इस ग्रन्थ को देखकर आचार्य पुष्पदन्त को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

कृति की प्रशस्ति मे भूतवलि और जिनपालित दोनो के नाम का उल्लेख नही है।

महावन्ध की प्रस्तावना मे आचार्य भूतवलि का काल वी० नि० ६६३ के वाद माना है। इस आधार पर प्रवुद्धचेता आचार्य पुष्पदन्त एव भूतवलि का कालमान वी० नि० की सातवी शताब्दी का उत्तरार्ध एव वि० की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध है।

३३. अर्हन्नीति-उन्नायक आचार्य उमास्वाति

आचार्य उमास्वाति न्यग्रोधिका के कोभीषण गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे जन्मे। कुल परम्परा से वे शैव थे। जैन धर्म की उच्च नागरी शाखा मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की। उनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम उमा था। माता-पिता की स्मृति के रूप मे उनका नाम उमास्वाति हुआ।

उमास्वाति अपने युग के महान् विद्वान् थे। सस्कृत भाषा पर उनका अतिशय अधिकार था। जैन-दर्शन की विपुल सामग्री को प्राजल सुरभारती मे प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय उन्ही को है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' आचार्य उमास्वाति की प्रसिद्ध रचना है व जैन तत्त्वो का सग्राहक ग्रन्थ है। मोक्ष मार्ग के रूप मे रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र) का युक्ति पुरस्सर निरूपण, षड्द्रव्य और नव तत्त्व की विवेचना, ज्ञान-ज्ञेय की समुचित व्यवस्था और भूगोल-खगोल की परिचर्या से इस ग्रन्थ की जैन समाज मे महती उपयोगिता सिद्ध हुई है।

आचार्य उमास्वाति बेजोड सग्राहक थे। उन्होने जैन दर्शन से सम्बन्धित कोई भी विषय नही छोडा जिसका सकेत इस कृति मे न हुआ हो। उनकी इस सग्राहक वृत्ति से प्रभावित होकर आचार्य हेमचन्द्र ने कहा

उपउमास्वाति सगृहीतार ॥

—जैन तत्त्व के सग्राहक आचार्यो मे उमास्वाति प्रथम हैं।

उमास्वाति समर्थ साहित्यकार थे। उन्होने अनेक ग्रन्थ रचे। विशुद्ध अध्यात्म की भूमिका पर प्रतिष्ठित उनका 'प्रशमरति प्रकरण' समता रस को प्रवाहित करने वाला निर्झर है।

'जम्बूद्वीप समास प्रकरण', 'श्रावक-प्रज्ञप्ति' 'प्रजा प्रकरण' और 'क्षेत्र विचार' आदि भी उन्ही की रचनाए हैं।

जनश्रुति के अनुसार उमास्वाति चामत्कारिक भी थे। उन्होने एक बार प्रस्तर-निर्मित सरस्वती की प्रतिमा के मुख से शब्दोच्चारण करवा दिया था।

आचार्य उमास्वाति का व्यक्तित्व वास्तव मे ऐसे चामत्कारिक प्रयोगो से नही, उनकी अभूतपूर्व सग्राहक प्रतिभा के आधार पर चमका है।

तत्त्वार्थ सूत्रो के व्याख्याकारो मे उमास्वाति ही सर्वप्रथम थे।

'तत्त्वार्थाधिगम' उनकी स्वोपज्ञ रचना है। यह मान्यता श्वेताम्बर विद्वानो की है। दिगम्बर विद्वान् इसे स्वोपज्ञ रचना नही मानते।

उमास्वाति गद्यकार ही नही पद्यकार भी थे। उनकी भाष्यकारिकाए सुललित पद्यो मे सन्निहित है।

कारिका पद्यो के अनुसार वाचक मुख्य शिवश्री के शिष्य व एकादशाग के धारक घोपनन्दि क्षमाश्रमण उमास्वाति के दीक्षा गुरु थे और महावाचक मुडपाद के शिष्य 'मूल' उनके विद्यागुरु थे।

उनके तत्त्वार्थ भाष्य से वाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान आदि श्रमणो के लिए उपकरण-सग्रह का सकेत प्राप्त होता है।

आचार्य उमास्वाति पाच सौ ग्रन्थो के रचनाकार थे—यह उल्लेख प्रशमरति प्रकरण की हारिभद्रीया वृत्ति के उपोद्घात मे है, पर वर्तमान मे इन ग्रन्थो की पूर्णत सूची भी उपलब्ध नही है।

आचार्य उमास्वाति का साहित्य मौलिक है एव गम्भीर सामग्री से परिपूर्ण है। अर्हन्नीति-उन्नयन कार्य उनके साहित्य से सवल हुआ। 'तत्त्वार्थ सूत्र' उनकी अनुपम कृति है। दु खार्त एव आगमो के गूढ ज्ञान का प्राप्त करने मे असमर्थ लोगो पर अनुकम्पा कर आचार्य उमास्वाति ने गुरु-परम्परा मे प्राप्त आर्हत् उपदेश को 'तत्त्वार्थाधिगम' ग्रन्थ मे निहित किया। आचार्य उमास्वाति के शब्दो मे यह ग्रन्थ अव्यावाध सुख को प्राप्त करने वाला है। इस ग्रन्थ की रचना कुसुमपुर मे हुई थी।

सिद्धान्तप्रधान एव दर्शनप्रधान इस ग्रन्थ ने उत्तरवर्ती आचार्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है। श्वेताम्वर एव दिगम्वर दोनो ही परम्पराओ मे इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ की व्याख्या मे पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि, आचार्य अकलक देव ने राजवार्तिक टीका और आचार्य विद्यानन्द ने सभाष्य तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक टीका लिखी है। स्थान-स्थान पर 'आप्त परीक्षा' आदि ग्रन्थो की रचना मे आचार्य विद्यानद के 'तत्त्वार्थ सूत्र' के सूत्रो का प्रामाणिक आधार भी दिया है।

आचार्य उमास्वाति के साथ कही-कही 'पूर्वविद्' विशेपण भी आता है। यह विशेषण उनके पूर्वज्ञान का सूचक माना गया है। दिगम्वर परम्परा मे उनको श्रुत-केवली के तुल्य घोषित किया है।

प्रो० हीरालाल जैन ने श्रवणवेलगोल के शिलालेखो के आधार पर आचार्य उमास्वाति को आचार्य कुन्दकुन्द की परम्परा मे माना है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार आचार्य उमास्वाति उच्चनागरी शाखा के थे। उच्चनागरी शाखा का सम्वन्ध आचार्य सुस्थित की परम्परा के आचार्य माठर गोत्रीय शान्ति श्रेणिक से था। इस आधार पर पडित सुखलाल जी ने उमास्वाति को श्वेताम्वर परम्परा का

प्रमाणित किया है।

प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे उमास्वाति एक ऐसे आचार्य हुए है जिनको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो समान भावेन सम्मान देते हैं और इन्हें अपनी-अपनी परम्परा का मानने मे गौरव का अनुभव करते है।

दिगम्बर परम्परा मे उमास्वाति और उमास्वामी दोनो नाम प्रचलित हैं। श्वेताम्बर परम्परा मे केवल उमास्वाति नाम ही प्रसिद्ध है।

आचार्य उमास्वाति की जीवन परिचायक सामग्री निम्नोक्त पद्यो मे उपलब्ध है।

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय प्रकाशयशस प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमा श्रमणस्यैकादशागविद ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न प्रथितकीर्ते ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥
अर्हद्वचन सम्यग्, गुरुक्रमेणागत समवधार्य।
दु खार्त च दुरागम-विहतमति लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधिगमाख्य स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्य ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।
सोऽव्याबाधसुखाख्य प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

(तत्त्वार्थ भाष्य कारिका)

आचार्य बलिस्सह के उत्तराधिकारी हारीत गोत्रीय आचार्य स्वाति आचार्य उमास्वाति से भिन्न थे। 'तत्त्वार्थ सूत्र' के रचनाकार आचार्य उमास्वाति का समय वि० की तृतीय सदी स्वीकार किया है। अत वे वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के आसपास सिद्ध होते हैं।

३४-३५ आगमपिटक-आचार्य स्कन्दिल और नागार्जुन

अगाध ज्ञान के धनी, वाचक वश परम्परा के परम प्रभावी आचार्य स्कन्दिल एव नागार्जुन आगम वाचनाकार के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त है। वे अनुयोगधर आचार्य थे।

भगवान् महावीर के निर्वाणोत्तर काल से अव तक चार आगम-वाचनाओ का उल्लेख मिलता है। उनमे प्रथम वाचना वीर निर्वाण की द्वितीय शताव्दी के उत्तरार्ध मे सम्पन्न हुई थी। उस समय दुष्काल के प्रभाव से श्रुतधर मुनियो की महान् क्षति होने पर भी श्रुत की धारा सर्वथा विच्छिन्न नही हुई थी। चौदह पूर्वो के ज्ञाता भवाब्धि-पतवार आचार्य भद्रवाहु एव श्रुत-सागर का समग्रता से पान कर लेने मे सक्षम महाप्रतिभासम्पन्न आचार्य स्थूलभद्र जैसे श्रमण विद्यमान थे।

वीर निर्वाण की नौवी शताव्दी मे द्वादश वार्षिक दुष्काल का श्रुत विनाशकारी भीषण आघात पुन जैन शासन को लगा। साधु-जीवन की मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति दुर्लभ हो गयी। अनेक श्रुतसम्पन्न मुनि काल के अक मे समा गए। सूत्रार्थ ग्रहण-परावर्तन के अभाव मे श्रुत सरिता सूखने लगी। जैन शासन के सामने यह अति विपम स्थिति थी। वहुसख्यक मुनिजन सुदूर प्रदेशो मे विहरण करने के लिए प्रस्थान कर चुके थे।

दुष्काल-परिसमाप्ति के वाद मथुरा मे श्रमण सम्मेलन हुआ। सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने सम्भाला। श्रुतसम्पन्न मुनियो की उपस्थिति सम्मेलन की अनन्य शोभा थी। श्रमणो की स्मृति के आधार पर आगम पाठो का व्यवस्थित सकलन हुआ। इस द्वितीय आगम वाचना का समय वी० नि० ८२७ से ८४० (वि० स० ३५७ से ३७०) का मध्य काल है। यह आगम वाचना मथुरा मे होने के कारण माथुरी वाचना कहलाई। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता मे होने के कारण इसे स्कन्दिली वाचना के नाम से अभिहित किया गया।

प्रस्तुत घटनाचक्र का दूसरा पक्ष यह भी है—दुष्काल के इस क्रूर आघात से अनुयोगधर मुनियो मे एक स्कन्दिल ही वच पाए थे। उन्होने मथुरा मे अनुयोग का प्रवर्तन किया था अत यह वाचना स्कन्दिली वाचना के नाम से विश्रुत हुई।[1] इसी समय के आसपास एक आगम-वाचना वल्लभी मे आचार्य नागार्जुन की

अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई। इसे वल्लभी वाचना एव नागार्जुनीय वाचना की सज्ञा मिली है। स्मृति के आधार पर सूत्र-सकलना होने के कारण वाचना भेद रह जाना स्वाभाविक था।[3] आचार्य देवर्द्धिगणी के समय मे भी आगम वाचना का महत्त्वपूर्ण कार्य वल्लभी मे हुआ है। अत वर्तमान मे आचार्य नागार्जुन की आगम वाचना को प्रथम वल्लभी वाचना के नाम से भी पहचाना जाता है।

इतिहास के पृष्ठो पर दोनो वाचनाओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्षत-विक्षत आगमनिधि का उचित समय पर सकलन कर इन दोनो आचार्यो ने जैन शासन पर महान् उपकार किया है।

आचार्य देवर्द्धिगणी ने इन दोनो ही आचार्यों की भावपूर्ण शब्दो मे स्तुति की है। आचार्य नागार्जुन के विषय मे वे लिखते हैं

मिउमज्जव सपण्णे अणुपुव्वि वायगत्तण पत्ते।
ओहसुयसमायारे णाणज्जुणवायए व दे॥३५॥ (नन्दी सूत्र)

मृदुतादि गुणो मे सम्पन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण मे अथवा परम्परा से विकास की भूमिका का क्रमश आरोहणपूर्वक वाचक पद को प्राप्त ओघ श्रुत समाचारी मे कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हू।

वाचनाचार्य स्कन्दिल के विषय मे उनका प्रसिद्ध श्लोक है

जेसि इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनगरनिग्गयजसे ते वदे खदिलायरिए॥३२॥ (नन्दी सूत्र)

प्रस्तुत पद्य मे आचार्य स्कन्दिल के अनुयोग को सम्पूर्ण भारत मे प्रवृत्त बता कर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने अपार सम्मान प्रकट किया है। नन्दी सूत्र के इस उल्लेख के आधार महामहिम आचार्य स्कन्दिल के उदात्त व्यक्तित्व का प्रभाव पूरे भारत मे प्रतीत होता है। आचार्य देवर्द्धिगणी ने आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुख माना था। यह तथ्य भी उपर्युक्त गाथा के आधार पर प्रमाणित होता है।

आचार्य नागार्जुन धृति सम्पन्न, महा पराक्रमी, स्वाध्यायी उपसर्गादि प्रतिकूलताओ के सहने मे अकम्प हिमालय वाचनाचार्य हिमवन्त के शिष्य थे।[1]

नीलोत्पल की भाति श्यामवर्ण वाचनाचार्य रेवती नक्षत्र के विद्वान् शिष्य ब्रह्मद्वीपक सिंह आचार्य स्कन्दिल के गुरु थे। ब्रह्मद्वीपक सिंह कालिक श्रुत के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर-गम्भीर एव उत्तम वाचक पद से सुशोभित थे।[2]

'वीर निर्वाण सवत् और जैन काल गणना' कृति मे प्रदत्त हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार आचार्य स्कन्दिल का जन्म मथुरा के ब्राह्मण परिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम मेघरथ एव माता का नाम रूपसेना था। मेघरथ एव रूपसेना दोनो उत्कृष्ट धर्म की उपासना करने वाले, जिनाज्ञा के प्रतिपालक श्रावक थे। गृहस्थ जीवन मे आचार्य स्कन्दिल का नाम सोमरथ था। ब्रह्मदीपिका शाखा के

स्थविर सिंहरथ के उपदेश से प्रभावित हो सोमरथ ने उनके पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की।

द्वादश वर्षीय दुष्काल के प्रभाव से अनेक श्रुतधर मुनि वैभारगिरि एव कुमारगिरि पर्वत पर अनशनपूर्वक स्वर्गस्थ हो चुके थे। इस अवसर पर आगम श्रुत की भी महान् क्षति हुई। दुष्काल की परिसमाप्ति पर मथुरा मे आयोजित श्रमणो के महा सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य स्कन्दिल ने की। प्रस्तुत सम्मेलन मे मधुमित्र, गन्धहस्ती आदि १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र एव स्कन्दिल दोनो आचार्य सिंह के शिष्य थे। नन्दी सूत्र मे इन्हे ही ब्रह्मद्वीपक सिंह कहा गया है। आचार्य गन्धहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। उनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर आठ हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना आचार्य गन्धहस्ती ने की।

गुरुभाई आचार्य मधुमित्र, महाप्राज्ञ आचार्य गन्धहस्ती एव तत्सम अनेक विद्वान श्रमणो के स्मृत पाठो के आधार पर आगम श्रुत का सकलन हुआ। अनुयोगधर आचार्य स्कन्दिल ने उसे प्रणाम किया था। आचार्य स्कन्दिल की प्रेरणा से विद्वान् शिष्य गन्धहस्ती ने ग्यारह अगो का विवरण लिखा। मथुरा निवासी ओसवाल वशज श्रावक पोलालक ने गन्धहस्ती विवरण सहित सूत्रो को ताडपत्र पर लिखवाकर निर्ग्रन्थो को अर्पित किया था। आचार्य गन्धहस्ती को ब्रह्मदीपक शाखा मे मुकुट मणि के तुल्य माना है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार आचार्य स्कन्दिल विद्याधरी आम्नाय के आचार्य पादलिप्त सूरि की परम्परा के थे। जैन शासन रूपी नन्दन वन मे कल्पवृक्ष के समान, समग्र श्रुतानुयोग को अकुरित करने मे महामेघ के समान आचार्य स्कन्दिल थे। 'चिन्तामणिरिवेष्टद' चिन्तामणि की भाति वे इष्ट वस्तु के प्रदाता थे।[१] वाचनाचार्य हिमवत के ठीक पश्चात्वर्ती आचार्य नागार्जुन एव पूर्ववर्ती आचार्य स्कन्दिल थे।

आचार्य मेरुतुग ने आचार्य स्कन्दिल की काल-निर्णायकता के विषय मे लिखा है—"श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्र स्वामी, तदनु २३९ वर्षे स्कन्दिल।" विक्रम स० ११४ मे वज्र स्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र की स्वर्ग सम्वत् से २३९ वर्ष बाद का है। विद्वान मुनि कल्याण विजय जी के अभिमत से वज्र स्वामी एव आचार्य स्कन्दिल दोनो का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष है। वज्र स्वामी के बाद १३ वर्ष आर्य रक्षित के, २० वर्ष पुष्पमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६९ वर्ष नागहस्ती के, ५९ वर्ष रेवतिमित्र के, ७८ वर्ष ब्रह्मदीपक सिंह के हैं। कुल जोड २४२ वर्ष का है। इस २४२ की सख्या मे वज्र स्वामी के ११४ वर्ष एव अनुयोग प्रवर्तक प्रसिद्ध वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधान-काल के १४ वर्ष मिला देने से उनका (आर्य स्कन्दिल) समय वी० नि० ८२७ से ८४०

तक का प्रमाणित किया गया है। यही काल स्कंदिली वाचना का प्राय मान्य हुआ है।

आधार-स्थल

१ कह पुण तेसि अणुओगो ? उच्यते—बारसमवच्छरिए महते दुब्भिक्खकाले भत्तट्ठा अण्णण्णतो फिडिताण गहण-गुणणाणुप्पेहाभावातो सुत्ते विप्पणट्ठे पुणो सुभिक्खकाले जाते मधुराए महते साहु समुदए खदिलायरियप्पमुहसघेण 'जो ज सभरति' त्ति एव सघडित (जें० १६० प्र०) कालियसुत्त। जम्हा य एव मधुराए कत तम्हा माधुरा वायणा भण्णति। सा य खद्दिलायरियसम्मयत्ति कातु तस्सतियो अणुओगो भण्णति। सेस कठ। अण्णे भणति जहा-सुत्त ण णट्ठ, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणुओगधरा ते विणट्ठा, एगे खदिला-यरिए सघरे, तेण मधुराए अणुयोगो पुणो साघूण पवत्तितो त्ति माघुरा वायणा भण्णति, तस्सतितो य अणुयोगो भण्णति ॥३२॥

(नन्दी चूर्णि, पृ० ६)

२ इह हि स्कदिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्पमानुभावतो दुर्भिक्षाप्रवृत्या साधूना पठनगुणनादिक सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयो सघयोर्मेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको वलभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसघटने परस्परवाचनाभेदो जात। विस्मृत-योर्हि सूत्रार्थयो स्मृत्वा सघटने भवत्यवश्यवाचनाभेदो न काचिदनुपपत्ति।"

(ज्योतिष्करण्डक टीका)

३ ततो हिमवतमहतविक्कमे धिइपरक्कममहते।
सज्झायमणतघरे हिमवते वदिमो सिरसा ॥३३॥

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

४ जच्चजणधाउसमप्पहाण मुद्दीय-कुवलयनिहाण।
वड्ढउ वायगवंसो रेवइणक्खत्तणामाण ॥३०॥
अयलपुरा णिक्खते कालियसुयआणुओगिए धीरे।
बभद्दीवगसीहे वायगपयमुत्तम पत्ते ॥३१॥

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

५ पारिजातोऽपारिजातो जैनशासननन्दने।
सर्वश्रुतानुयोगद्रु कन्दकन्दलनाम्बुद ॥४॥
विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टद।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्य पादलिप्तप्रभो कुले ॥५॥

(प्रभा० चरित, वृद्धवादी चरित्र, पृ० ५४)

३६ प्राज्ञप्रवर आचार्य विमल

पउमचरिय के रचनाकार आचार्य विमल 'नाइल-कुल' के वशज थे। वे आचार्य राहु के प्रशिप्य एव आचार्य विजय के शिप्य थे। प्राकृत-भापा पर उनका एकाधिपत्य था। साहित्यिक भापा मे गुम्फित 'पउमचरिय' (जैन-रामायण) अत्युत्तम पद्यमयी रचना आचार्य विमल की कुशल कवित्व-शक्ति का परिचय कराती है।

पउमचरिय ११८ पर्वो मे निवद्ध है। राम का आद्योपान्त जीवन-चरित्र इस कृति मे प्रस्तुत है। वाल्मीकि रामायण मे रावण, कुम्भकर्ण आदि नायको के व्यक्तित्व को विचित्र ढग से उभारा गया है। रावण माम-भक्षी था। पन्मासशायी कुम्भकर्ण क्षुधा शान्त करने के लिए हाथी आदि विशालकाय पशुओ को भी निगल जाया करता था। स्वर्णमृग के पीछे राम का पलायन एव उद्दामवीचियो से उद्धत सागर पर वानर सेना द्वारा पुल का निर्माण आदि प्रसग उसमे है। आचार्य विमल ने भिन्न प्रकार से जैन-मस्कृति के माध्यम मे राम के यथार्थ रूप को प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

पउमचरिय के अनुमार सीता का जन्म भूखनन के समय हल की नोक से नही हुआ था। वह मिथिला की राजकुमारी-जनक दुलारी विदेह की प्यारी सुता थी।

लका मे प्रवेश करते समय अजनि-सुत ने लकासुन्दरी के साथ युद्ध किया था। वह लकासुन्दरी देवी नही मानव पुत्री थी और दुर्गरक्षक विभाग से सम्वन्धित थी।

लका-विजय के लिए प्रस्थित राम के मार्ग को रोकने के लिए किसी प्रकार की देवशक्ति समुद्र के रूप मे प्रकट नही हुई थी अपितु वह लकेश द्वारा नियुक्त लका सीमा पर स्थित समुद्र नाम का राजा ही था।

लक्ष्मण जी की चिकित्सा के लिए पवन-पुत्र द्वारा पूरा पर्वत ही कन्धो पर उठा लाने के घटना-प्रसग पर विमलाचार्य ने कुशल चिकित्सक महिला विशल्या का उल्लेख किया है।

जैन परम्परा मे पउमचरिय को वही महत्त्व प्राप्त है, जो महत्त्व ब्राह्मण साहित्य मे वाल्मीकि रामायण का है। वाल्मीकि रामायण सस्कृत रचना है। पउमचरिय महाराप्ट्री प्राकृत रचना है। इसमे मात्राप्रधान गाथा छन्द का प्रयोग हुआ

है। स्थान-स्थान पर अनेक देशी शब्द भी व्यवहृत है। राम का एक नाम 'पद्म' भी है। 'पद्म' नाम के आधार पर इस कृति का नाम 'पउमचरिय' हुआ है।

जैन प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक के सम्मुख गौतम गणधर द्वारा निर्दिष्ट रामकथा का विस्तार इस कृति मे है।

शलाका-पुरुष का जीवन प्रतिपादित होने के कारण इसे पुराण सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है पर शैली की दृष्टि से यह महाकाव्य की अनुभूति कराता है। काव्य की उत्प्रेक्षा रूपक आदि विभिन्न अलकारो से मडित प्रवाहमयी ओजपूर्ण भाषा एव मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपजाति आदि नाना छन्दो मे वद्ध सरस पद्यावलिया पाठक को मधुबिन्दु जैसी रोचकता प्रदान करती है।

कथा का प्रवाह पूरे काव्य मे सलिल-परिपूर्ण मन्दाकिनी की भाति निर्वाध गति से प्रवहमान है। कही भी काव्यगुणो से प्रभावित होकर उसकी धारा मन्द नही हो पायी है।

रसप्रधान और भावप्रधान यह ग्रन्थ कथ्य के आधार पर पुराण साहित्य के गुणो को एव शैली के आधार पर काव्य गुणो को प्रकट करता है।

काव्य-परम्परा मे यह उत्तम काव्य है एव जैन पुराण साहित्य का यह ८६५१ श्लोक परिमाण प्रथम पुराण ग्रन्थ हे। पुराण साहित्य के अन्वय आदि आठो अगो का प्रस्तुत पुराण मे पर्याप्त विवेचन है।

रामायण के मुख्य नायक जैन है। राम अत मे श्रमण दीक्षा ग्रहण कर निर्वाण को प्राप्त हुए है। निर्वाण-प्राप्ति ही जैन दर्शन के उत्कर्ष का चरम विन्दु है।

यह कृति पुरुपोत्तम राम के जीवन-चरित्र के साथ जैनसम्मत तीर्थकर चक्रवर्ती आदि शलाका-पुरुषो के सम्वन्ध की विविध सामग्री प्रस्तुत करती है।

आचार्य विमल यथार्थ मे ही विमल प्रज्ञा के धनी थे। उन्होने पउमचरिय जैमी उच्चकोटि की कृति का निर्माण कर जैन शासन को अनुपम उपहार भेट किया है।

रविपेण का 'पद्म चरित्त' ग्रन्थ पउमचरिय का ही रूपान्तरण है।

आचार्य विमल की द्वितीय रचना हरिवश पुराण वर्तमान मे अनुपलव्ध है।

पउमचरिय कृति मे प्राप्त उल्लेखानुसार यह रचना ईसवी सन् प्रथम सदी की है। पर काव्य की भापा-रचना को देखकर विद्वान् लोग इसे ईसवी सन् दूसरी सदी से पूर्व किसी प्रकार नही मानते। डा० हर्मन याकोवी ने आचार्य विमल का समय ईसवी सन् चौथी सदी माना है। डा० याकोवी के निर्णयानुसार प्राज्ञ-प्रवर आचार्य विमल वी० नि० की ९वी-१०वी सदी के विद्वान थे।

३७ जैन सस्कृति-सरक्षक आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

जैन इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो मे वाचनाकार आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का नाम अकित है और रहेगा। उन्होने क्षत-विक्षत आगम ज्ञान धारा को युग-युग तक स्थायित्व प्रदान करने का जो काय मौलिक सूझ-बूझ से किया उसे समय की घनी परतें भी ढाक न सकेंगी।

देवर्द्धिगणी के गृहस्थ जीवन का परिचय प्रदान करने वाली प्रामाणिक सामग्री नही के वरावर उपलब्ध है। 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार क्षान्त, दान्त, मृदुतादि गुणो से सम्पन्न सूत्रार्थ रत्नमणियो के धारक आचार्य देवर्द्धिगणी काश्यप गोत्रीय थे।[१] लोक श्रुति के आधार पर सौराष्ट्र के राज सेवक कामर्द्धि क्षत्रिय के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम कलावती था। माता ने ऋद्धि सम्पन्न देव को स्वप्न मे देखा था। उसी स्वप्न के आधार पर पुत्र को देवर्द्धि सज्ञा से अभिहित किया गया। देवर्द्धि को मित्र देव द्वारा उद्वोध प्राप्त हुआ। उनके दीक्षा गुरु लोहित्याचार्य थे।

नन्दी सूत्र मे लोहित्याचार्य की समीचीन शब्दो मे प्रशस्ति हुई है। सूत्रार्थ के सम्यक् धारक, पदार्थस्थ नित्यानित्य स्वरूप के विवेचक एव शोभन भाव मे स्थित लोहित्याचार्य को वताकर उनके प्रति देवर्द्धिगणी ने हार्दिक सम्मान प्रकट किया है।[२]

नन्दी स्थविरावली के आधार पर चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने देवर्द्धिगणी को दूष्यगणी का शिष्य माना है।[३] देवर्द्धिगणी के शब्दो मे आचार्य दूष्यगणी आगम श्रुत के ज्ञाता थे, समर्थ वाचनाचार्य थे, प्रकृति से मधुर भाषी थे, तप, नियम, सत्य, सयम, विनय, आर्जव, मार्दव, क्षमा आदि उत्तम गुणो से सुशोभित थे एव अनुयोग-धर युगप्रधान थे। उनके चरण प्रशस्त लक्षणो से युक्त सुकोमल तलवो वाले थे।[४]

आचार्य देवर्द्धिगणी द्वारा आर्य दूष्यगणी की ज्ञान-सम्पदा के साथ शरीर-सम्पदा का भी सूक्ष्म विवेचन दोनो का अत्यन्त नैकट्य स्थापित करता है।

मुनि श्री कल्याण विजय जी ने न नन्दी स्थविरावली को गुरुपट्ट परम्परा के रूप मे समर्थन दिया है और न देवर्द्धिगणी को दूष्यगणी का शिष्य माना है। उनके अभिमत मे कल्प स्थविरावली के अनुसार देवर्द्धिगणी आर्य शाडिल्य के शिष्य है।[५]

दुष्काल ने हृदय को कप-कपा देने वाले नाखूनी पजे फैलाए। उस समय अनेक श्रुतधर श्रमण काल-कवलित हो गए एव श्रुत की महान् क्षति हुई। दुष्काल परिसमाप्ति के बाद वल्लभी मे पुन जैन सघ एकत्रित हुआ। विशिष्ट वाचनाचार्य नाना गुणालकृत श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण इस महाश्रमण सघ के अध्यक्ष थे।

श्रमण सम्मेलन मे त्रुटित-अत्रुटित समग्र आगम-पाठो का श्रमण सघ के स्मृति सहयोग से सकलन हुआ एव श्रुत को स्थायित्व प्रदान करने हेतु उन्हे पुस्तकारूढ किया गया। आगम-लेखन का कार्य आर्यरक्षित के युग मे भी अशत प्रारम्भ हो चुका था। अनुयोग द्वार मे दो प्रकार के श्रुत का उल्लेख है—द्रव्य श्रुत एव भाव श्रुत। पुस्तक लिखित श्रुत द्रव्य श्रुत मे मान्य किया गया है।[१]

आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन के समय मे भी आगम लिपिबद्ध होने के उल्लेख मिलते है[२] पर देवर्द्धिगणी के नेतृत्व मे समग्र आगमो का व्यवस्थित सकलन एव लिपिकरण हुआ वह अपने-आपमे अपूर्व था। अत परम्परा से यह श्रेय आर्य देवर्द्धिगणी को प्राप्त होता रहा है। इस सदर्भ का प्रसिद्ध श्लोक है

वलहिपुरम्मि नयरे, देवड्ढियमुहेण समणसघेण।
पुत्थइ आगमु लिहिओ नवसयअसीआओ विराओ॥

—वल्लभी नगरी मे देवर्द्धिगणी प्रमुख श्रमण सघ ने वी० नि० ६८० (वि० स० ५१०) मे आगमो को पुस्तकारूढ किया था।

आगम-वाचना के समय स्कन्दिली एव नागार्जुनीय उभय वाचनाए देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के समक्ष थी। नागार्जुनीय वाचनाओ के प्रतिनिधि आचार्य कालक (चतुर्थ) थे। स्कन्दिली वाचना के प्रतिनिधि देवर्द्धिगणी स्वय थे। उभय वाचनाओ मे पूर्ण समानता नही थी। विषमाश रह जाने का कारण आर्य स्कन्दिल एव आर्य नागार्जुन का प्रत्यक्ष मिलन नही हो पाया था। अत दोनो निकटवर्ती वाचनाओ मे भी यह भेद स्थायी रूप मे सदा-सदा के लिए रह गया।[६] देवर्द्धिगणी ने श्रुत सकलन कार्य मे अत्यन्त तटस्थ नीति से काम किया। पूर्व वाचनाकार आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुखता प्रदान कर तथा नागार्जुनीय वाचना को पाठान्तर के रूप मे स्वीकार कर महान उदारता और गम्भीरता का परिचय उन्होने दिया तथा जैन सघ को विभक्त होने से बचा लिया।

आगम-वाचना के इस अवसर पर नन्दीसूत्र का निर्यूहण भी आर्य देवर्द्धिगणी ने किया। इस निर्यूढ कृति मे ज्ञान की व्यवस्थित रूपरेखा के साथ-साथ आगम सूत्रो की सूची तथा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का उल्लेख भी हुआ है। आचार्य सुधर्मा से लेकर दुष्यगणी तक के वाचनाचार्यो की समीचीन परम्परा भी प्रस्तुत है। वह इस प्रकार है

१ आर्य सुधर्मा	३ आर्य प्रभव
२ आर्य जम्बू	४ आर्य शय्यभव

५ आर्य यशोभद्र
६ आर्य सम्भूतविजय
७ आर्य भद्रबाहु
८ आर्य स्थूलभद्र
९ आर्य महागिरि
१० आर्य सुहस्ती
११ आर्य बलिस्सह
१२ आर्य स्वाति
१३ आर्य श्याम
१४ आर्य शाण्डिल्य
१५ आर्य समुद्र
१६ आर्य मगु
१७ आर्य आनन्दिल
१८ आर्य नागहस्ती
१९ आर्य रेवतीनक्षत्र
२० आर्य ब्रह्मदीपकसिंह
२१ आर्य स्कन्दिलाचार्य
२२ आर्य हिमवन्त
२३ आर्य नागार्जुन
२४ आर्य भूतदिन्न
२५ आर्य लोहित्य
२६ आर्य दूष्यगणी
२७ आर्य देवर्द्धिगणी

चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर, टीकाकार आचार्य हरिभद्र एव मलयगिरि ने आर्य धर्म, भद्र गुप्त, वज्र स्वामी, रक्षित, गोविन्द इन पाचो आचार्यो के नामगत पद्यो को प्रक्षिप्त मानकर उनकी गणना वाचक वश परम्परा मे नही की है।

चूर्णिकार एव टीकाकार ने नन्दीसूत्र की रचना का श्रेय आचार्य देववाचक को प्रदान किया है। देववाचक और देवर्द्धिगणी दोनो अभिन्न पुरुष थे।

भद्रेश्वर सूरि कृत 'कहावली' मे वादी, क्षमा श्रमण, दिवाकर, वाचक इन शब्दो को एकार्थक माना है।

विद्वान मुनि पुण्य विजय जी द्वारा नन्दीसूत्र की प्रस्तावना मे इस सदर्भ की समीचीन मीमासा प्रस्तुत है।

जैन शासन आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की आगम-वाचना का युग-युग तक आभारी रहेगा। उनके इस सफल प्रयत्न के अभाव मे श्रुतनिधि का जो रूप आज प्राप्त है वह नही हो पाता।

वीर नि० सहस्र वर्षीय अवधि की सम्पन्नता एव अग्रिम काल के प्रारम्भ मे आर्य देवर्द्धिगणी सयोजक कडी थे। दर्शन एव न्याय के युग को आगम युग के साथ अपनी साहित्यधारा के माध्यम से उन्होने जोडा। नन्दीसूत्र इसी दिशा का एक प्रयत्न प्रतीत होता है।

अन्तिम पूर्वधर भी आर्य देवर्द्धिगणी थे। पूर्व ज्ञान सम्पदा वीर निर्वाण के बाद काल के क्रूर प्रहारो से क्षत-विक्षत होकर भी हजार वर्ष तक अस्तित्व मे रही है। इस आधार पर सम्भवत आगम वाचनाकार आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का वी० नि० १००० (वि० ५३०) मे स्वर्गवास हुआ। उनके साथ पूर्व ज्ञान की धारा भी पूर्णत विच्छिन्न हो गयी।

आधार-स्थल

१ सुत्तत्थरयणभरिए, खमदममद्दवगुणेहिं सपन्ने ।
देवड्ढिखमासमणे, कासवगुत्ते पणिवयामि ॥१४॥

(कल्पसूत्र स्थविरावली)

२ सुमुणियणिच्चा-ऽणिच्च सुमुणियसुत्त-ऽत्थधारय णिच्च ।
वदेह लोहिच्च सब्भावुब्भावणातच्च ॥३६॥

(नन्दी सूत्र स्थविरावली)

३ एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा ॥ एव कतमगलोवयारो थेरावलिकमे य दसिए अरिहेसु य दसितेसु दुस्सगणिसीसो देववायगो साहुजणहितट्ठाए इणमाह ।

(नन्दी चूर्णि, पत्र १३)

४ अत्थ-महत्थक्खाणि सुसमणवक्खाणकहणणेव्वाणि ।
पयतीए महुराणि पयओ पणमामि दूसगणि ॥४०॥
सुकुमाल-कोमलतले तेसि पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पादे पावयणीण पडिच्छगसएहि पणिवइए ॥४१॥

(नन्दीसूत्र स्थविरावली)

५ वीर निर्वाण सवत् और जैन काल गणना, पृ० १२६

६ से किं त दव्वसुअ ? पत्तयपोत्थयलिहिअ

(अनुयोगद्वार सूत्र)

७ जिनवचन च दुष्षमाकालवशादुच्छिन्नप्रायमिति मत्वा भगवद्भिर्नागार्जुनस्कन्दिलाचार्य्यप्रभृतिभि पुस्तकेषु न्यस्तम् ।

(योगशास्त्र, प्रकाश ३, पत्र २०७)

८ परोप्परमसपण्णमेलावा य तस्समयाओ खंदिल्लनागज्जुणायरियाकाल काउ देवलोग गया । तेण तुल्लयाए वि तदुद्धरियसिद्धनाण जो सजाओ कथम (कहमवि) वायणाभेओ सो य न चालिओ पच्छिमेहिं ।

(कथावली २६८)

९ नन्दी प्रस्तावना पृ० ५

अध्याय २

उत्कर्ष युग के प्रभावक आचार्य

१. बोधिवृक्ष आचार्य वृद्धवादी

वृद्धावस्था मे दीक्षित होकर विद्वानो मे अपना सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले आचार्य वृद्धवादी थे। वे वाद-कुशल आचार्य थे। उनका गृहस्थ जीवन का नाम मुकुन्द था। गौड देश के कौशल ग्राम के विप्र परिवार मे उनका जन्म हुआ। विद्या धरणेन्द्र गच्छ के आचार्य पादलिप्त की परम्परा मे चिन्तामणि की भाति सकल चिन्तापहारी आचार्य स्कदिल थे।[1] पूर्ण वैराग्य के साथ मुकुन्द ने उनके पास दीक्षा ग्रहण की।

विकास का अनुवध अवस्था मे अधिक हार्दिक उत्साह से जुडा रहता है। व्यक्ति का अदम्य उत्साह हर अवस्था मे सभी प्रकार के विकास का द्वार उद्घाटित कर सकता है। मुनि मुकुन्द का जीवन इस बात को प्रमाणित करने के लिए सवल उदाहरण है।

घटना भृगुपुर की है। नव दीक्षित वृद्ध मुनि मुकुन्द मे ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कठा थी। वे प्रहर रात्रि वीत जाने के बाद भी उच्चघोप से अप्रमत्त भावेन स्वाध्याय करते रहते थे। उनकी गुण निप्पन्नकारक यह स्वाध्याय प्रवृत्ति दूसरो की नीद मे विघ्न-विधायक थी। गुरुवर्य ने मुनि मुकुन्द को प्रशिक्षण देते हुए कहा—"तुम्हारी यह उच्चध्वनिक स्वाध्याय अन्य लोगो की नीद मे अन्तरायभूत होने के कारण कर्म वध का कारण है। हिंस्र पशुओ के जागरण से अनर्थ दड की सभावना भी है।[2] अत नमस्कार मत्र का जाप अथवा ध्यानमय आभ्यन्तर तप ही श्रेष्ठ मार्ग है।"

सुविनीत मुनि मुकुन्द ने आचार्य देव से प्रशिक्षण पाकर दिन मे स्वाध्याय करना प्रारम्भ कर दिया। ज्ञान की तीव्र पीपासा उन्हे विश्राम नही करने देती थी। प्रतिपल अप्रमत्त भाव मे लीन दृढ सकल्पी, महा अध्यवसायी, अनवरत जागरूक, स्वाध्याय प्रवृत्त मुनि मुकुन्द का कर्णभेदक उच्चघोप श्रावक-श्राविका समाज को अखरा। किसी व्यक्ति ने व्यग कसा—"मुने! आप इतनी स्वाध्याय करके क्या मूसल (शुष्क लकडी) को पुष्पित करोगे? श्रावक द्वारा कही गयी यह वात मुनि मुकुन्द के हृदय मे तीर की भाति गहरा घाव कर गयी। उन्होने ब्राह्मी विद्या की आराधना मे इक्कीस दिन का तप किया। देवी प्रकट होकर वोली—"सर्वविद्या

सिद्धो भव।" दैविक वरदान से मुकुन्द मुनि कवीन्द्र एव विद्यासम्पन्न बने। शक्ति सामर्थ्य को प्राप्त कर मुकुन्द मुनि ने श्रावक के वचनो को सत्य सिद्ध करने की बात सोची। चौराहे पर बैठ सबके सामने मूसल को धरती मे थमा, मुनि मुकुन्द बोले

अस्मादृशा अपि यदा भारति ! त्वत्प्रसादत ।
भवेयुर्वादिन प्राज्ञा मुशल पुष्यता तत ॥३०॥

—भारति ! तुम्हारे प्रसाद से हमारे जैसे व्यक्ति भी वादी जनो मे प्राज्ञ का स्थान प्राप्त कर सके है। अब यह मूसल भी पुष्पित हो यह कहते हुए मुनि मुकुन्द ने अचित्त जल का सिंचन देकर मत्र महात्म्य से मूसल को पुष्पवान कर दिखाया।[४]

वृद्धावस्था मे अनवरत अध्ययन प्रवृत्त मुनि मुकुन्द को देखकर—"मूसल के फूल लगाओगे क्या ?" इस प्रकार फब्तिया कसने वाले वाचाल व्यक्तियो के मुनि मुकुन्द ने मुह बद कर दिए थे।

वाद-गोष्ठियो मे मुनि मुकुन्द सर्वत्र दुर्जेय बन चमके। अप्रतिमल्लवादी के रूप मे उनकी महिमा महकी।

वृद्धावस्था मे दीक्षित मुनि मुकुन्द वाद-कुशल आचार्य होने के कारण वृद्धवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

सब प्रकार से योग्य समझकर वादजयी वृद्धवादी को आचार्य स्कदिल ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे नियुक्त किया।[५]

जैन शासन सरोवर के उत्पन्न दल को विकसित करने वाले महाभास्कर आचार्य स्कदिल के स्वर्गगमन के पश्चात् भृगुपुर के बहिर्भूभाग मे आचार्य वृद्धवादी का शास्त्रार्थ सस्कृत भाषा के महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के साथ हुआ था। यह सारा प्रकरण आचार्य सिद्धसेन प्रकरण मे चर्चित हुआ है। सस्कृत भाषा के महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के गुरु शास्त्रार्थ-जयी आचार्य वृद्धवादी का काल वी० नि० की दसवी शताब्दी के बाद का है।

आधार-स्थल

१ विद्याधरवराम्नाये चिन्तामणिरिवेष्टद ।
आसीच्छ्रीस्कन्दिलाचार्य पादलिप्तप्रभो कुले ॥५॥
(प्रभा० च०, पृ० ५४)

२ यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ ।
मुने ! विनिद्रिता हिस्रजीवा भूतद्रुहो यत ॥१६॥
(प्रभा० च०, पृ० ५६)

३ तस्माद्ध्यानमय साधु विधेह्याभ्यन्तर तप ।
अहं सकोचितु साधोर्वाग्योगो निध्वनिक्षणे ॥१७॥

(प्रभा० च०, पृ० ५४)

४ इत्युक्त्वा प्रासुकैर्नीरैः सिषेच मुशल मुनि ।
सद्य पल्लवित पुष्पैर्युक्त तारैर्यथा नभ ॥३१॥

(प्रभा० च०, पृ० ५५)

५ तत सूरिपदे चक्रे गुरुभिर्गुरुवत्सलैः ।
वर्द्धिष्णवो गुणा अर्घा इव पात्रे नियोजिता ॥३४॥

(प्रभा० च०, पृ० ५५)

२. सरस्वती-कठाभरण आचार्य सिद्धसेन

आचार्य सिद्धसेन को श्वेताम्बर परम्परा मे गौरवमय स्थान प्राप्त है। वे समर्थ साहित्यकार, प्रकृष्टवादी एव सस्कृत भाषा के प्रगल्भ विद्वान् थे। विद्याधर गच्छीय आचार्य पादलिप्त की आम्नाय के प्रभावक आचार्य वृद्धवादी उनके दीक्षागुरु थे। उनके दादागुरु का नाम स्कन्दिल था।

आचार्य सिद्धसेन का जन्म विशाला के कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे।

आचार्य सिद्धसेन को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर भारी अभिमान था। वे अपने को दुनिया मे सर्वथा अपराजेय मानते थे। शास्त्रार्थ मे हार जाने पर विजेता का शिष्यत्व स्वीकार कर लेने मे वे दृढप्रतिज्ञ थे।

वाक्कुशल आचार्य वृद्धवादी के वैदुष्य की चर्चा सर्वत्र प्रसारित हो रही थी। उनसे शास्त्रार्थ करने की उदग्र इच्छा सिद्धसेन मे थी। एक बार भृगुपुर के मार्ग मे दोनो विद्वानो का मिलन हुआ। सिद्धसेन ने आचार्य वृद्धवादी के सामने शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रखा। आचार्य वृद्धवादी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। गोपालको ने मध्यस्थता की। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रथम वक्तव्य विद्वान् सिद्धसेन ने दिया। वे सानुप्रास सस्कृत भाषा मे धाराप्रवाह बोलते गए। गोपालको की समझ मे उनका एक भी शब्द नही आया। वे उन्मुख होकर बोले—"पण्डित! कब से अनर्गल प्रलाप कर रहा है। तुम्हारी कर्णकटूक्ति हमारे लिए असह्य हो रही है। चुप रह, अब उस वृद्ध को बोलने दे।"

सर्वज्ञत्व की निषेध सिद्धि विषय पर पक्ष प्रस्तुत कर विद्वान् सिद्धसेन बैठ गए।

आचार्य वृद्धवादी ने सर्वज्ञत्व समर्थन पर वक्तव्य दिया, तदनन्तर वे कर्णप्रिय घिन्दणी छन्द मे बोले

नवि मारियइ नवि चोरियइ परदारह गमणु निवारियइ।
थोवा थोव दाइयइ सग्गि टुकु टुकु जाइयई॥

हिंसा नही करने से, चोरी नही करने से, परदारा सेवन नही करने से, शुद्ध दान से व्यक्ति धीमे-धीमे स्वर्ग पहुच जाता है।

अपने विचारो को सहज गामीण भाषा मे प्रस्तुत करते हुए वे पुन बोले

कालउ कवलु अनुनी चाटु छासिहि खालडु भरिउ निपाटु।
अइ वडु पडियउ नीलइ झाडी अवर किसर गट सिंग निलाडि ।।

प्रस्तुत दोहे का राजस्थानी रूपान्तर इस प्रकार उपलब्ध होता है

काली कम्बल अरणी सट्ठ छाछड भरियो दीवड मट्ठ।
एवड पडियो लीले झाड, अवर कवण छै स्वर्ग विचार ।।

शीतनिवारणार्थ काली कम्बल पास हो, हाथ मे अरणि की लकडी हो, मटका छाछ से भरा हो और एवड को नीली घास प्राप्त हो गयी हो, इससे बढकर अन्य स्वर्ग क्या हो सकता है।

सुमधुर ग्रामीण भाषा मे आचार्य वृद्धवादी द्वारा स्वर्ग की परिभाषा सुनकर गोपालक जय-जय का घोष करते हुए नाच उठे। उन्होने कहा—"वृद्धवादी सर्वज्ञ है। श्रुति सुखद उपदेश का पाठक है। सिद्धसेन अर्थहीन बोल रहा है।"

गोपालको की सभा मे आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए। जय-पराजय का निर्णय आचार्य वृद्धवादी भृगुपुर मे पहुचकर विद्वत् सभा मे करवाना चाहते थे, पर आचार्य सिद्धसेन अपने सकल्प पर दृढ थे। आचार्य वृद्धवादी ने पाण्डित्य का प्रदर्शन न कर समयज्ञता का कार्य किया, समयज्ञ ही सर्वज्ञ होता है। इस अभिमत पर आचार्य वृद्धवादी को सर्वज्ञ और उनकी सूझ-बूझ के सामने अपने को अल्पज्ञ मानते हुए विद्वान् सिद्धसेन ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वे मुनि बन गए। उनका दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र रखा गया। वृद्धवादी के शिष्य परिवार मे कुमुदचन्द्र अत्यन्त योग्य और प्रतिभावान शिष्य थे। एक दिन वृद्धवादी ने उन्हे आचार्य पद पर आरूढ कर शिष्य समुदाय के साथ धर्म-प्रभावना के लिए स्वतन्त्र विहरण का आदेश दे दिया और उनका नाम कुमुदचन्द्र से पुन सिद्धसेन हो गया। प्रखर वैदुष्य के कारण आचार्य सिद्धसेन की प्रसिद्धि सर्वज्ञ पुत्र के नाम से भी हुई।

श्रमण परिवार से परिवृत आचार्य सिद्धसेन का पदार्पण अवन्ति मे हुआ। नगर-प्रवेश करते समय विशाल जन-समूह उनके पीछे-पीछे चल रहा था। सर्वज्ञ पुत्र की जय हो—कहकर आचार्य सिद्धसेन की विरुदावलि उच्च घोषो से मार्गवर्ती चतुष्पथो पर बोली जा रही थी। अवन्ति-शासक विक्रमादित्य का सहज आगमन सामने से हुआ। वे हाथी पर आरूढ थे। सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए उन्होने वही से आचार्य सिद्धसेन को मानसिक नमस्कार किया। निकट आने पर विक्रमादित्य को आचार्य सिद्धसेन ने उच्च घोषपूर्वक हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। विक्रमादित्य बोले—"बिना वदन किए ही आप किसको आशीर्वाद दे रहे हैं?"

आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"आपने मानसिक नमस्कार किया था, उसी के उत्तर मे मैंने आशीर्वाद दिया है।"

आचार्य सिद्धसेन की इस सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से विक्रमादित्य प्रभावित हुआ और उसने विशाल अर्थ-राशि का अनुदान किया।[१] सिद्धसेन ने उस अनुदान को अस्वीकार कर दिया। उनकी इस त्यागवृत्ति ने विक्रम को और भी अधिक प्रभावित किया तथा धर्मप्रचार कार्य मे उस अर्थराशि का उपयोग हुआ।

चित्रकूट मे सिद्धसेन ने विविध औषधियो के चूर्ण से बना एक स्तम्भ देखा। प्रतिपक्षी औषधियो का प्रयोग कर आचार्य सिद्धसेन ने उसमे एक छेद कर डाला। स्तम्भ मे हजारो पुस्तके थी। अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी आचार्य सिद्धसेन को उस छेद मे से एक ही पुस्तक प्राप्त हो सकी। पुस्तक के प्रथम पृष्ठ के पठन से उन्हे सर्षप मन्त्र (सैन्य सर्जन विद्या) और स्वर्णसिद्धि योग नामक दो महान् विद्याए उपलब्ध हुई।

सर्षप विद्या के प्रभाव से मान्त्रिक द्वारा जलाशय मे प्रक्षिप्त सर्षप कणो के अनुपात मे चौवीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत कर वे पुन जल मे अदृश्य हो जाते थे।

हेम विद्या के द्वारा मान्त्रिक किसी भी प्रकार की धातु को सहजत स्वर्ण मे परिवर्तित कर सकता था।[२]

इन दो विशिष्ट विद्याओ की प्राप्ति से आचार्य सिद्धसेन के मन मे उत्सुकता वढी। वे पूरी पुस्तक को पढ लेना चाहते थे पर देवी ने आकर उनसे पुस्तक को छीन लिया और उनकी मनोकामना पूर्ण न हो सकी।[३]

आचार्य सिद्धसेन खिन्नमन वहा से प्रस्थित हुए और जैन धर्म का जन-जन को वोध प्रदान करते हुए गावो, नगरो, राजधानियो मे विहरण करते रहे। पुगी पर डोलते हुए नाग की भाति आचार्य सिद्धसेन की कुशल वाग्मिता से उनकी यश ज्योत्स्ना विश्व मे प्रसारित हुई। मुख-मुख पर उनका नाम गूजने लगा।

आचार्य सिद्धसेन भ्रमणप्रिय आचार्य थे। वे चित्रकूट से पूर्व दिशा की ओर प्रस्थित हुए। अनेक ग्राम-देशो मे विहरण करते हुए पूर्व के कूर्मार मे पहुचे। कूर्मार देश का शासक देवपाल था। आचार्य सिद्धसेन से बोध प्राप्त कर वह उनका परम भक्त बन गया। देवपाल की राजसभा मे नित्य नवीन एव मधुर गोष्ठिया होती। आचार्य सिद्धसेन के योग से उन गोष्ठियो की सरसता अधिक वढ जाती थी। राज-सम्मान प्राप्त कर सिद्धसेन का मन उस वातावरण से मुग्ध हो गया और वे वही रहने लगे। राजा देवपाल के सामने पर चक्र का भय उपस्थित हुआ। राजा को चिंतित देखकर आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मा स्म विह्वलो भू"—राजन्, चिंतित मत बनो। जिसका मै सखा हू विजयश्री उसी की है। सिद्धसेन से सान्त्वना पाकर देवपाल को प्रसन्नता हुई। प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करने मे उनको आचार्य सिद्धसेन से महान् सहयोग प्राप्त हुआ। युद्ध की सकटकालीन स्थिति प्रस्तुत होने पर आचार्य सिद्धसेन ने 'सुवर्ण सिद्धि योग' नामक विद्या से पर्याप्त परिमाण मे अर्थ

को निष्पन्न कर तथा सर्पप मत्र के प्रयोग (सैन्य सर्जन विद्या) से विशाल सख्या मे सैनिक समूह का निर्माण कर देवपाल को सामर्थ्यसपन्न वना दिया। युद्ध मे देवपाल की विजय हुई। आचार्य सिद्धसेन राजा देवपाल के लिए सूर्य की भाति पथदर्शक सिद्ध हुए अत विजयोपरान्त देवपाल ने आचार्य सिद्धसेन को 'दिवाकर' की उपाधि से विभूषित किया।[४]

निशीथ चूर्णि के अनुसार सिद्धसेन ने अश्व रचना भी की थी।[५] देवपाल की भावभीनी मनुहार से आचार्य सिद्धसेन राजसुविधाओ का मुक्तभाव से उपयोग करने लगे। वे हाथी पर वैठते और शिविका का भी प्रयोग करते।[६] सिद्धसेन दिवाकर के साधनाशील जीवन मे शैथिल्य की जडे विस्तार पाने लगी। "श्रावका पौपधशालाया प्रवेशमेव न लभन्ते।" उनके पास उपासक वर्ग का आवागमन भी निपिद्ध हो गया। आचार्य होते हुए भी राजसम्मान प्राप्त कर सघ-निर्वहण के दायित्व को उन्होने सर्वथा उपेक्षित कर दिया था। धर्म-सघ मे चर्चा प्रारम्भ हुई

दगपाण पुप्फफल अणेसणिज्ज गिहत्थकिच्चाइ।
अजया पडिसेवती जइवेसविडवगा नवर॥१३॥

प्रवन्धकोश, पृ० १७, प० २८

अचित्त जल, पुष्प, फल, अनपेणीय आहार का ग्रहण एव गृहस्थ कार्यों का अयत्नापूर्वक सेवन श्रमण वेश की प्रत्यक्ष विडम्वना है।

आचार्य सिद्धसेन के अपयश की यह गाथा आचार्य वृद्धवादी के कानो तक पहुची। वे गच्छ के भार को योग्य शिष्यो के कन्धो पर स्थापित कर एकाकी वहा से चले। कूर्मार देश मे पहुचे। आचार्य सिद्धसेन के सामने वस्त्र से अपने शरीर को आवृत कर उपस्थित हुए। उन्होने सवके सम्मुख एक श्लोक वोला

अणुहुल्लीय फुल्ल म तोड हु मन आरामा म मोड हु।
मण कुसुमेहिं उच्चि निरज्जणु हिण्डह काइ वणेण वणु॥

आचार्य सिद्धसेन वुद्धि पर पर्याप्त वल लगाकर भी प्रस्तुत श्लोक का अर्थ न कर सके। उन्होने मन ही मन सोचा—ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नही है? पुन-पुन समागत विद्वान् की मुखाकृति को देखकर आचार्य सिद्धसेन ने वृद्धवादी को पहचाना। "पादयो. प्रणम्य क्षामिता पद्यार्थपृष्टा" चरणो मे गिरकर अविनय की क्षमा याचना की और विनम्र होकर श्लोक का अर्थ पूछा। आचार्य वृद्धवादी वोले—"योगकल्पद्रुम—श्रमण साधना योगकल्पवृक्ष के समान है। यम और नियम इस वृक्ष के मूल है। ध्यान प्रकाण्ड एव समता स्कन्ध श्री है। कवित्व, वक्तृत्व, यश, प्रताप, स्तम्भन, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाए पुष्प के समान है। केवलज्ञान की उपलब्धि मधुर फल है। अभी तक साधना जीवन का कल्पवृक्ष पुष्पित हुआ है। फलवान वनने से पहले ही इन पुष्पो को मत तोड। महाव्रत रूपी पौधो का उन्मूलन मत कर। प्रसन्न मन से अहकाररहित होकर वीतराग प्रभु की

आराधना कर। मोहादि तरुओ से गहन इस ससार अटवी मे भ्रमण क्यो कर रहा है?"

आचार्य वृद्धवादी की उद्‌वोधक वाणी से आचार्य सिद्धसेन के अन्तर् चक्षु उद्‌घाटित हुए। उन्होने गुरु चरणो मे नत हो क्षमा याचना की।

किंवदन्ती के अनुसार वृद्धवादी ने कूर्मार ग्राम मे पहुचकर आचार्य सिद्धसेन की पालकी के नीचे अनेक शिविकावाही पुरुषो के साथ अपना कधा लगा दिया। अवस्था वृद्ध होने के कारण वृद्धवादी के पाव लडखडा रहे थे एव उनकी ओर से सुख पालकी लचक रही थी। आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि कृशकाय-वयोवृद्ध वृद्धवादी पर पहुची और दर्प के साथ वे वोले

अयमादोलिका दड वृद्धस्तव किन्नु वाधति।

—रे वृद्ध! इस सुख पालकी का दड तुम्हे कष्टकर प्रतीत हो रहा है?

आचार्य सिद्धसेन द्वारा उच्चारित वाधति धातु के प्रयोग पर आचार्य वृद्धवादी चौके। सस्कृत के 'वाधृड्' धातु का परस्मैपदव्यवहार सर्वथा अशुद्ध है। इस अशुद्ध प्रयोग को परिलक्षित कर वे वोले

न वाधते तथा दण्ड यथा वाधति वाधते।

—मुझे इस दण्ड से नही वाधति धातु के प्रयोग से क्लेश हो रहा है।

आचार्य सिद्धसेन जानते थे, मेरी अशुद्धि की ओर सकेत करने वाला व्यक्ति मेरे गुरु वृद्धवादी के अतिरिक्त कोई नही हो सकता। अत आचार्य सिद्धसेन तत्क्षण सुख शिविका से नीचे उतरे, आत्मालोचन करते हुए गुरु-चरणो मे गिरे। आचार्य वृद्धवादी ने उन्हे प्रायश्चित्तपूर्वक सयम मे स्थिर किया।

आचार्य सिद्धसेन सस्कृत भापा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उस समय सस्कृत भापा का सम्मान वढ रहा था। प्राकृत भापा ग्रामीण भापा समझी जाने लगी। जैनेतर विद्वान् अपने-अपने ग्रथो का निर्माण सस्कृत मे करने लगे थे। आगमो को विद्वद्-भोग्य वनाने के लिए सिद्धसेन ने भी आगम ग्रन्थो को प्राकृत से सस्कृत मे अनूदित करना चाहा। उन्होने यह भावना गुरुजनो के सामने प्रस्तुत की।[५] स्थितिपालक मुनियो द्वारा नवीन विचारो के समर्थन पाने का मार्ग सरल नही था। सारे सघ ने आचार्य सिद्धसेन का प्रवल विरोध किया। श्रमण वोले—"किं सस्कृत कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्त तीर्थंकरा गणधरा वा यदर्धमागधेनागमानकृषत? तदेव जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्।" तीर्थंकर और गणधर सस्कृत नही जानते थे? उन्होने अर्ध मागधी भापा मे आगमो का प्रणयन क्यो किया? अत आगमो को सस्कृत भापा मे अनूदित करने का विचार महान् प्रायश्चित्त का निमित्त है।

सघ के इस अतर्विरोध के फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश वदल-कर वारह वर्ष तक गण से वाहर रहने का कठोर दण्ड मिला।[६] इस पाराञ्चित नामक दशवें प्रायश्चित्त को वहन करते समय आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद

था, वारह वर्ष की इस अवधि मे उनसे जैन शासन की महनीय प्रभावना का कार्य सम्पादित हो सका तो दण्डकाल की मर्यादा से पूर्व भी उन्हे सघ मे सम्मिलित किया जा सकता है।[९]

सघमुक्त आचार्य सिद्धसेन मुनिवेश परिवर्तित कर सात वर्ष तक विहरण करते रहे। उसके वाद उनका आगमन अवन्ति मे हुआ। वे शिव मदिर मे पहुचकर प्रतिमा को विना नमन किए ही वैठ गए। पुजारी ने उन्हे पुन -पुन प्रतिमा-प्रणाम के लिए कहा, पर आचार्य सिद्धसेन पर इसका कुछ भी प्रभाव नही हुआ। उन्होने पुजारी की वात को सुनकर भी अनसुना कर दिया। इस घटना की सूचना राजा के कानो तक पहुची। विक्रमादित्य स्वय शिव मदिर मे उपस्थित हुआ और सिद्धसेन से वोला—"क्षीर लिलिक्षो भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न वन्द्यते ?—हे दूधपान करने वाले श्रमण ! देव प्रतिमा को वन्दन नही करते ?" आचार्य सिद्धसेन वोले, "मेरा वन्दन प्रतिमा सहन नही कर सकेगी।"

राजा वोला, "भवतु क्रियता नमस्कार —जो कुछ घटित होता है, होने दो। तुम वन्दन करो।"

शिव प्रतिमा के सामने वैठकर आचार्य सिद्धसेन ने काव्यमयी भाषा मे स्तवना प्रारम्भ की। फलस्वरूप आचार्य सिद्धसेन द्वारा वत्तीस द्वात्रिंशिकाओ (स्तुति काव्य) का और तदनन्तर महान् प्रभावक कल्याण मदिर स्तोत्र का निर्माण हुआ। कल्याण मन्दिर स्रोत के १३वें श्लोक के साथ पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई।

आचार्य सिद्धसेन के इस कार्य से जैन शासन की महनीय प्रभावना शतगुणित होकर प्रसारित हुई। राजा विक्रमादित्य ने आचार्य सिद्धसेन का महान् सम्मान किया और उनका परम भक्त वना। राजा विक्रमादित्य की विद्वन्मण्डली मे भी आचार्य सिद्धसेन को गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ।

आचार्य सिद्धसेन के प्रस्तुत प्रयत्न को सघ अतिशय प्रभावना का महत्त्वपूर्ण अग मान श्रमण सघ ने उन्हे दड मर्यादा से पाच वर्ष पूर्व ही गण मे सम्मिलित कर लिया।[१०]

सिद्धसेन प्रगतिगामी विचारो के धनी थे। उनके नवीन विचारो का विरोध होना स्वाभाविक था। द्वादश वर्षीय सघ वहिष्कार के रूप मे दण्ड की यह पद्धति अवश्य अनुसन्धान का विषय है।

साहित्य-निर्माण की दिशा मे उन्होने जो कुछ किया, वह अनुपम था। आगमिक तथ्यो को तर्क की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हे है। जैन दर्शन मे न्याय के वे प्राण-प्रतिष्ठापक थे। दिग्गज विद्वान् धर्मकीर्ति, दिङ्नाग और वसुवन्धु के वे सवल प्रतिद्वन्द्वी थे।

'न्यायावतार' ग्रन्थ उनकी न्यायविषयक सर्वथा मौलिक रचना है। जैन न्याय मे सस्कृत भाषा का यह प्रथम ग्रन्थ भी है। आगमो मे वीज रूप से प्राप्त प्रभाव

एव नय का आधार लेकर बत्तीस अनुष्टुप श्लोको मे न्याय जैसे गम्भीर विषय को प्रस्तुत कर देना उनकी प्रतिभा का चमत्कार है।

'सन्मति तर्क' उनकी प्राकृत रचना है। उस समय आगम समर्थक जैन विद्वान् प्राकृत भाषा को पोषण दे रहे थे। सम्भवत इन विद्वानो की अभिरुचि का सम्मान करने के लिए 'सन्मति तर्क' का निर्माण सिद्धसेन ने प्राकृत भाषा मे किया है। नय का विशद विवेचन, तर्क के आधार पर पाच ज्ञान की परिचर्चा, प्रतिपक्षी दर्शन का भी सापेक्ष भूमिका पर समर्थन तथा सम्यक्त्व स्पर्शी अनेकान्त का युक्ति पुरस्सर प्रतिपादन इस ग्रन्थ का प्रमुख विषय है। प्रमाणविषयक सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह सर्वप्रथम जैन ग्रन्थ है।

आचार्य सिद्धसेन का द्वात्रिंशिका साहित्य उनके गम्भीर ज्ञान का सूचक है। इस साहित्य की रचना मे उन्होने अनुष्टुप्, उपजाति, वसन्ततिलका, पृथ्वी, शिखरिणी आदि विभिन्न छन्दो का उपयोग किया है।

आचार्य सिद्धसेन मे आस्था एव तर्क का अपूर्व समन्वय था। वे एक ओर मौलिक चिन्तन के धनी, स्वतत्र विचारक एव नवीन युग के प्रवर्तक थे, दूसरी ओर वे महान् स्तुतिकार थे। उनके द्वारा निर्मित द्वात्रिंशिकाओ मे इक्कीस द्वात्रिंशिकाए आज उपलब्ध है। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओ मे प्रथम पाच द्वात्रिंशिकाए स्तुतिमय है। इन स्तुतियो मे भगवान महावीर के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा के दर्शन होते हैं।

अवशिष्ट द्वात्रिंशिकाओ मे विविध विषयो का वर्णन मिलता है। जैनेतर दर्शनो को समझने के लिए १३वी, १४वी, १५वी, १६वी द्वात्रिंशिका उपयोगी है। इनमे क्रमश साख्य, वैशेषिक, वौद्ध एव नियतिवाद की चर्चा है। जैन तत्त्व दर्शन को समझने के लिए १९वी द्वात्रिंशिका विपुल सामग्री प्रदान करती है। आत्म-स्वरूप एव मुक्ति मार्ग का बोध २०वी द्वात्रिंशिका मे है। प्रथम पाच द्वात्रिंशिकाओ की भाति २१वी द्वात्रिंशिका भी स्तुतिमय है।

'न्यायावतार' एव 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ की रचना द्वात्रिंशिका साहित्य के वाद की है। भाषाशास्त्र-विशेषज्ञ विद्वान् इन दोनो ग्रन्थो का कर्तृक सिद्धसेन का स्वीकार करने मे सन्देहास्पद भी है।

आचार्य सिद्धसेन की कृतिया उनकी स्पष्टवादिता, निर्भीकता और चिन्तन की उन्मुक्तता का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। पूर्वाग्रह का भाव आचार्य सिद्धसेन मे कभी पनप नही सका। उन्होने पुरातन रूढ धारणाओ पर क्रान्ति का घोष करते हुए कहा

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा कि परिचित्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवादहन्नजात प्रथयन्तु विद्विप।

पुरातन पुरुषो की असिद्ध व्यवस्था का समर्थन करने के लिए मैं नही जन्मा हू।
एक ओर आचार्य सिद्धसेन ने आगम मे विखरे अनेकान्त सुमनो को माला का

रूप दिया दूसरी ओर उनके उर्वर मस्तिष्क से अनेक मौलिक तथ्य भी उभरे। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता मे मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान पर मेय रूप का समर्थन, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम के रूप मे प्रमाणत्रयी की परिकल्पना, प्रत्यक्ष और अनुमान मे स्वार्थ और परार्थ की अनुमति और प्रमाण लक्षण मे स्वपराव-भासक के साथ बाध वर्जित स्वरूप का निरूपण आदि सिद्धसेन की अपनी मौलिक सूझ ही थी।

वे कवि थे। "अनुसिद्धसेनकवय." इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार अन्य समस्त कवि उनके पीछे थे। आचार्य सिद्धसेन न्यायप्रतिष्ठापक, महान् स्तुतिकार, कुशल वाग्मी नवीन युग के प्रवर्तक, स्वतन्त्र विचारक एव साहित्याकाश के दिवाकर थे। उनकी नव-नवोन्मेष प्रदायिनी प्रतिभा जैन शासन के लिए वरदान सिद्ध हुई। उनकी साहित्य-सम्पदा ने श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनो परम्परा के विद्वान् जैनाचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया।

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र जैसे विद्वद्वरेण्य आचार्य का मस्तक भी उनकी प्रतिभा के सामने झुक गया। उन्होने कहा

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ?

—सिद्धसेन की महान् गूढार्थक स्तुतियो के सामने मेरे जैसे व्यक्ति का प्रयास अशिक्षित व्यक्ति का आलापमात्र है।

आदिपुराण के कर्त्ता दिगम्बर आचार्य जिनसेन उनकी कवित्व-शक्ति से अति प्रभावित हुए और उन्होने कहा

कवय सिद्धसेनाद्या-वय तु कवयो मता ।
मणय पद्मरागाद्या-ननु काचोऽपि मेचक ॥

—हम तो गणना मात्र कवि है। यथार्थ मे कवि आचार्य सिद्धसेन थे।

राजवार्तिक के कर्त्ता अकलक भट्ट भी उनके महान् प्रशसक रहे है।

धर्म-प्रचार की दिशा मे भी आचार्य सिद्धसेन ने जो किया वह जैन समाज के लिए गौरव का विषय है।

एक बार रास गाकर आचार्य सिद्धसेन ने भृगुकच्छ के सहस्रो ग्वालो को प्रति-बुद्ध किया था। उनके रास के आधार पर उन लोगो ने ताल रासक ग्राम बसाया।

आचार्य सिद्धसेन ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक राजाओ को बोध दिया था। सात राजाओ को अथवा अट्ठारह राजाओ को आचार्य सिद्धसेन द्वारा बोध देने की बात अधिक विश्रुत है। प्रभावक-चरित्र एव प्रबन्धकोश मे राजाओ की सख्या का कोई उल्लेख नही है।

जीवन के सन्ध्या काल मे आचार्य सिद्धसेन दक्षिण दिशा के पृथ्वीपुर मे थे। आयु का अन्तिम समय जान उन्होने अनशन स्वीकार किया। पूर्ण समाधि मे उनका स्वर्गवास हुआ। इस समय सिद्धसेन का गच्छ चित्रकूट मे था। पृथ्वीपुर के सघ न

महाप्रभावी आचार्य सिद्धसेन के स्वर्गारोहण की सूचना वाग्मी भट्ट के साथ वहा प्रेषित की। उसने वहा जाकर श्रमण सभा मे श्लोक का अर्ध भाग बोला

स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रत दक्षिणापथे

पुन -पुन उस वाक्य का उच्चारण वाग्मी भट्ट के द्वारा सुनकर आचार्य सिद्धसेन की सिद्ध सरस्वती भगिनी समझ गयी—उसका भाई अब ससार मे नहीं रहा है। उसने वाग्मी भट्ट द्वारा उच्चारित श्लोक का अर्धांश पूर्ण करते हुए कहा

नूनमस्तगतो वादिसिद्धसेनो दिवाकर ।

इन दो चरणो की रचना मे एव सिद्ध सरस्वती विशेषण से लगता है, आचार्य सिद्धसेन की भाति उनकी भगिनी भी प्रतिभासम्पन्न साध्वी थी।

आचार्य सिद्धसेन का युग आरोह और अवरोह का युग था। सस्कृत भाषा का उत्कर्ष एव प्राकृत भाषा का अपकर्ष हो रहा था। पुस्तको के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति आरम्भ हो चुकी थी। श्रमण जीवन मे शिथिलाचार प्रवेश पा रहा था। राजसम्मान प्राप्त जैनाचार्यों की दृष्टि मे व्यक्तित्व-प्रभावना का लक्ष्य प्रमुख एव साधुचर्या की बात गौण बन गयी थी। श्रमणो के द्वारा गजशिविका आदि विशेष वाहनो का उपयोग भी उस युग मे होने लगा था।

आचार्य सिद्धसेन का जीवन-प्रसग इन सारे बिन्दुओ का सकेतक है।

आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित शासक विक्रमादित्य गुप्तवशीय राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त के युग के थे और सवत्सर प्रवर्तक प्रसिद्ध विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आचार्य सिद्धसेन द्वारा रचित साहित्य मे सदृब्ध, सुललित, सालकारिक, प्रवाहमयी सस्कृत भाषा स्वरूप के आधार पर वे वी० नि० ११वी (वि० की चौथी-पाचवी) शताब्दी के विद्वान् माने गए है।

आधार-स्थल

१ धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुद्धृतपाणये ।
सूरयेसिद्ध सेनाय ददौ कोटिं नराधिप ॥६४॥

(प्रभावक चरित, पृ० ५६)

२ द्वे विद्ये लभते स्म। एका सर्षपविद्या, अपरा हेमविद्या। तत्र सर्षपविद्या सा ययोत्पन्ने कार्ये मान्त्रिको यावत सर्षपान् जलाशये क्षिपति तावन्ताऽश्ववारा द्विचत्वारिंशदुपकरण-सहितानि सरन्ति। तत परबल भज्यते। सुभटा कार्यसिद्धेरनन्तरमदृश्यो भवन्ति। हेमविद्या पुनरक्लेशेन शुद्धहेम-कोटी सद्यो निष्पादयति, येन तेन धातुना। तद्विद्याद्वय सम्यग् जग्राह।

(प्रबन्धकोश, पृ० १७)

३ सावधान पुरो यावद् वाचयत्येष हर्षभू ।
तत्पत्र पुस्तक चाथजह्रे श्रीशासनामरी ॥७२॥

(प्रभावक चरित, पृ० ५६)

४ ततो दिवाकर इति ख्याताख्या भवतु प्रभो ।
तदा प्रभृति गीतः श्रीसिद्धसेनदिवाकरः ॥८४॥

(प्रभा० चरित, पृ० ५७)

५ सिद्धसेनाचार्येणाख्या उत्पादिता

(बृहत्कल्प सूत्र, नियुक्ति भाष्य वृत्ति, विभाग ३, पृ० ५३)

६ तस्य राज्ञा दृढं न्यस्तं सुखासनादिषु ।
यत्नादारोपितो भक्त्या गच्छति क्षितिपालयम् ॥८५॥

(प्रभा० चरित, पृ० ५७)

७ सर्वानप्यागमानहं संस्कृतान् करोमि, यदि आदिशत ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

८ अहमाश्रयतमो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चिकं नाम प्रायश्चित्तं गुप्तमुखवस्त्रिका रजोहरणा-
दिलिङ्गः प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्याम्युपयुक्त ।

(प्रबन्धकोश, पृ० १८)

९ जैनप्रभावना काचिदद्भुता विदधाति चेत् ।
तदुक्तावधिमध्येऽपि लभते स्वं पदं ततः ॥१६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ५८)

१०. अक्षराणि तत पत्र सर्पोऽमुष्य मुमोच च ।
यत्रे च प्रकटे श्रीमत् सिद्धसेनदिवाकरम् ॥१५१॥

(प्रभा० चरित, पृ० ६०)

३ महाप्राज्ञ आचार्य मल्लवादी

महामेधावी आचार्य मल्लवादी को जैन दर्शन की प्रभावना मे महान् श्रेय प्राप्त है। वे तर्कशास्त्र के प्रकाड विद्वान् थे। उनका जन्म गुजरात प्रदेशान्तर्गत वल्लभी मे हुआ। उनकी माता का नाम दुर्लभ देवी था। दुर्लभ देवी के तीन पुत्र थे—अजित यश, यक्ष और मल्ल। इन तीनो मे आचार्य मल्लवादी सबसे छोटे थे। वे अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न वालक थे।

एक वार जैनाचार्य जिनानन्द सूरि का वल्लभी मे पदार्पण हुआ। जिनानन्द सूरि दुर्लभ देवी के भ्राता थे। उन्होने वल्लभी की जनता को विरक्ति-प्रधान उपदेश दिया। उनसे प्रेरणादायी उद्वोधन सुनकर दुर्लभ देवी और तीनो पुत्र परम वैराग्य को प्राप्त हुए। उन्होने ससार की असारता को समझा। जननी सहित तीनो ने जिनानन्द सूरि के पास दीक्षा ग्रहण की।[1] लक्षणादि महाशास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर पृथ्वी पर वे प्रख्यात विद्वान् वने। प्रवन्धकोश के अनुसार सौराष्ट्र राष्ट्र के भास्कर महाराज शिलादित्य की दुर्लभ देवी भगिनी थी। मल्लवादी शिलादित्य के भानजे थे।

भृगुकच्छ मे एक वार जिनानन्द सूरि का वौद्ध भिक्षु नन्द के साथ राजा शिलादित्य के सम्मुख शास्त्रार्थ हुआ। उसमे जैनाचार्य जिनानन्द सूरि की भारी पराजय हुई। पराभव के फलस्वरूप जैन श्रमणो को महान् क्षति उठानी पडी। वहा से उनका निष्कासन हो गया था।

तीर्थं शत्रुञ्जयाह्व यद्विदित मोक्षकारणम्।
श्वेताम्बरा भावतस्तद्वौद्धैर्भूतैरिवाश्रितम्॥

जैनो का प्रमुख तीर्थस्थान शत्रुजय था, उस पर भी जैनो का अपना अधिकार नही रहा।

मल्लवादी अवस्था से वालक थे, विचारो से नही। उन्होने यह दु खद वृत्तान्त स्थविर मुनियो से सुना। घनी अन्तर्वेदना उन्हे कचोटने लगी। जिनानन्द सूरि की हार एव जैन शासन का घोर अपमान उनके लिए असह्य हो गया। अपने खोये गौरव को पुन प्राप्त करने के लिए उन्होने दृढ सकल्प किया।

मल्लनामा गिरि गत्वा तेपे तीव्रतर तप। (प्रवन्धकोश पृ० २२ श्लोक ३६)

शक्ति सञ्चयनार्थ सर्वप्रथम गिरि खडल पर्वत पर उन्होंने घोर तप प्रारम्भ किया। वे निरन्तर षष्टम भक्त तप (दो दिन का उपवास) करते एवं पारणक के दिन रूक्ष भोजन लेते थे। चातुर्मासिक पारणक के दिन संघ की अति आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर कठिनता से उन्होंने श्रमणों द्वारा आनीत स्निग्ध भोजन ग्रहण किया था। इस प्रकार तप से उन्हें दिव्यशक्ति प्राप्त हुई।

शासनदेवी ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा—"वत्स! प्रतिपक्षी विजेता बनो। तर्कशास्त्र के अध्ययन से वाद-विवाद करने की विलक्षण क्षमता का उनमें अभ्युदय हुआ। महाप्रज्ञा के जागरण से मल्लवादी हीरकोपम तेजस्वी प्रतीत होने लगे।[१]

सभी प्रकार के सामर्थ्य से सम्पन्न होकर विद्वान् मल्लवादी ने शिलादित्य की सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। नय चक्र महाग्रन्थ के आधार पर यह शास्त्रार्थ छह मास तक चला। वाग्निपुण मल्लवादी की अन्त में विजय हुई। विजयोल्लास से महाराज शिलादित्य ने उनका महोत्सवपूर्वक नगर में प्रवेश करवाया। शासन देवों ने पुष्पवृष्टि की। कलानिधि, वागीश मुनि मल्लवादी को इसी अवसर पर राजा शिलादित्य की ओर से वादी की उपाधि प्राप्त हुई थी। उससे पहले उनका नाम मल्ल था।[१]

जिनानन्द सूरि ने उन्हें सूरि पद पर पहले ही प्रतिष्ठित कर दिया था। इस समय गच्छ का सम्पूर्ण दायित्व उनके कन्धों पर निहित कर वे गण चिन्ता से मुक्त बने।

सन्तान की उन्नति होने पर अभिभावक भी यशोभाक् बनते हैं। मल्लवादी गच्छाधार बने एवं चारित्र धारिणी परम पवित्रिणी दुर्लभ देवी का भी सम्मान बढा।

आचार्य मल्लवादी वाद-कुशल थे एवं समर्थ साहित्यकार भी थे। उन्होंने द्वादशार नयचक्र की रचना की। चक्र के बारह आरों के समान इस ग्रन्थ के बारह अध्याय थे। महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन के सन्मति तर्क की भांति न्याय-जगत् का शिरोमणी, नय और अनेकान्त दर्शन का विवेचन करने वाला संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ अपने युग में अद्वितीय था तथा जन-मानस के अज्ञ तम को हरने वाला था। आचार्य मल्लवादी ने प्रतिवाद गजकुंभ के भेदने में केसरी तुल्य इस ग्रन्थ का वाचन अपने शिष्य समुदाय के सम्मुख किया और तर्कशास्त्र का गम्भीर बोध उन्हें प्रदान किया था। साहित्य-जगत् की यह अमूल्य कृति मूलरूप में आज उपलब्ध नहीं है। सिंहगणी क्षमाश्रमण रचित टीका इस ग्रन्थ पर प्राप्त हो सकी है। सन्मति तर्क टीका एवं २४००० श्लोक परिमाण पद्मचरित्र (जैन रामायण) के रचनाकार भी आचार्य मल्लवादी थे।[१]

आचार्य मल्लवादी के ज्येष्ठ भ्राता मुनि अजितयश ने 'प्रमाण' ग्रन्थ रचा एवं यक्ष मुनि ने 'अष्टांग निमित्त बोधिनी' संहिता का निर्माण किया था। दीपकलिका के तुल्य सकलार्थ प्रकाशिनी यह संहिता थी। वर्तमान में ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

आचार्य मल्लवादी के वाक्-कौशल एव साहित्य साधना द्वारा जैन शासन की महती प्रभावना हुई। उनकी विशेषताओ के वर्णन मे ऋषिमडल का एक प्रसिद्ध श्लोक है

श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणि प्रामाणिकग्रामणी-
रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्री मल्लवादी गुरु ॥
प्रोद्यत्प्रातिभवैर्भवोद् भवमुदा श्रीशारदासूनवे।
यस्मै त निजहस्तपुस्तक मदाज्जैत्र त्रिलोक्या अपि ॥

आचार्य हरिभद्र से मल्लवादी पूर्व थे। आचार्य हरिभद्र कृत अनेकान्त जय-पताका मे उनकी सन्मति टीका के कई अवतरण दिए गए है।

आचार्य मल्लवादी के जीवन की प्रमुख घटना शिलादित्य की सभा मे बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ का सम्वन्ध है। यह शास्त्रार्थ प्रभावक चारित्र के अनुसार वी० नि० ८८४ मे हुआ और वल्लभी नगर का ध्वस वी० नि० ८४५ मे हुआ था। प्रस्तुत सवत् के अनुसार मल्लवादी का शास्त्रार्थ वल्लभी भग के वाद हुआ था।

प्रवन्धकोश मे वल्लभी भग का पूरा प्रसग प्रस्तुत है। उसके अनुसार रक वणिक् से वैमनस्य हो जाने के कारण सामर्थ्यसम्पन्न शिलादित्य को भी महान् सकट का सामना करना पडा। म्लेच्छ जाति का पूर्ण सहयोग रग वणिक् को प्राप्त हुआ। इससे सौराष्ट्र मे अत्यधिक जन-धन की क्षति हुई।

विक्रमादित्य भूपालातपञ्चर्षित्रिक (५७३) वत्सरे।
जातोऽय वल्लभीभङ्गो ज्ञानिन प्रथम ययु ॥६६॥
भग्ना पूर्वलभी तेन सञ्जातमसमञ्जसम्।
शिलादित्य क्षय नीतो वणिजा स्फीतऋद्धिना ॥६४॥

प्रवन्धकोश, पृ० २३

सौराष्ट्र की श्रेष्ठ नगरी वल्लभी का वि० स० ५७३ मे घटित रक वणिक् के प्रस्तुत घटना मे भग हुआ। वल्लभी विनाश के साथ ही महाराज शिलादित्य भी कालधर्म को प्राप्त हुए।

आचार्य मल्लवादी की काल-निर्णायकता मे प्रवन्धकोश का यह घटना-प्रसग प्रबल सहायक है। प्रस्तुत घटनाचक्र मे उल्लिखित वि० स० ५७३ के आधार पर महाराज शिलादित्य के समकालीन आचार्य मल्लवादी वी० नि० ११वी सदी (१०४३) के विद्वान् सिद्ध होते है।

आधार-स्थल

१ जनन्या सह ते सर्वे बुद्ध्वा दीक्षामथाददु ।
संप्राप्ते हि तरण्डे क पायोधि न विलघयेत् ॥१२॥

(प्रभा० चरित, पृ० ७७)

२ एष मल्लो महाप्राज्ञस्तेजसा हीरकोपम ॥१७॥

(प्रभा० चरित, पृ० ७७)

३ विरुद तत्र 'वादी' ति ददौ भूपो मुनिप्रभो ।
मल्लवादी ततो जात सूरिर्भूरि कलानिधि ॥६१॥

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

४ नयचक्रमहाग्रन्थ शिष्याणा पुरतस्तदा ।
व्याख्यात परवादीभकुम्भभेदनकेसरी ॥६६॥

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

५ श्रीपद्मचरितं नाम रामायणमुदाहरत् ।
चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानत ॥७०॥

(प्रभा० चरित, पृ० ७९)

४ सस्कृत-सरोज-सरोवर आचार्य समन्तभद्र

श्वेताम्वर परम्परा मे जो आदरास्पद स्थान आचार्य सिद्धसेन का है वही स्थान दिगम्वर परम्परा मे समन्तभद्र स्वामी का है।

आचार्य समन्तभद्र दक्षिण के राजकुमार थे। वे तमिलनाडु उरगपुर नरेश के पुत्र थे। उनका नाम शान्तिवर्मा था। 'आप्तमीमासा' कृति मे उनके जीवन का परिचायक उल्लेख उपलव्ध होता है।[1]

मुनि-जीवन मे प्रवेश पाकर समन्तभद्र स्वामी गणियो के भी गणि कहलाए और महान् गौरवार्ह आचार्य श्रमण सघ के वने।

कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व—ये चार गुण उनके व्यक्तित्व के अलकार थे। अपने इन्ही विरल गुणो के कारण वे काव्य-लोक के उच्चतम अधिकारी, आगम-मर्मज्ञ, सतत शास्त्रार्थ प्रवृत्त और वाक्पटु वनकर विश्व मे चमके। सस्कृत, प्राकृत, कन्नड, तमिल आदि कई भाषाओ पर उनका अधिकार था। भारतीय विद्या का कोई भी विपय सभवत उनकी प्रतिभा से अस्पृष्ट नही रहा।

वे स्याद्वाद के सजीवक आचार्य थे। उनका जीवन-दर्शन स्याद्वाद का दर्शन था। उनकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद की अभिव्यक्ति थी। वे जब भी वोलते, अपने प्रत्येक वचन को स्याद्वाद की तुला से तोलते थे। उनके उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्य ने उनको स्याद्वाद विद्यापति, स्याद्वाद शरीर, स्याद्वाद विद्यागुरु तथा स्याद्वाद अग्रमी का सम्बोधन देकर अपना मस्तक झुकाया।

वे वाद-कुशल आचार्य ही नही वाद-रसिक आचार्य भी थे। भारत के सुप्रसिद्ध ज्ञान केन्द्रो मे पहुचकर भेरी ताडनपूर्वक वाद के लिए विद्वानो को उन्होने आह्वान किया था। पाटलिपुत्र, वाराणसी, मालव, पजाव, काचीपुर (काजीवरम्) उनके प्रमुख वादक्षेत्र थे।[2] उनकी वादप्रीति सम्यक् वोध की हेतु थी।

आचार्य समन्तभद्र का पूरा परिचय उन्ही के द्वारा रचित एक श्लोक मे प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है

आचार्योह कविरहमह वादिराट् पण्डितोह।
दैवज्ञोह भिपगमह मान्त्रिकस्तान्त्रिकोह ॥

राजन्नस्या जलधिवलया मेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्ध किमिति वहुना सिद्धसारस्वतोह ॥३॥

—स्वयम्भू स्तोत्र

स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि, वादिराट्, पडित, दैवज्ञ, (ज्योतिषज्ञ), वैद्य, मान्त्रिक, तान्त्रिक और आज्ञासिद्ध थे। सरस्वती की अपार कृपा उन पर थी।

वे मूल प्रवर्तको मे से थे और वौद्धाचार्य नागार्जुन के समकालीन थे। पूरे दक्षिण मे उनके शास्त्रार्थो का प्रभाव था। उनका मूल निवासस्थान सम्भवत काची था, जो वर्तमान मे काजीवर कहलाता है। उन्होने स्वय अपने को काञ्ची का नग्नाटक कहा है।[1]

आचार्य समन्तभद्र प्रवल कष्टसहिष्णु भी थे। मुनि जीवन मे उन्हे एक वार भस्मक नामक व्याधि हो गयी थी। इस व्याधि के कारण वे जो कुछ खाते वह अग्नि मे पतित अन्नकण की तरह भस्म हो जाता। भूख असह्य हो गयी। कोई उपचार न देखकर उन्होने अनशन की सोची। गुरु से आदेश मागा पर अनशन की स्वीकृति उन्हे न मिल सकी। समन्तभद्र को विवश होकर काची के शिवालय का आश्रय लेना पडा और पुजारी वनकर रहना पडा। वहा देव-प्रतिमा को अर्पित लगभग चालीस सेर का चढावा उन्हे खाने को मिल जाता था। कुछ दिनो के वाद मधुर एव पर्याप्त भोजन से उनकी व्याधि शान्त होने लगी। नैवेद्य वचने लगा। एक दिन यह भेद शिवकोटि के सामने खुला। राजा आश्चर्यचकित रह गया। इसे किसी भयकर घटना का सकेत समझ शिवालय को राजा की सेना ने घेर लिया। उस समय समन्तभद्र नैवेद्य खाने मे व्यस्त थे। जव उन्होने सेना के द्वारा मन्दिर को घेरे जाने की वात जानी, इस भयकर उपसर्ग के शान्त न होने तक अनशन कर लिया और जिनेन्द्र देव की स्तुति करने लगे। चन्द्रप्रभ का स्मरण करते समय चन्द्र-विम्व प्रकट हुआ। शिवकोटि राजा पर इस घटना का आश्चर्यकारी प्रभाव हुआ और उन्होने समन्तभद्र का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

समन्तभद्र भी पुन सयम मे स्थिर होकर आचार्य पद पर आरूढ हुए एव अपनी प्राञ्जल प्रतिभा से प्रचुर सस्कृत साहित्य का सर्जनकर जैन शासन की महनीय श्रीवृद्धि की। उनकी रचनाए प्राजल सस्कृत मे है।

आप्तमीमासा

आचार्य समन्तभद्र की यह प्रथम रचना है। इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्र भी है। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ देवागम शब्द से हुआ है। आचार्य अकलक भट्ट ने इस पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है। आचार्य विद्यानन्द ने अष्ट सहस्री नामक विशाल टीका लिखी है। इस टीका को आप्त मीमासालकृति एव देवागमालकृति सज्ञा से भी पहचाना गया है।

आचार्य समन्तभद्र पहले व्यक्ति है जिन्होने आप्त पुरुषो के आप्तत्व को भी तर्क की कसौटी पर परीक्षा कर उसे मान्य किया है। स्याद्वाद-सम्बन्धी विस्तृत विवेचन एव समर्थन सर्वप्रथम इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।

युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन अर्थ-गरिमा से परिपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे आप्त स्तुति के साथ विविध दार्शनिक दृष्टियो का पर्याप्त विवेचन एव स्व-परमत के गुण-दोषो का निरूपण मार्मिक ढग से हुआ है। आचार्य विद्यानन्द ने इस पर सस्कृत टीका लिखी है। इस ग्रन्थ की रचना आप्तमीमासा के बाद हुई है। उस सर्वोदय शब्द का प्रथम प्रयोग[४] आचार्य समन्तभद्र की इस कृति मे प्राप्त होता है।

स्वयभूस्तोत्र

इस ग्रन्थ मे चतुर्विंशति तीर्थंकरो की स्तवना युक्तिपूर्ण ढग से की गयी है। ग्रन्थ का दूसरा नाम 'समन्तभद्र स्तोत्र' भी है। इस ग्रन्थ की भाषा अलकारपूर्ण है। आराध्य के चरणो मे अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करके समन्तभद्र स्वामी ने अपनी आस्था को सुश्रद्धा कहा है।[५] यह उल्लेख इसी ग्रन्थ मे प्राप्त होता है।

स्तुतिविद्या

जिनस्तुतिशतक स्तुतिविद्या का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे चौबीस तीर्थंकरो की स्तुति चित्रकाव्य के रूप मे प्रस्तुत हुई है। सर्व अलकार से अलकृत यह ग्रन्थ भक्तिरस का अनुपम उदाहरण है। चक्र, कमल, मृदग आदि विभिन्न चित्रो मे श्लोक-रचना कर सस्कृत साहित्य मे इस ग्रन्थ को आचार्य समन्तभद्र ने महान् उपयोगी बना दिया है।

रत्न-करड श्रावकाचार

इस ग्रन्थ मे श्रावको की आचार-सहिता तथा रत्नत्रयी (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र) का सम्यक् विवेचन है।

आचार्य वादिराज सूरि ने इस ग्रन्थ को अक्षय सुखावह की सज्ञा प्रदान की है। आचार्य प्रभाचन्द ने इस ग्रन्थ पर रत्न-करड विषमपद व्याख्यान नामक सस्कृत टिप्पण लिखा है। कन्नड टीका साहित्य की रचना भी इस ग्रन्थ पर हुई है। श्रावकाचार-सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थो मे यह ग्रन्थ सर्वोत्तम है।

आचार्य समन्तभद्र की कई रचनाए वर्तमान मे अनुपलब्ध है। अनुपलब्ध रचनाओ मे जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, प्रमाण पदार्थ, कषायप्राभृतिका, गन्धहस्ती महाभाष्य आदि ग्रन्थ है।

गन्धहस्ती महाभाष्य विद्वानो के अभिमत से चौरासी सहस्र श्लोक परिमाण महाग्रन्थ है। गन्धहस्ती की गन्ध से सामान्य मतगज निस्तेज हो जाते है। इसी प्रकार गन्धहस्ती महाभाष्य प्रतिपक्ष को पराभूत करने मे समर्थ है। देवागम स्तोत्र को इस ग्रन्थ का मगलाचरण रूप मे प्रस्तुत हुआ मानते हे।

आचार्य समन्तभद्र पडितो के भी पडित और दार्शनिको, योगियो, त्यागियो, तपस्वी सघो तथा वाग्मियो के भी अग्रणी थे। अत उनकी प्रख्याति स्वामी शब्द से भी हुई।

प्रकाड विद्वान् आचार्यों ने भी उनके समर्थ व्यक्तित्व की मुक्तकठ से प्रशसा की है।

आचार्य वादिराज सूरि ने यशोधरचरित्र मे समन्तभद्र को काव्यमणियो का पर्वत कहा है। आचार्य वादीभसिंह सूरि उन्हे सरस्वती की स्वच्छन्द विहार-भूमि कहकर सम्बोधित करते है। जिनसेनाचार्य की दृष्टि मे वे महाकवि वेधा (ब्रह्मा) हैं व आचार्य भट्ट अकलक की दृष्टि मे कलिकाल मे स्याद्वाद तीर्थ के प्रभावक हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने कवीन्द्र, भास्वान्, अजित जिनसेनाचार्य ने उन्हे कवि-कुजर, मुनि वन्द्य, और आचार्य हरिभद्र ने वादि मुख्यविशेषण से उन्हे विशेषित किया है।

श्रवणवेलगोल के शिलालेख न० १०५ मे वादीय वज्राकुश, सूक्तिजाल, शिलालेख न० १०८ मे जिनशासन प्रणेता लिखा है।

आचार्य वर्धमान, आचार्य सकल कीर्ति आदि विद्वानो ने भी आचार्य समन्त-भद्र की प्रतिभा का लोहा माना है।

आचार्य समन्तभद्र विविध गुणो से मडित एव सस्कृत-सरोज-सरोवर थे। वे अपने युग के अनुपम रत्न थे।

आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थो मे कुमारिलभट्ट की शैली का अनुकरण है। कुमारिलभट्ट ईसवी सन् ६२५ से ६८० के विद्वान् माने गए हैं। इस आधार पर आचार्य समन्तभद्र का समय वी० नि० की १२वी सदी (वि० की ७वी सदी) अनुमानित होता हे। कई इतिहासकार आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की ५वी सदी के विद्वान् मानते है।

आधार-स्थल

१ इति फणिमडलालकारस्योरगपुराधिपसूनो श्री स्वामि-
समन्तभद्रमुने कृतौ आप्तमीमासायाम्।

(आप्तमीमासा)

२ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।

(श्रवणबेलगोल शिलालेख न० ५४)

३ काच्या नग्नाटकोह

(राजवलिकये)

४ युक्त्यनुशासन श्लोक ॥६१॥

५ सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चार्पिते।
हस्तावञ्जलये कथा-श्रुति-रत कर्णोऽक्षि सप्रेक्षते॥
सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर सेवेदृशीयेन ते।
तेजस्वी सुजनोहमेव सुकृति तेनैव तेज पते॥

(स्वयम्भू स्तोत्र ४)

५ दिव्य विभूति देवनन्दी (पूज्यपाद)

आचार्य देवनन्दी अपने युग के उद्‌भट्ट विद्वान् थे। वे मूल सघान्तर्गत नन्दी सघ के प्रथम आचार्य थे। उनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ब्राह्मण कुल मे उनका जन्म और जैन सघ मे उनकी दीक्षा हुई।

योग, दर्शन, तर्क, व्याकरण आदि सभी विपयो मे वे निष्णात थे। देवनन्दी के तीन नाम थे—देवनन्दी, जिनेन्द्रवुद्धि और पूज्यपाद।

श्रवणवेलगोल के शिलालेख न० ४० के अनुसार आचार्य जी का असली नाम देवनन्दी था। जिनतुल्य वुद्धि की विशिष्टता के कारण जिनेन्द्र वुद्धि और देवो द्वारा पूजा प्राप्त करने के कारण वे पूज्यपाद कहलाए।[1] उनका देव नाम भी वहुत प्रचलित था। जिनसेन ने आदि पुराण मे इसी नाम का उल्लेख किया है।

उन्होंने पूज्यपाद नाम से भी अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की है। आज भी लोग उन्हे देवनन्दी नाम से अधिक पूज्यपाद नाम से पहचानते हैं।

आचार्य जी का जीवन विविध गुणो का समवाय था। वे महान् तेजस्वी थे। शान्त्याष्टक का एक निष्ठा से जाप करने पर उनकी खोई हुई नयन-ज्योति पुन लौट आयी।

श्रवणवेलगोल न० १०८ शिलालेख के आधार पर उन्हे अद्वितीय औषध ऋद्धि प्राप्त थी। एक वार उनके चरण प्रक्षालित जल के छूने मात्र से लोहा भी सोना वन गया। उनके 'विदेहगमन' की वात भी इसी शिलालेख के आधार से सिद्ध होती है।[2]

पूज्यपाद साहित्य-रसिक और महान् शाव्दिक थे। 'जिनेन्द्र व्याकरण' साहित्य-जगत् की प्रतिष्ठाप्राप्त कृति है। इस व्याकरण के कर्त्ता जिनेन्द्रवुद्धि पूज्यपाद ही थे। यह आज अनेक विद्वानो ने विविध प्रमाणो से मान्य किया है। जैन विद्वान् द्वारा लिखा गया यह प्रथम सस्कृत व्याकरण है। इसी व्याकरण के आधार पर आठ महान् शाव्दिको की गणना मे एक स्थान उनका भी है। शव्दावतार भी उनके ज्ञान का श्रेप्ठ खजाना है। वह पाणिनी व्याकरण के ऊपर लिखी गयी टीका है।

तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या मे उन्होने सर्वार्थसिद्धि का निर्माण किया। सर्वार्थ-

सिद्धि शब्द ही उनके प्रौढ ज्ञान का सकेतक है। यह ग्रन्थ उक्त दोनो ग्रन्थो के बाद की रचना है।

समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश ये दोनो पूर्णत आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इन्हे पढने से लगता है रचनाकार ने पूर्ण स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति मे पहुचकर इन कृतियो की रचना की थी।

सिद्धभक्ति प्रकरण ग्रन्थ भी आचार्य पूज्यपाद का बताया गया है। श्रुतभक्ति, चरित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति तथा नन्दीश्वरभक्ति आदि कई सस्कृत प्रकरण आचार्य पूज्यपाद के माने गए है। वैद्यक शास्त्र आचार्य पूज्यपाद का चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थ है।

शिमोगा जिलान्तर्गत 'नगर ताल्लुक' का ४६वा शिलालेख आचार्य पूज्यपाद के चार ग्रन्थो की सूचना देता है।[३] उनमे एक नाम वैद्यक ग्रन्थ का भी है। प० नाथूराम प्रेमी के अभिमत से यह ग्रन्थ जैनेन्द्र व्याकरण के रचनाकार पूज्यपाद का नही है।

आचार्य पूज्यपाद के व्याकरणशास्त्र से आदिपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन, पार्श्वनाथचरित्र के रचयिता आचार्य वादिराज, नियमसार टीका के रचयिता पद्मप्रभ, नाममाला के रचयिता धनजय, जैनेन्द्रप्रक्रिया के रचयिता गुणनन्दी एव ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र अत्यधिक प्रभावित थे। यह सकेत इन विद्वानो की रचनाओ से प्राप्त होता है।

आचार्य पूज्यपाद का विहरण क्षेत्र द्रविड प्रदेश था। गग राजधानी तालव-नगर (तलवाड) की 'प्रधान जैन बसीद' के वे अध्यक्ष थे। यह सस्थान दक्षिण भारत मे उस काल का एक महान् विद्यापीठ था।

द्रविड सघ की स्थापना वी० नि० ६६६ (वि० ५२६) मे हुई थी। इस सघ की स्थापना का श्रेय आचार्य पूज्यपाद के शिष्य प्राभृतवेत्ता महासत्त्व वज्रनन्दी को है।[४]

महाप्रतापी, मुक्तहस्तदानी, धर्म तथा सस्कृति का सरक्षक और जिनेश्वर के चरणो को अपने हृदय मे अचलमेरु के समान स्थिर रखने वाला जैन शासक अविनीत कोगुणी गगवश का महान् नरेश था।

उसने अपने महत्वाकाक्षी पुत्र युवराज दुर्विनीत कोगुणी को प्रशिक्षण पाने के लिए पूज्य देवनन्दी के पास ही रखा था। आगे जाकर दुर्विनीत पूज्यपाद का परम भक्त बन गया।

दुर्विनीत कोगुणी महान् साहित्य-रसिक और लेखक भी था। उसने पूज्यपाद के 'शब्दावतार' का कन्नड मे सफल अनुवाद किया था।

दुर्विनीत ई० स० ४८२ से ५२२ तक गगवश का शासक रहा है। इस प्रमाण के आधार पर देवनन्दी (पूज्यपाद) वी०नि० १००९ (वि०५३९) मे विद्यमान थे।

समाधि तन्त्र की प्रस्तावना मे श्रवणवेलगोल शिलालेखो के आधार पर तथा स्वय पूज्यपाद द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण मे समागत 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' इस सूत्र (५-४-१६८) का प्रमाण देकर पूज्यपाद देवनन्दी का समय आचार्य समन्तभद्र के वाद प्रमाणित किया है।

आधार-स्थल

१ यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रवुद्धि ।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥
(श्रवणवेलगोल, शि० न० ४०-६४)

२ श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्धाद्धर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्र ।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावान् कालायस किल तदा कनकीचकार ॥
(श्रवणवेलगोल, शि० न० १०८-२५८)

३ न्यास जैनेन्द्रसज्ञ सकलबुधनुत पाणिनीयस्य भूयो,
न्यास शब्दावतार मनुजततिहित वैद्यशास्त्र च कृत्वा ।
यस्तत्त्वार्थस्य टीका व्यरचयदिह ता भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवध स्वपरहितवच पूर्णदृग्बोधवृत्त ॥
(नगर ताल्लुक शि० न० ४६)

४ सिरि पुज्जपादसीसो दाविडसघस्य कारगो दुट्ठो ।
णमेण वज्जणदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पचसर छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
दुक्खिणमहुराजा दो दाविडसघो महामोहो ॥२८॥
(दर्शन सार)

६ भवाब्धिपोत आचार्य भद्रबाहु—द्वितीय (निर्युक्तिकार)

निमित्त वेत्ता निर्युक्तिकार आचार्य भद्रवाहु श्रुत केवली भद्रवाहु से पश्चाद्वर्ती थे। प्रतिष्ठानपुर के ब्राह्मण कुल मे वे पैदा हुए थे। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर उनका लघु सहोदर था। गृहस्थ जीवन मे दोनो निर्धन एव निराश्रित थे। ससार से विरक्त होकर एकसाथ उन्होने दीक्षा ली और ज्योतिपशास्त्र के वे प्रकाड विद्वान वने। वराहमिहिर मे प्रतिस्पर्धा का भाव अधिक था। विनय आदि गुणो से सम्पन्न सुशील स्वभावी मुनि भद्रबाहु को सर्वथा योग्य समझकर उन्हे आचार्य पद पर अलकृत किया गया था। इससे पदाकाक्षी वराहमिहिर का अह प्रवल हो उठा। मुनिवेश का परित्याग कर वह प्रतिष्ठान पुर मे पहुचा तथा अपने निमित्त ज्ञान से वहा के राजा जितशत्रु को प्रभावित कर उनका अत्यन्त कृपापात्र पुरोहित वना। अपने को प्रख्यात करने के उद्देश्य से उसने विचित्र घोपणाए की और जनता को वताया, "सूर्य के साथ उसके विमान मे बैठकर मैने ज्योतिपचक्र का परिभ्रमण किया है। मेरे बुद्धिवल पर प्रसन्न होकर स्वय सूर्य ने ज्योतिष विद्या का मुझे वोध दिया तथा ग्रहमडल एव नक्षत्रो की गतिविधि से अवगत कराया है। मै उनके आदेश से ही जनहितार्थ पृथ्वी पर चक्रमण कर रहा हू।[1] ज्योतिषशास्त्र की रचना मैने स्वय की है।

ज्येष्ठ सहोदर आचार्य भद्रबाहु के व्यक्तित्व को प्रभावहीन करने के लिए उसने अत्यधिक प्रयत्न किए पर सर्वत्र वह असफल रहा। सूर्य-प्रकाश के सामने ग्रह नक्षत्रो का ज्योतिर्मयमडल श्रीहीन प्रतीत होता है। उसी प्रकार श्रावको की प्रार्थना पर भद्रवाहु का पदार्पण प्रतिष्ठानपुर मे होते ही वराहमिहिर का प्रभाव कम होने लगा था।

ज्योतिप के आधार पर वराहमिहिर द्वारा की गयी भविष्यवाणिया निष्फल गयी। अपने नवजात पुत्र के सम्बन्ध मे शतायु होने की उनकी घोषणा असिद्ध हुई।

लक्षणविद्या, स्वप्नविद्या, मत्रविद्या एव ज्योतिषविद्या के प्रयोग का गृहस्थ के सम्मुख सभापण करना साधु के लिए वर्जित है।[2] फिर भी जैन धर्म की प्रभावना को प्रमुख मानकर आर्य भद्रवाहु ने निमित्त ज्ञान से लघु सहोदर के नवजात शिशु का आयुष्य सात दिन का घोषित किया था तथा विल्ली के योग से

उसकी मौत बतायी थी।[3]

वराहमिहिर के द्वारा शतश प्रयत्न होने पर भी सात दिन से अधिक बालक बच न सका। उसकी मौत का निमित्त अर्गला थी, जिस पर बिल्ली का आकार था। भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान सत्य के निकष पर सत्य प्रमाणित हुआ। जन-जन के मुख पर उनका नाम प्रसारित होने लगा। वराहमिहिर के घर पहुचकर लघु भ्राता के शोक-सतप्त परिवार को भद्रबाहु ने सात्वना प्रदान की थी। आचार्य भद्रबाहु की ज्योतिष विद्या से प्रभावित होकर वहा के राजा जितशत्रु ने उनसे श्रावक धर्म स्वीकार किया था।[4]

प्राज्ञ अग्रणी आचार्य भद्रबाहु समर्थ साहित्यकार थे। व्यतरदेव के उपद्रव से क्षुब्ध जनमानस को शान्ति प्रदान करने के लिए उन्होने 'उवसग्गहर पास' इस पक्ति से प्रारम्भ होने वाला विघ्नविनाशक मगलमय स्तोत्र बनाया था। यह स्तोत्र अत्यधिक चमत्कारिक सिद्ध हुआ। आज भी लोग सकट की घडियो मे हार्दिक निष्ठा से इस स्तोत्र का स्मरण करते हैं।

ग्रन्थकारो के अभिमत से यह व्यतरदेव वराहमिहिर था। तपकवचधारी मुनियो के सामने उसका कोई बल काम न कर सका। अत वह पूर्व वैर से रुष्ट होकर श्रावक समाज को त्रास दे रहा था। भद्रबाहु से सघ ने विनती की "आप जैसे तपस्वी आचार्य के होते हुए भी हम कष्ट पा रहे हैं।"

'कुञ्जरस्कन्धाधिरुढोपि भषणैर्भक्ष्यते'—गजारुढ व्यक्ति भी कुत्तो से काटा जा रहा है। श्रावक समाज की इस दर्द-भरी प्रार्थना पर आचार्य भद्रबाहु का ध्यान केन्द्रित हुआ। उन्होने इस प्रसग पर पच श्लोकात्मक महाप्रभावी उक्त स्तोत्र का पूर्वो से उद्धार किया था।[5]

['भद्रबाहु सहिता' नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु की बताई गयी है। अर्हत् चूडामणि नामक प्राकृत ग्रन्थ के निर्माण का श्रेय भी उन्हे है। निर्युक्ति साहित्य का सर्जन कर आचार्य भद्रबाहु ने विपुल ख्याति अर्जित की है।]

निर्युक्तिया आर्या छन्द मे निर्मित पद्यमयी प्राकृत रचनाए हैं। आगम के व्याख्या ग्रन्थो मे उनका सर्वोच्च स्थान है। काल की दृष्टि से भी वे प्राचीन है। उनकी शैली गूढ और साकेतिक है। आगमो की पारिभाषिक शब्दो की सुस्पष्ट व्याख्या करना उनका मुख्य अभिप्रेत है। किसी भी विषय का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत करती हुई भी ये निर्युक्तिया अपने-आपमे परिपूर्ण है। स्वाभिप्रेत की अभिव्यक्ति मे सफल है। विषय सामग्री की दृष्टि मे सम्पन्न हैं एव मधुर सूक्तियो के प्रयोग से सरस भी। भारत की सुप्राचीन सभ्यता एव सस्कृति के दर्शन इनमे किए जा सकते हैं। विभिन्न घटनाओ, दृष्टान्तो, कथानको के सकेतो एव उपयोगी सूचनाओ से गर्भित निर्युक्ति-साहित्य अत्यधिक मूल्यवान् हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियो की रचना की थी।[६] उनमे अधिकाश निर्युक्तिया आगम साहित्य पर हैं। आवश्यक निर्युक्ति उनकी सबसे प्रथम रचना है। आवश्यक सूत्र मे निर्दिष्ट छह आवश्यक का विस्तृत विवेचन इस निर्युक्ति मे हुआ है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का जीवनचरित्र, गणधरवाद, आर्यवज्र स्वामी, आर्य रक्षित आदि अनेक ऐतिहासिक प्रसगो को प्रस्तुत करती हुई यह निर्युक्ति अति महत्त्वपूर्ण है।

आचाराग निर्युक्ति की ३५६ एव सूत्रकृताग निर्युक्ति की २०५ गाथाए हैं। बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्र की निर्युक्ति अपने भाष्यो के साथ सम्मिश्रित हो गयी है। निशीथ निर्युक्ति आचाराग निर्युक्ति के साथ समाहित है। दशाश्रुत-स्कध निर्युक्ति लघुकाय हे। इस निर्युक्ति मे श्रुत केवली छेदसूत्रकार आचार्य भद्रबाहु को निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा नमस्कार किया गया है।[७] प्रस्तुत सूत्र के उक्त उल्लेख के आधार पर दोनो भद्रबाहु की स्पष्ट भिन्नता सिद्ध होती है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति की ३५९ गाथाए है एव शान्त्याचार्य ने इस पर विशाल टीका लिखी है। दशवैकालिक निर्युक्ति मे ३७१ गाथाए है तथा सूत्रार्थ के स्पष्टी-करण मे लौकिक-धार्मिक कथाओ का उपयोग किया गया है।

आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगिनी, निर्वेदनी इन चारो कथाओ का निर्देश निर्युक्ति मे मिलता है।

सूर्यप्रज्ञप्ति पर भी आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की थी, पर वह बहुत पहले ही नष्ट हो चुकी थी। ऋषि-भाषित निर्युक्ति स्वतत्र रचना है।

निर्युक्ति साहित्य मे पिंड निर्युक्ति एव ओघ निर्युक्ति का विशेष स्थान है। साधुचर्या के नियमोपनियमो का विशेष रूप से प्रतिपादन होने के कारण इन्हे स्वतत्र रूप से आगम साहित्य मे परिगणित कर लिया गया है। इन दोनो निर्युक्तियो के अतिरिक्त उपर्युक्त शेष समग्र निर्युक्तियो के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु थे। आगम के पारिभाषिक शब्दो की सुसगत व्याख्या प्रस्तुत कर साहित्य के क्षेत्र मे नवीन विधा का द्वार उन्होने उद्घाटित किया। इस दृष्टि से निर्युक्ति-कार आचार्य भद्रबाहु को जैन परम्परा मे मौलिक स्थान प्राप्त है।

मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्राज्ञ) द्वारा निर्मित 'जैन परम्परा का इतिहास' मे निर्युक्ति काल विक्रम की पाचवी-छठी सदी माना है। आचार्य भद्रबाहु के लघु सहोदर वराहमिहिर द्वारा रचित पचसिद्धातिका' नामक ग्रन्थ रचना का समय वी० नि० १०३२ श० स० ४२७ विक्रम सवत् ५६२ निर्णीत है।[८] उपर्युक्त दोनो प्रमाणो के आधार पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय वीर निर्वाण की दसवी, ग्यारहवी सदी सिद्ध होता है।

मुक्ति मजिल तक पहुचने के लिए आचार्य भद्रबाहु भवाब्धि मे विशाल पोत के समान है।

आधार-स्थल

१ सूर्यमापृच्छ्य ज्ञानेन च जगदुपकर्तुं महीलोक भ्रमन्नसि।।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ३, पंक्ति ५)

२ (क) नक्खत्त सुमिण जोग, निमित्त मत भेसज्ज ।
गिहिणो त न आइक्खे, भूयाहिगरण पय ।।५०।।

(दशवै ८/५०)

(ख) छिन्न सर भोम अतलिक्ख, सुमिण लक्खणदण्डवत्थुविज्ज ।
अगवियार सरस्स विजय जो विज्जाहि न जीवइ स भिक्खु ।।७।।

(उत्तरा १५/७)

३ अय बाल सप्तमे दिवसे नशीथे विडालिकया घातिष्यते ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रब०, पृ० ३, पंक्ति २१)

४ राजा श्रावकधर्म प्रतिपेदे ।

(प्रबन्धकोश, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ४ पंक्ति १७)

५ तत पूर्वेभ्य ऊद्धृत्य 'उवसग्गहर पास' इत्यादि स्तवन गाथा पञ्चकमय सन्दब्धे गुरुभि ।

(प्र०को०, भद्रबाहु वराह प्रब०, पृ० ४, पंक्ति १८)

६ आवस्सगस्स दसवैकालिअस्स तह उत्तरज्भायारे ।
सूअगडे निज्जुत्ति वोच्छामि तहा दसाण च ।
कप्पस्स य निज्जुत्ति ववहारस्सेव परमनिउणस्स ।
सूरि अपन्नत्तीए वुच्छ इसीभासिआण च ।।

(आवश्यक निर्युक्ति)

७ वदामि भद्दबाहु, पाईण चरिमसगलसुयनाणि ।
सुत्तस्स कारगमिसिं, दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।

(दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति)

८ (क) बृहत्कल्प सूत्र सभाष्य (षष्ठो विभाग)

(प्रस्तावना पत्राक १७)

(ख) सप्ताश्विवेदसख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्द्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।८।।

(पच सिद्धान्तिका)

७ परमागमपारीण आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

आगमप्रधान आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण निवृति कुल के थे। वे ज्ञान-सिन्धु, वाग्मीश्रेष्ठ एव गूढ आगमवाणी के विवेचक थे। उनके युक्ति-सदोह का सहारा पाकर आगम-व्याख्याए विद्वद्भोग्य वन पायी। उन्हे वौद्धिक आधार मिला।

आगम के व्याख्या ग्रन्थो मे निर्युक्ति के बाद भाष्य का क्रम आता है। निर्युक्तियो की भाति भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत मे हैं। निर्युक्तिया साकेतिक भाषा मे निवद्ध हैं। पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना उनका मुख्य प्रयोजन है। निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य अर्थ को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत करते है। वहुत वार आगमो के गूढार्थ को समझने के लिए निर्युक्ति का एव निर्युक्ति को समझने के लिए भाष्य का सहारा ढूढना पडता है। निर्युक्ति के पारिभाषिक शब्दो मे गुफित अर्थ वाहुल्य के प्रकाशनार्थ भाष्यो की रचना हुई। पर वे भी कही-कही सक्षिप्त होकर निर्युक्ति के साथ एक हो गए है। अनेक स्थलो पर इन दोनो का पृथक् करना असभव-सा लगता है।

भाष्यो की रचना निर्युक्तियो पर हुई है। कुछ भाष्यो का आधार मूल सूत्र भी है। निम्नोक्त आगम ग्रन्थो पर भाष्य लिखे गए हे—(१) आवश्यक, (२) दशवैकालिक, (३) उत्तराध्ययन, (४) वृहत्कल्प, (५) पचकल्प, (६) व्यवहार, (७) निशीथ, (८) जीतकल्प, (९) ओध निर्युक्ति, (१०) पिंड निर्युक्ति।

वर्तमान मे उपलव्ध भाष्य साहित्य के आधार पर दो भाष्यकारो के नाम उपलव्ध होते है। सघदासगणी एव जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण।

सघदासगणी आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे, सौ अध्यायो मे विभक्त, २८ सहस्र श्लोक परिमाण कृति 'वसुदेव हिण्डी' के रचयिता सघदासगणी से वे भिन्न थे। भाष्यकार सघदासगणी ने निशीथ, वृहत्कल्प, व्यवहार इन तीनो सूत्रो पर विस्तृत भाष्य लिखे है। प्राचीन अनुश्रुतिया, लौकिक कथाए और निर्ग्रन्थो का परम्परागत आचार-विचार, विधियो का वर्णन एव आपात्कालीन स्थिति मे अनेकविध अपवाद-मार्ग की सूचनाए भी इनमे पर्याप्त रूप से प्राप्त हैं।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिंड निर्युक्ति, ओध निर्युक्ति पर भी भाष्य प्राप्त है। ये भाष्य अज्ञात कर्तृक है एव परिणाम मे वहुत छोटे हैं। ओध निर्युक्ति भाष्य

की ३२२ गाथा, दशवैकालिक भाष्य की ६३ गाथा, पिंड निर्युक्ति की ४६ गाथा एव उत्तराध्ययन भाष्य की मात्र ४५ गाथा है। इन लघुकाय भाष्यो को कठाग्र भी किया जा सकता है।

आचार्य जिनभद्रगणी ने दो भाष्य लिखे हैं—जीतकल्प भाष्य एव विशेषावश्यक भाष्य।

जीतकल्प भाष्य मे ज्ञानपचक, प्रायश्चित्त आदि कई आवश्यक विषयो का वर्णन है।

आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य हैं। उनमे विशेषावश्यक भाष्य—आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक सूत्र पर है। इसमे ३६०३ गाथाए हैं। विशालकाय भाष्य साहित्य मे आचार्य जिनभद्रगणी के विशेषावश्यक भाष्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह जैन आगमो के बहुविध विषयो का प्रतिनिधि है।

नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद आदि दार्शनिक विषयो पर गूढ परिचर्चा, कर्मशास्त्र का सूक्ष्म प्रतिपादन, ज्ञान पचक की भेद-प्रभेदो के साथ व्याख्या, शब्दशास्त्र का विस्तार से विवेचन तथा औदारिक आदि सात प्रकार की वर्गणाओ के सम्बन्ध मे नए तथ्य इस ग्रन्थ मे पढे जा सकते है। जैन दर्शन के साथ दर्शनेतर सिद्धान्तो का तुलनात्मक रूप भी इस कृति मे प्रस्तुत है। शोधविद्यार्थियो के लिए यह कृति विशेष सहायक है।

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणआगम वाणी परपूर्णत समर्पित थे। उनकी समग्र रचनाए तथा रचना की प्रत्येक पक्ति आगम आम्नाय की परिपोषक थी। उन्होने दर्शन पर आगम को नही, पर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया।

उनकी चिन्तन विधा अत्यन्त मौलिक थी। उन्होने प्रत्येक प्रमेय के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया। परोक्ष की परिधि मे परिगणित इन्द्रिय प्रत्यक्ष को सव्यवहार प्रत्यक्ष सज्ञा देने की पहल भी उन्होने की। ये समग्र बिन्दु भाष्य साहित्य मे अधिकाशत उपलब्ध हैं।

बृहत् सग्रहणी, बृहत् क्षेत्र समास, विशेषणवती आदि कुल ९ ग्रन्थो की रचना आचार्य जिनभद्रगणी ने की थी। उनके सात ग्रन्थ पद्य प्राकृत मे है। अनुयोग चूर्णि गद्य प्राकृत मे है।

बृहत् सग्रहणी मे चार गतिक जीवो की स्थिति आदि का वर्णन है। बृहत् क्षेत्र समास जैन सम्मत भौगोलिक ग्रथ है। द्वीपो और समुद्रो का विवेचन इसमे हुआ है। इन दोनो ग्रथो पर आचार्य मलयगिरि ने टीकाए लिखी। बृहत् सग्रहणी के टीकाकार आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त शालिभद्र जिनवल्लभ आदि कई विद्वान् थे।

अनुयोग चूर्णि का जिनदास महत्तर एव टीकाकार हरिभद्र सूरि ने अपनी कृतियो मे पूरा उपयोग किया है।

आचार्य जिनभद्रगणी के गम्भीर चिन्तन का विशेप अनुदान उनके भाष्य साहित्य मे है। अत उत्तरवर्ती आचार्यो ने भाष्य-अम्वुधि, भाष्य-पीयूप-पाथोधि, भगवान् भाष्यकार आदि सम्वोधन देकर विशिष्ट भाष्यकार के रूप मे उनका स्मरण किया है।

आगम के विशिष्ट व्याख्याकार आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की अतिम कृति—विशेप आवश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ रचना है। पर उसे वे पूर्ण नही कर पाए थे। षष्ठ गणधर वाद तक उन्होने लिखा। उसके वाद उनका स्वर्गवास हो गया था। वृत्ति के अवशिष्ट भाग को कोट्याचार्य ने १३७०० श्लोक परिमाण मे पूर्ण किया था।

आचारनिष्ठ, गुणनिधान, आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का स्वर्गवास विविध शोधो के आधार पर वी० नि० ११२० (वि० स० ६५०) के आसपास प्रमाणित हुआ है।

८ पुण्यश्लोक आचार्य पात्रस्वामी

पात्रस्वामी न्यायविद्या के दिग्गज विद्वान् थे। प्रभावक आचार्यों की शृंखला में न्याय विषय को उजागर करने वाले स्वामी नाम से प्रख्याति प्राप्त दो आचार्य हैं—समन्तभद्र स्वामी और केशरी पात्रस्वामी। पात्रस्वामी का दूसरा नाम पात्र-केशरी भी है।

तीक्ष्ण तार्किक दिङ्नाग के 'त्रिलक्षण हेतु' नामक ग्रन्थ के प्रतिवाद में पात्र-स्वामी ने 'त्रिलक्षण कदर्थन' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ स्वामी जी के स्वतन्त्र चिन्तन की उपज थी। लक्षण विज्ञापक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ मौलिक सिद्ध हुआ। आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर इसके उद्धरण विविध ग्रन्थों में पाए जाते हैं।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

त्रिलक्षण हेतु का प्रतिवाद करने वाली यह कारिका आचार्य पात्रस्वामी की बताई गयी है। आचार्य अकलंक देव ने न्याय विनिश्चय में, आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक में इस कारिका का प्रयोग किया है। बौद्ध विद्वान् शान्ति-रक्षित ने भी अपने तत्त्वार्थ संग्रह में पात्रस्वामी की कारिकाओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

पात्रस्वामी की एक अन्य रचना 'पात्रकेशरी स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मात्र पचास पद्य हैं। हर पद्य की गहराई पाठक के मानस को छू जाती है। इस कृति का द्वितीय नाम 'वृहत् पंच नमस्कार स्तोत्र' भी है।

कुछ वर्षों पूर्व विद्यानन्द का ही दूसरा नाम पात्रस्वामी या पात्रकेशरी समझा जाता रहा पर वर्तमान में इतिहास-गवेषक पंडित जुगल किशोर जी मुख्तार ने इन दोनों की भिन्नता को विविध युक्तियों से प्रमाणित कर दिया है।

आचार्य अकलंक के ग्रन्थों में पात्रस्वामी की कारिका का प्रयोग होने से वे इनसे पूर्ववर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। आचार्य अकलंक भट्ट वि० की छठी शताब्दी के विद्वान् माने गये हैं। इनसे पूर्ववर्ती होने के कारण और विद्वान दिङ्नाग (ई० स० ३४५-४२५) के उत्तरवर्ती होने के कारण पात्रस्वामी विक्रम की छठी-सातवीं शताब्दी के विद्वान् प्रमाणित हुए हैं।

६ मुक्ति-मन्दिर आचार्य मानतुग

आचार्य मानतुग वाराणसी के थे। वे विद्वान् श्रेष्ठी धनदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनश्री था। उन्होने दिगम्बर परम्परा मे दीक्षा ग्रहण की। भगिनी से उद्‌बोध प्राप्त कर आचार्य अजितसिंह के पास वे श्वेताम्बर मुनि बने। दिगम्बर मुनि-अवस्था मे उनका नाम चारुकीर्ति था। उनका दूसरा नाम महाकीर्ति भी था। श्वेताम्बर श्रमण बनने के बाद सम्प्रदाय-परिवर्तन के साथ उनका नाम भी परिवर्तित हुआ। वे मानतुग के नाम से सम्बोधित होने लगे।

आचार्य मानतुग के समय वाराणसी मे निष्कलक राजा हर्षदेव का शासन था।[1] हर्षदेव कविजनो का विशेष आदर करते थे। बाण और मयूर नाम के कवि उनकी सभा मे अतिशय सम्मान को प्राप्त हुए। मयूर ने सूर्यशतक के द्वारा सूर्य की उपासना कर अपने कुष्ठ रोग को शान्त कर लिया था। चडीशतक के द्वारा चडीदेवी को प्रसन्न करने से बाण कवि के विच्छिन्न हाथ-पैर यथोचित स्थान पर जुड गये थे। हर्षदेव इन दोनो विद्वानो के मत्रप्रयोगो से प्रभावित हुए और बोले—"आज चामत्कारिक विद्याओ का धनी ब्राह्मण वर्ग है। इनका अतिशय प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। किसी दर्शन मे इन जैसा प्रभावक व्यक्ति हो तो मुझे सूचित करे।"

राजा हर्षदेव का मत्री जैन था। उसने राजा से नम्र निवेदन किया—"भूमिनाथ! यह धरा वसुन्धरा है। इसके महासाम्राज्य मे बहुमूल्य रत्नो के भडार भरे है। जैनो का भी चामत्कारिक विद्याओ पर अतिशय आधिपत्य है। जैन विद्वान् महाप्रभाव-सम्पन्न श्वेताम्बराचार्य मानतुग आपकी नगरी मे विराजमान हैं। आपकी कौतुक-मयी जिज्ञासा को पूर्ण करने मे वे समर्थ है। आप उनको सादर आमत्रित करे।"[2] राजा ने मत्री को उन्हे सम्मानपूर्वक बुला लाने का निर्देश दिया। मत्री ने आचार्य मानतुग के पास जाकर समग्र स्थिति से उन्हे अवगत किया और कहा—"कृपा कर आप अपने चरणो से राजप्रागण को पवित्र करे और चामत्कारिक विद्या के प्रयोग का प्रदर्शन करे।" आचार्य मानतुग बोले—"समग्र सासारिक कामनाओ से मुक्त मुनिजनो को इस प्रदर्शन से कोई प्रयोजन नही है।" मत्री ने प्रार्थना की—"मैं जानता हू आप निस्सग और निरासक्त है, पर यहा जैन धर्म की प्रभावना का प्रश्न

प्रमुख है।" मत्री की युक्तिसगत विनती को स्वीकार कर मानतुग राजसभा मे पहुचे और नवको धर्मलाभ देकर उचित स्थान पर बैठ गए। राजा हर्षदेव ने सम्मुखासीन आचार्य मानतुग से कहा—"यतश्रेष्ठ ! सूर्य की आराधना से रोगोपशान्ति करने वाले और चडी की आराधना से विच्छिन्न अगो को पुन प्राप्त करने वाले ये अतिशय-प्रभावी ब्राह्मण विद्वान् आपके सामने हैं, अब आप भी अपनी मत्रविद्या का प्रभाव प्रदर्शित करे।"

आचार्य मानतुग बोले—"भौतिक उपलब्धियो की प्राप्ति से निस्पृह मुनिजनो को लोकरजन मे अर्थ ही क्या है? उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्देश्य मोक्षार्थ की सिद्धि है।'

आचार्य मानतुग की बात सुनकर राजा हर्षदेव गम्भीर हो गए। उनके आदेश से राजसेवको ने लोहशृखला के ४४ निगड बन्ध से आपादमस्तक मानतुग को बाधकर घोर तिमिराछन्न अन्तर्गृह मे बद कर दिया।[1]

आचार्य मानतुग चामत्कारिक विद्याओ का प्रदर्शन करना नही चाहते थे। जैन धर्म की दृष्टि से विद्याओ का प्रदर्शन अविहित भी माना गया है। पर जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न प्रमुख बन गया था। आचार्य मानतुग जिनस्तुति मे लीन हो गए। भक्तिरस से परिपूर्ण ४४ श्लोक रचे। प्रति श्लोक के साथ अयोमयी शृखला की सघन कडिया और ताले टूटने गए।[2] इस स्तोत्र का प्रारम्भ भक्तामर शब्द से हुआ अत इसकी प्रसिद्धि भक्तामरनाम से है। मदिरमार्गी परम्परा मे इस स्तोत्र के ४८ पद्य हैं।

आचार्य मानतुग द्वारा रचित प्रस्तुत भक्तामर स्तोत्र का प्रभाव देखकर राजा हर्षदेव अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होने कहा—"मै धन्य हू, मेरा देश धन्य है और मेरा आज का दिवस धन्य है। आप जैसे त्यागी सत पुरुषो के दर्शन का शुभलाभ मुझे प्राप्त हुआ है।" आचार्य मानतुग के पावन उपदेश से जैन शासन की उन्नति के लिए भी अनेक कार्य किये और स्वय ने भी जैन धर्म स्वीकार किया।[3]

आचार्य मानतुग के सर्वोपद्रव निर्नासि भक्तामर महास्तोत्र का प्रभाव अब भी जैन समाज पर छाया हुआ है।[4] सहस्रो व्यक्ति उसे कठस्थ करते है और स्वाध्याय करते हैं। अनेक टीकाओ का निर्माण भी इस स्तोत्र पर हुआ जो आज भी उपलब्ध है। प्रात -साय शुभाशय से इस स्तोत्र का पाठ करने पर उपसग दूर होते है।[5]

अठाहर मत्राक्षर का भयहर स्तोत्र भी आचार्य मानतुग का ही है। यह स्तोत्र चामत्कारिक और विपत्ति के क्षणो मे धैर्य प्रदान करने वाला है।[6]

जिनशासन मे मानतुग धर्म के महान् उद्योतक आचार्य हुए। उन्होने अपने शिष्यो को अनेक प्रकार से वोध देकर योग्य बनाया। गुणाकर नामक शिष्य को अपने पद पर स्थापित कर वे इगिनी अनशन के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।[1]

हर्षदेव का राज्याभिषेक वि० स० ६६४ मे माना गया है। अत आचार्य मानतुग

का समय वीर निर्वाण ११३४ मानने मे किसी वाधा की सभावना नही है।

'प्रवन्ध चिन्तामणि' के उल्लेखानुसार आचार्य मानतुग भोज और भीम के समकालीन थे।

आधार-स्थल

१ तत्र श्री हर्षदेवाख्यो राजा न तु कनकभृत् ॥५॥

(प्रभा० चरित, पृ० ११२)

२ मन्त्रिणोक्तम्—जिनशासनेऽपि महाप्रभावोऽस्ति । यदि कौतुक तत श्री मानतुगाख्य सूरिमाकार्य विलोकय ।

(पुरातन प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

३ ततो राज्ञा तमसि आपादमस्तक चतुश्चत्वारिंशल्लोहश्रृखलाभिर्नियन्त्र्यापवरके क्षिप्त्वा तालक दत्वा मोचिता ।

(पुरा० प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

४ ततो भक्तामरस्तव कृत । एकैकवृत्तपाठे एकैक निगडभगे निगड सख्यया-वृत्तभणनम् । सूरयो मुत्कला जाता । तालक भग्नम् ।

(पुरा० प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

५ राज्ञाऽनेक स्तुति कृत्वा सविनय नत्वा कृत्यादेशेन प्रसीदत । सूरिणोक्तम्—अस्माक कापीच्छा नहि । पर तव हिताय ब्रूम जिनधर्मं प्रपद्यस्व । राजोऽगीचकार ।

(पुरा० प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

६ सर्वोपद्रवनिर्नाशी भक्तामर महास्तव ।
तदा तैर्विहित ख्यातो वर्ततेद्यापि भूतले ॥१५७॥

(प्रभा० चरित, पृ० ११७)

७ साय प्रात पठेदेतत् स्तवन य शुभाशय ।
उपसर्गा व्रजन्त्यस्य विविधा अपि दूरत ॥१६४॥

(प्रभा० चरित, पृ० ११७)

८ सूरय सर्वोपद्रवहर तन्मन्त्रगर्भित भयहरस्तव कृत्वा पुनर्नवता प्राप्ता ।

(पुरा० प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

९ इत्थ प्रभावना कृत्वाऽन्तसमय प्राप्य श्री गुणाकर सूरि न्यस्य पदेऽनशनमरणेन सूरयो दिव ययु ।

(पुरा० प्रवन्ध-सग्रह, पृ० १६)

१० कोविद-कुलालंकार आचार्य अकलंक

आचार्य अकलंक दक्षिण भारत के प्रभावशाली विद्वान् थे। वे आचार्य हरिभद्र के समकालीन थे। उनका जन्म कर्नाटक प्रान्त में हुआ। राष्ट्रकूट राजा शुभतुंग के मन्त्री पुरुषोत्तम उनके पिता थे। निकलंक उनके भ्राता थे। उनकी माता का नाम जिनमति था। बालवय में ही ब्रह्मचारी-जीवन जीने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे। अध्ययन के प्रति उनकी गहरी रुचि थी। दोनों भाइयों ने गुप्त रूप से बौद्ध मठ में तर्कशास्त्र का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। एक दिन यह भेद खुल गया। अकलंक पलायन करने में सफल हो गया और निकलंक वहीं मार दिया गया। आचार्य अकलंक के जीवन का यह प्रसग आचार्य हरिभद्र के शिष्य हंस परमहंस के घटनाचक्र से मिलता-जुलता है।

आचार्य अकलंक की श्रमण दीक्षा आचार्य पद की प्राप्ति के समय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हो रहा है।

जैनाचार्यों की परम्परा में अकलंक प्रौढ दार्शनिक विद्वान् थे और जैन न्याय के प्रमुख व्यवस्थापक थे। उनके द्वारा निर्धारित प्रमाणशास्त्र की रूपरेखा उत्तर-वर्ती जैनाचार्यों के लिए मार्गदर्शक बनी है। अमरकोश का यह प्रसिद्ध श्लोक है

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंक की प्रमाण-व्यवस्था, पूज्यपाद का लक्षण और धनञ्जय का द्विसन्धान काव्य—ये अपश्चिम रत्नत्रयी हैं।

जैन तर्कशास्त्र का परिमार्जित एव परिष्कृत रूप आचार्य अकलंक के ग्रन्थो में प्राप्त होता है।

आचार्य अकलंक वाद-कुशल भी थे। वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। एक ओर नालन्दा विश्वविद्यालय के बौद्धाचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति थे, जिन्होने तर्कशास्त्र के पिता दिङ्नाग के दर्शन को शास्त्रार्थों के बल पर चमका दिया था, दूसरी ओर प्रभाकर, मडन मिश्र, शकराचार्य, भट्टजयत और वाचस्पति मिश्र की चर्चा-परिचर्चाओं से धर्मप्रधान भारत भूमि का वातावरण आन्दोलित था। आचार्य अकलंक भी इनमे पीछे नही रहे। उन्होने अनेक विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ

किए। मुख्यत अकलक बौद्धो के प्रतिद्वन्द्वी थे। आचार्य पदारोहण के बाद कलिग नरेश हिमशीतल की सभा मे बौद्ध विद्वानो के साथ उनका छह महीने तक शास्त्रार्थ हुआ।

आचार्य अकलक की शास्त्रार्थ विषय के साथ एक रोचक घटना-प्रसग भी है। कहा जाता है बौद्धभिक्षु घट मे तारा देवी की स्थापना करके शास्त्रार्थ करते थे। इससे वे दुर्जेय बने हुए थे। आचार्य अकलक को यह रहस्य ज्ञात हो गया था। अत उन्होने शासन देवता की आराधना की। घट फूट गया। आचार्य अकलक की विजय हुई। आचार्य अकलक की विजय का वास्तविक रहस्य उनकी वाद-प्रतिभा थी।

जैन समाज मे आचार्य अकलक की साहित्यनिधि को मौलिक स्थान प्राप्त है।

उन्होने कई ग्रन्थो का निर्माण किया। आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमासा पर उन्होने अष्टशती टीका लिखी। यह उनकी सबसे प्राचीन टीका मानी गयी है। अनेकान्त के सजीव दर्शन इस टीका मे होते है।

तत्त्वार्थ सूत्र पर उन्होने राजवार्तिक टीका लिखी। यह टीका १६००० श्लोक परिमाण है। सर्वार्थसिद्धि के बाद व्याख्या ग्रन्थो मे यह टीका अत्युत्तम मानी गयी है।

सिद्धि विनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाण-सग्रह—ये तीनो ग्रन्थ उनकी सबल तर्कणाशक्ति के परिचायक है।

सिद्धि विनिश्चय के बारह प्रकरण है। न्याय विनिश्चय के तीन प्रकरण हैं और प्रमाण-सग्रह के नौ प्रकरण है। इन तीनो ग्रन्थो मे प्रमाण नय-सम्बन्धी विपुल सामग्री प्राप्त होती है। सिद्धि विनिश्चय मे प्रमाण-चर्चा के साथ आत्मस्वरूप का भी विवेचन है।

लघीयस्त्रयी मे आचार्य अकलक ने समुचित प्रमाण-व्यवस्था प्रस्तुत की है।

इन कृतियो मे न्याय की रूपरेखा अकलक न्याय के नाम से प्रसिद्ध है।

आचार्य अकलक भक्ति-परायण भी थे। अपने नाम पर अकलक स्तोत्र की रचना कर उन्होने भक्तिरस को चरम सीमा पर पहुचा दिया था।

आचार्य माणिक्यनन्दि उनके ग्रन्थो के प्रमुख पाठक रहे है। उन्होने अपने ग्रन्थो मे अकलक की न्याय पद्धति को ही विस्तार दिया है और कही-कही शब्दश अनुकरण किया है। उनका परिक्षामुख ग्रन्थ आचार्य अकलक के विचारो का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है।

आचार्य विद्यानन्द, वादिराज, अनन्त वीर्य, प्रभाचन्द्र आदि विद्वानो ने आचार्य अकलक के अष्टशती, न्याय विनिश्चय, प्रमाण-सग्रह, सिद्धि विनिश्चय तथा लघीयस्त्रयी पर विस्तृत टीकाए लिखी है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के विद्वान् आचार्य अकलक के साहित्य पर मुग्ध हैं।

अजेयवाद शक्ति, अतुल प्रतिभाबल एव मौलिक चिन्तन पद्धति से आचार्य अकलक भट्ट कोविद कुल के अलकार थे। वे वीर निर्वाण की ११-१२वीं० (वि० की ७वीं) सदी के विद्वान् माने गए हैं।

११ चरित्र-चिन्तामणि आचार्य जिनदास महत्तर

आगम के व्याख्याकारो मे जिनदास महत्तर को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वे सस्कृत एव प्राकृत भाषा पर विशेष अधिकार प्राप्त विद्वान् थे। चूर्णि साहित्य के अनुसार जिनदास महत्तर के पिता का नाम नाग अथवा चन्द्र,[1] माता का नाम गोपा[2] अनुमानित होता है। देहड, सीह, थोर—तीन उनमे ज्येष्ठ एव देउल, णण, तिइज्जग—तीन उनसे कनिष्ठ सहोदर थे।[3] परिवार के अन्य सदस्यो की सूचना प्राप्त नही है। वाणिज्य कुलीन कोटिक गणीय वज्र शास्त्रीय महा विद्वान्, स्व-पर-समय के अभिज्ञाता, धीर, गभीर गोपालगणी महत्तर उनके धर्म गुरु[4] और प्रद्युम्न क्षमा-श्रमण उनके विद्यागुरु थे। गुरु द्वारा उन्हे गणी पद प्राप्त हुआ था। योग्यता के आधार पर जनता ने उन्हे महत्तर की उपाधि से विभूषित किया था।[5]

साहित्य के क्षेत्र मे जिनदास महत्तर की प्रसिद्धि चूर्णिकार के रूप मे है।

व्याख्या साहित्य मे चूर्णि साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। चूर्णिया गद्यमयी है। उनकी भाषा सस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। चूर्णिकाल मे सस्कृत अभ्युदय हो रहा है। अत प्राकृत-प्रधान चूर्णि साहित्य मे सस्कृत भाषा का सम्मिश्रण हुआ प्रतीत होता है।

भाष्य एव निर्युक्ति की अपेक्षा चूर्णि साहित्य अधिक विस्तृत है एव चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। गद्यात्मक होने के कारण इस साहित्य मे भावाभिव्यक्ति निर्बाध गति से हो पायी है।

शिक्षात्मक कथाओ, धार्मिक आख्यानो एव उपाख्यानो की विपुल सामग्री चूर्णि साहित्य से प्राप्त होती है। इसकी रचना-शैली पुरातन साहित्य से सर्वथा भिन्न है और मौलिक है। भाषाशास्त्रीय शोधविद्यार्थियो के लिए यह साहित्य अत्यन्त उपयोगी भी है।

श्री जिनदास महत्तर का इस साहित्य को महत्त्वपूर्ण अनुदान है।

आगम ग्रन्थो पर विशाल परिमाण मे चूर्णि साहित्य लिखा गया है। वर्तमान मे जो चूर्णिया आगम साहित्य पर उपलब्ध है, उनके नाम इस प्रकार है

१ आवश्यक
२ दशवैकालिक
३ नन्दी
४ अनुयोगद्वार

५	उत्तराध्ययन	१३	प्रज्ञापनासूत्र शरीरपद
६	आचाराग	१४	जम्बूद्वीप करण
७	सूत्रकृताग	१५	कल्प
८	निशीथ	१६	कल्पविशेष
९	व्यवहार	१७	पञ्चकल्प
१०	दशाश्रुतस्कन्ध	१८	जीतकल्प
११	भगवती	१९	दशवैकालिक
१२	जीवाभिगम	२०	पाक्षिक

इनमे प्रथम आठ चूर्णिया जिनदास महत्तर की बताई गयी है। इनका रचना-क्रम भी यही है।

आचाराग चूर्णि एव सूत्रकृताग चूर्णि का चूर्णि साहित्य मे मौलिक स्थान है। गोल्ल देश, सिन्धु देश, ताम्रलिप्ति, कोकण आदि विभिन्न देशो का प्राकृतिक वर्णन, वहा की परम्पराए, रीति-रिवाज एव मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो की चर्चा इन दोनो चूर्णियो मे उपलब्ध है।

उत्तराध्ययन चूर्णि मे अनेक शब्दो की नवीन व्युत्पत्तिया प्राकृत भाषा मे उपलब्ध है तथा जिनदास महत्तर की जीवन परिचायिका सामग्री भी सकेत रूप मे प्राप्त है।

अनुयोग चूर्णि मे आराम, उद्यान आदि की व्याख्याए है। दशवैकालिक चूर्णि को आचार्य हरिभद्र ने वृद्ध विवरण की सज्ञा प्रदान की है। यह चूर्णि भी अपने विषय की गूढ सामग्री प्रस्तुत करती है। नन्दी चूर्णि मे माथुरी आगम-वाचना का इतिहास दिया गया है। इन दोनो चूर्णियो के अन्त मे चूर्णिकार ने अपना नाम निर्देश किया है।[१]

आवश्यक चूर्णि एव निशीथ चूर्णि अत्यधिक विस्तृत है। विषय सामग्री, भाषा-प्रवाह एव रचना शैली के आधार पर दोनो चूर्णिया आगम ग्रन्थो की व्याख्या मात्र न होकर स्वतन्त्र कृति का आस्वाद प्रदान करती है।

पुरातन इतिहास मे सुपरिचित होने के लिए आवश्यक चूर्णि उपयोगी है। जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवनवृत्त, भगवान् की सुविस्तृत विहार-चर्या, वज्र स्वामी, आर्य रक्षित, वज्रसेन आदि प्रभावशाली आचार्यों के विवध घटना-प्रसग, चेटक एव कुणिक का महासग्राम एव सात निह्नव का प्रमाणिक इतिहास इस चूर्णि मे उपलब्ध होता है। इस चूर्णि के अनुसार गोल्ल देश मे भगिनी एव विप्रदेश मे विमाता से वैवाहिक सबध कर लेने की परम्परा भी प्रचलित थी। लौकिक कथाओ की भी पर्याप्त सामग्री इस चूर्णि मे प्राप्त की जा सकती है।

निशीथ चूर्णि यथार्थ मे जिनदास महत्तर की अत्यन्त प्रौढ रचना है। इस

चूर्णि मे चूर्णिकार की सूक्ष्म प्रज्ञा के दर्शन होते है।

पुण्य विजय जी द्वारा सपादित नन्दी प्रस्तावना मे नन्दी, अनुयोगद्वार एव निशीथ इन तीनो चूर्णियो का कर्तृक जिनदास महत्तर का स्वीकार किया है। इस शोध से चूर्णि साहित्य की रचना का अधिकाश श्रेय भी जिनदास महत्तर को प्रदान करने की सुप्राचीन धारण भ्रामक सिद्ध हुई है। समग्र आगम चूर्णि साहित्य की रचना मे कई विद्वानो का योग माना है। दशवैकालिक चूर्णि के कर्त्ता श्री अगस्त्य सिहगणी एव जीतकल्प वृहत् चूर्णि के प्रणेता श्री सिद्धसेनगणी है।

आचाराग चूर्णि एव सूत्रकृताग चूर्णि अज्ञात कर्तृक है। उन्होने आचाराग चूर्णि के प्रति श्री जिनभद्रगणी मे पूर्व होने की सम्भावना प्रकट की है। आवश्यक चूर्णि को भी जिनदास महत्तर की रचना मानने मे सन्देह व्यक्त किया गया है। विधि-निषेध एव अपवाद मार्गों की सूचना प्रस्तुत करने वाले व्यवहार, दशाश्रुत स्कन्ध एव वृहत्कल्प इन तीन महत्त्वपूर्ण छेदसूत्रो की चूर्णिया भी अज्ञात कर्तृक मानी गयी ह।

अनेक विद्वानो का इस विषय मे अनुदान होने पर भी जिनदास महत्तर की चूर्णिकार के रूप मे प्रसिद्धि उनके साहित्य की मौलिकता है। निशीथ चूर्णि निर्विवाद रूप से श्री जिनदास महत्तर की कृति है।

जैन श्रमण आचार से सम्बन्धित विधि-निषेधो की विस्तार से परिचर्चा और उत्सर्ग मार्ग तथा अपवाद मार्ग की पर्याप्त सूचना इस कृति मे प्राप्त होती है।

निशीथ चूर्णि के अन्त मे चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने अपने नाम का परिचय रहस्यमयी शैली मे प्रस्तुत किया हे। वह श्लोक इस प्रकार है

ति चउ पण अट्ठमवग्गे ति तिग अक्खरा व तेसि।
पढमततिए ही तिदुसरजुएहि णाम कय जस्स ॥

अकारादि स्वरप्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मान लेने पर अ वर्ग से श वर्ग तक आठ वर्ग वनते है। इस क्रम से तृतीय च वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज', चतुर्थ ट वर्ग का पचम अक्षर 'ण', पचम त वर्ग का तृतीय अक्षर 'द' अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स', तथा प्रथम अ वर्ग की तृतीय मात्रा इकार, द्वितीय मात्रा आकार को क्रमश 'ज' और 'द' के साथ जोड देने पर जो नाम बनता है उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने इस चूर्णि का निर्माण किया है। यह नाम बनता है जिनदास। अपने नाम के परिचय मे इस प्रकार की शैली साहित्य क्षेत्र मे बहुत कम प्रयुक्त हुई है।

नन्दी चूर्णि श्री जिनदास महत्तर की मौलिक कृति है। यह शक सवत् ५९८ एव वि०स० ७३३ मे पूर्ण हुई थी। शक सम्वत् का उल्लेख स्वय जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त मे किया है।[८]

उक्त प्रमाण के आधार पर चरित्र-चूडामणि चूर्णिकार जिनदास महत्तर का समय वी० नि० की १२वी तथा विक्रम की ८वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है।

आधार-स्थल

१ सकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स।
तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स ॥१३॥
(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १३)

२ रविकरमभिधाणक्खरसत्तमवग्गत-अक्खरजुएण।
णाम जस्सित्थिए सुतेण तिसे कया चुण्णी ॥
(निशीथ विशेष चूर्णि उद्देशक १५)

३ देहडो सीह थोरा य ततो जेट्ठा सहोयरा।
कणिट्ठा देउलो णण्णो सत्तमो य तिइज्जगो।
एतेसि मज्झिमो जो उ मदेवी तेण वित्तिता।
(निशीथ विशेष चर्णि उद्देशक १६)

४ वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य वज्जसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ विक्खातो आसि लोगम्मि ॥१॥
ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देहिम सुगभीरो।
सीसगणसपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी ॥२॥
तेसिं सीसेण इम उत्तरज्झयणाण चुण्णि खड तु।
रइय अणुग्गहत्थ सीसाण मदवुद्धीण ॥३॥
(उत्तरा चूर्णि)

५ सविसेसायरजुत्त काउ पणाम च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स चरण-करणाणुपालस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि पीठिका)

६ गुरुदिण्ण च गणित्त महत्तरत्त च तस्स तुट्ठेण।
तेण कयेसा चुण्णी विसेसणमा णिसीहस्स ॥२॥
(निशीथ विशेष चूर्णि)

७ (क) श्री श्वेताम्वराचार्य श्री जिनदासगणिमहत्तर-
पूज्यपादानामनुयोगद्वाराणा चूर्णि।
(अनुयोगद्वार चूर्णि)

(ख) णि रे ण ग म त्त ण हु स दा जि या पसुपतिसखगजट्ठिताकुला।
कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुडकहेयतऽभिधाण कत्तुणो ॥१॥
(नन्दी चूर्णि)

८ शकराज्ञो पञ्चसु वर्षशतेषु व्यक्तिक्रान्तेषु अष्टनवतेषु नन्द्यध्ययनचूर्णि समाप्ता।
(नन्दी चूर्णि)

१२ अमेय मेधा के धनी आचार्य हरिभद्र

आचार्य हरिभद्र का जीवन सहस्त्रो वर्षों के वाद भी प्रकाशमान नक्षत्र की तरह चमक रहा है। उनका जन्म चित्तौड-निवासी ब्राह्मण परिवार मे हुआ। पिता का नाम शकर भट्ट और माता का नाम गगा था। विद्या-गगोत्री मे गहरी डुबकिया लगाकर वे प्रगल्भ पडित बने। चौदह प्रकार की विद्याओ पर उनका प्रवल आधिपत्य हो गया था। चित्तौड नरेश जितारि के यहा उन्हे राजपुरोहित का स्थान मिला। राजदरवार मे उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। घर से राजभवन तक वे शिविका मे वैठकर जाते, उनके पीछे सरस्वती-कठाभरण, वैयाकरण-प्रवण, वादि-मत्तगज, न्याय-विचक्षण आदि विरुदावलिया वोली जाती। राजपुरोहित के सम्मान मे जय-जय के नारो मे वातावरण गूजता था।

सीमातीत सम्मान पाकर विद्या-धुरीण हरिभद्र का मानस गर्वित हो उठा। 'वहुरत्ना वसुन्धरा 'यह वसुन्धरा विविध रत्नो को धारण करने वाली है। यह वात उन्हे अवैज्ञानिक लगी। उनकी दृष्टि मे कोई भी योग्यता उनकी तुला के पलक को उठाने मे समर्थ नही थी।

हरिभद्र पडितो मे अग्रणी थे। शास्त्रविशारद विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। पाडित्य के अतिशय अभिमान ने उन्हे असाधारण निर्णय तक पहुचा दिया था। ज्ञानभार से कही उदर फट न जाये, इस भय से वे पेट पर स्वर्णपट्ट वाधे रहते थे। अपने प्रतिद्वन्द्वी को धरती का उत्खनन कर निकाल लेने के लिए कुदाल, जल से खीच लेने के लिए जाल और आकाश से धरती पर उतारने के लिए सोपान प्रति समय अपने कधे पर रखते। जम्बू द्वीप मे भी उन जैसा कोई विद्वान नही है, इस वात को सूचित करने हेतु वे हाथ मे जम्बू वृक्ष की शाखा को रखते थे।[1] उनका दर्पोन्नत मानस किसी भी व्यक्ति द्वारा उच्चारित वाक्य का अर्थ न समझने पर उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लेने को प्रतिवद्ध था।

एक बार रात्रि को राजसभा से लौटते समय वे जैन उपाश्रय के पास से निकले। साध्वी सघ की प्रवर्तिनी 'महत्तरा याकिनी' सग्रहिणी गाथा का जाप कर रही थी

चक्कि दुग हरिपणग पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसीय चक्कीया ॥

श्लोक की 'स्वर-लहरिया' हरिभद्र के कानो मे टकरायी। उन्होने वार-वार ध्यानपूर्वक इसे सुना। मन ही मन चिन्तन चला पर वुद्धि को पूर्णत झकझोर देने के वाद भी वे अर्थ के नवनीत को न पा सके। हरिभद्र का अह पिघलकर वह गया। उपाश्रय मे जाकर महत्तरा जी से उन्होने विनम्रतापूर्वक उक्त श्लोक का अर्थ समझा और अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उनका शिष्यत्व भी स्वीकार कर लिया।

एक नारी के सामने इस तरह अपनी हार को प्रामाणिकतापूर्वक स्वीकार कर लेना हरिभद्र की विशिष्ट महत्ता का परिचायक था।

प्रभावक चरित आदि पुरातन ग्रन्थो के अनुसार प्रस्तुत पद्य की अर्थप्रदायिनी साध्वी याकिनी महत्तरा नही थी। इन ग्रथो का उल्लेख है—उपाश्रय मे प्रवेश करने के वाद विद्वान हरिभद्र का सवसे प्रथम प्रश्न था—इस स्थान पर चकचकाहट किस वात का हो रहा है? अर्थहीन वाक्य का पुनरावर्तन क्यो किया जा रहा है? हरिभद्र ने यह प्रश्न अतिवक्र भापा मे प्रस्तुत किया था।

याकिनी महत्तरा जी धीर-गभीर, आगम-विज्ञ और व्यवहार-निपुण साध्वी थी। उन्होने मृदु स्वरो मे कहा—'नूतन लिप्त चिगचिगायते'—नया लिपा हुआ आगन चकचकाहट करता है। यह शास्त्रीय पाठ है। इसे गुरुगम्य ज्ञान विना समझा नही जा सकता। याकिनी के द्वारा दिए गए स्पष्ट और सारगर्भित उत्तर को सुनकर विद्वान् हरिभद्र प्रभावित हुए। वे झुके और वोले—"प्रसाद कृत्वा अस्य अर्थ कथयत—साध्वीश्री जी! प्रसाद करके मुझे इसका अर्थ समझाइए।"

अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार शिष्य-दीक्षा प्रदान करने की वात भी उन्होने साध्वी याकिनी के सामने विनम्र शव्दो मे प्रस्तुत की।

साध्वी याकिनी महत्तरा जी ने जिनदत्त सूरि के पास से अर्थ समझने का निर्देश दिया। विद्वान् हरिभद्र की जिज्ञासा तीव्रतर होती जा रही थी। प्रात काल होते ही हरिभद्र जिनभद्र सूरि के पास पहुचे। उनके मार्ग मे वह मदिर भी आया जहा घुमकर सामने से आते हुए मदोन्मत्त हाथी से कभी प्राण वचाये थे। 'वपुरेव तवाचष्टे स्पष्ट मिष्टान्न भोजनम्' इस वाक्य से जिन-प्रतिमा का महान् उपहास भी उस समय उन्होने किया था। आज उस कृत्य की स्मृति भाव से उनका मन तापित हो रहा था। निर्मल भाव-भूमि से इस वार प्रस्फुटित होने वाला कविता का रूप सर्वथा भिन्न था। मधुर और शिष्ट शव्दो मे हरिभद्र गुनगुनाए

वपुरेव तवाचष्टे भगवान् वीतरागताम्।
नहि कोटरसस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वल।

यह भव्य आकृति ही वीतरागता को प्रकट कर रही है। वह तरु कभी हरा नही हो सकता, जिसके कोटर मे अग्नि जल रही हो।

गुरुचरणो के निकट पहुचकर विद्वान् हरिभद्र को सात्त्विक प्रसन्नता की अनुभूति हुई। उन्होने झुककर नमन किया और अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी। आचार्य जिनदत्त ने कहा—"पूर्वापर सदर्भ सहित सिद्धान्तो के पद्यो को समझ लेने के लिए मुनि-जीवन का स्वीकरण आवश्यक है।" वैज्ञानिक भूमिका पर धर्म का विवेचन करते हुए उन्होने बताया—"भव-विरह ही धर्म का परम फल है।" आचार्य जिनदत्त सूरि के दर्शन से विद्वान् हरिभद्र के सासारिक वासना का सस्करण क्षीण हो गया। भव-विरह की बात उनके मानस को बेध गयी।

विद्वान् हरिभद्र सच्चे अर्थ मे जिज्ञासु थे। वे दीक्षा लेने के लिए भी प्रस्तुत हुए। ब्राह्मण समाज को बुलाकर उन्होने जैन-दीक्षा की भावना प्रकट की। अपने सम्प्रदाय के प्रति दृढ आस्थाशील ब्राह्मणो द्वारा राजपुरोहित हरिभद्र के इन विचारो का विरोध होना स्वाभाविक था। वैसा हुआ, किसी ने भी उनको समर्थन नही दिया। विद्वान् हरिभद्र बोले

पक्षपात परित्यज्य मध्यस्थी भूययेव च।
विचार्य युक्तियुक्त यद् ग्राह्य त्याज्यमयुक्तिमत् ॥३०८॥

(पुरातन प्रबन्ध-सग्रह)

—पक्षपात को छोडकर मध्यस्थ भावभूमि पर विचार करे। युक्तियुक्त वचन ग्राह्य है और अयुक्तिपूर्ण वचन त्याज्य है।

न वीतरागादपरोऽस्ति देवो न ब्रह्मचर्यादपरचरित्रम्।
नाभीत्तिदानात्परमस्ति दान चारित्रिणो नापरमस्ति पात्रम् ॥

(पुरातन प्रबन्ध-सग्रह ३१०)

—वीतराग से परे कोई देव नही है। ब्रह्मचर्य से श्रेष्ठ आचार नही है। अभयदान से श्रेष्ठ कोई दान नही है। चारित्र गुणमडित पुरुष से उन्नत कोई पात्र नही है।

विवेक बुद्धि से अपने समाज को अनुकूल बनाकर तथा उनसे सहमति प्राप्त कर विद्वान् हरिभद्र जैन मुनि बने। वे राजपुरोहित से धर्मपुरोहित बन गए और साध्वी याकिनी महत्तरा जी को उन्होने धर्मजननी के रूप मे अपने हृदय मे स्थान दिया। आज भी उनकी प्रसिद्धि याकिनी सुनू के नाम से है।

प्रभावक चरित और प्रवन्धकोश के अनुसार विद्वान् हरिभद्र के दीक्षागुरु जिनभट्ट थे।[१] प्रबन्ध-सग्रह मे आचार्य जिनदत्त का उल्लेख है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी कृतियो मे गुरु का नाम जिनदत्त बताया है। आवश्यक वृत्ति मे वे लिखते है—"समाप्ता चेय शिष्यहिता नाम आवश्यकटीका, कृति सिताम्बराचार्य जिनभट्ट निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी महत्तरा सुनोरल्पमतेराचार्य हरिभद्रस्य।" प्रस्तुत टीका मे आचार्य हरिभद्र ने गुरु जिनदत्त के नामोल्लेख के साथ श्वेताम्बर परपरा विद्याधर गच्छ एव आचार्य

जिनभट्ट का नाम निर्देश किया है। सभवत जिनभट्ट या जिनभद्र के निर्देशवर्ती आचार्य जिनदत्त थे।

मुनि आचार सहिता से सबधित नाना प्रकार की शिक्षाए उन्हे गुरु से प्राप्त हुई। अपने गण के परिचय-प्रसग मे गुरु ने हरिभद्र मुनि को बताया—"आगम प्रवीणा साध्वी समूह मे मुकुटमणि श्री को प्राप्त महत्तरा उपाधि से अलकृत साध्वी याकिनी मेरी गुरुभगिनी है।"[1]

हरिभद्र ने भी याकिनी महत्तरा के प्रति कृतज्ञ भाव प्रकट करते हुए कहा—"मैं शास्त्रविशारद होकर भी मूर्ख था। सुकृत के सयोग से निजकुल देवता की तरह धर्ममाता याकिनी के द्वारा मैं बोध को प्राप्त हुआ हू।"[2]

आचार्य हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान् पहले से ही थे। जैन श्रमण दीक्षा लेने के बाद वे जैन दर्शन के विशिष्ट विज्ञाता बने। उनकी सर्वतोमुखी योग्यता के आधार पर गुरु ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त किया।

आचार्य हरिभद्र जब आहार करते तब ललिग शख बजाया करता था। शख की ध्वनि के साथ कुछ याचक आते, भोजन करते और जाते समय आचार्य हरिभद्र को नमस्कार किया करते थे। हरिभद्र आशीर्वाद मे उन्हे कहते—"भवविरह मे प्रयत्नशील बनो।" इस भावना की प्रबलता के कारण उनका नाम भवविरह सूरि भी हो गया था।

आचार्य हरिभद्र के पास हस और परमहस दीक्षित हुए। वे दोनो आचार्य हरिभद्र के भगिनीपुत्र थे। हरिभद्र ने उन्हे प्रमाणशास्त्र का विशेष रूप से प्रशिक्षण दिया। दोनो शिष्यो ने एक बार बौद्ध प्रमाणशास्त्र के अध्ययनार्थ इच्छा प्रकट की। उन्होने कहा—"यह अध्ययन बौद्ध विद्यापीठ मे जाकर ही किया जा सकता है।"

आचार्य हरिभद्र ज्योतिषशास्त्र के विद्वान् थे। उनके निर्मल ज्ञान मे अनिष्ट घटना का आभास हुआ। उन्होने इस कार्य के लिए उन्हे रोका पर वे न रुके। गुरु के आदेश की अवहेलना कर दोनो वहा से प्रस्थित हुए। वेश बदलकर बौद्ध पीठ मे प्रविष्ट हुए। विद्यार्थी दल मे युग्म सहोदर प्रतिभासम्पन्न छात्र थे। बौद्ध अध्यापको के पास वे बौद्ध प्रमाणशास्त्र पढते व अपने स्थान पर आकर जैन दर्शन से बौद्ध दर्शन के सूत्रो की तुलना करते और स्वपक्ष, विपक्ष के समर्थन तथा निरसन मे तर्क-वितर्क पत्र पर लिखते थे। इस रहस्य का उद्घाटन दैवीशक्ति द्वारा हुआ। बौद्ध अधिष्ठात्री 'तारादेवी' ने वायु के वेग से पत्र को उडाकर उसे लेखशाला मे डाल दिया। पत्र के शीर्ष स्थान पर 'नमो जिनाय' लिखा हुआ था। बौद्ध छात्रो ने उसे देखा और उपाध्याय के पास ले गए। उपाध्याय ने समझ लिया—यहा अवश्य छद्म वेश मे कोई जैन छात्र पढ रहा है। परीक्षा के लिए वाटिका के द्वार पर जिन-प्रतिमा की स्थापना कर सबको गुरुजनो ने आदेश दिया—वे जिन-प्रतिमा पर चरण रखकर आगे बढे। बौद्ध जानते थे कोई भी जैन जिन-प्रतिमा पर पैर नही

रखेगा। आदेश प्राप्त होते ही विद्यार्थी प्रतिमा पर चरण-निक्षेप करते हुए चले गए। हस और परमहस के सामने धर्मसकट उपस्थित हो गया। उन्होने समझ लिया—यह सारा योजनावद्ध उपक्रम हमारी परीक्षा के लिए ही किया गया है। आचार्य हरिभद्र के द्वारा वार-वार निपेध किए जाने पर भी वे आग्रहपूर्वक यहा पढने के लिए आए थे। गुरुजनो के आदेश-निर्देश की अवहेलना का परिणाम अहितकर होता है यह उन्हे सम्यक् प्रकार से अवगत हो गया। दोनो ने एकात मे विचार-विमर्श किया। ज्येष्ठ वन्धु ने खटिका से प्रतिमा पर ब्रह्मसूत्र की रेखा खीचकर जिन प्रतिमा की प्रतिकृति को पूर्णत परिवर्तित कर दिया और उस पर चरण रखकर आगे बढा। परमहस ने हस का अनुगमन किया। यह काम हस ने अत्यन्त त्वरा से तथा कुशलता मे किया था। वे युगल-वन्धु अपने पुस्तक-पन्नो को लेकर वहा से पलायन करने मे सफल हो गए। सयोग की वात थी—हस का मार्ग मे ही प्राणात हो गया। दूसरा आचार्य हरिभद्र के चरणो मे आकर गिरा। पुस्तक-पन्ने उनके हाथो मे सौपकर उसने अत तोप की अनुभूति की। गहरी थकान के वाद शिष्य का जीवन पूर्ण विश्राम की कामना कर रहा था। आचार्य हरिभद्र के देखते-देखते परमहस का प्राणदीप बुझ गया।

शिष्य हस का प्राणात मार्ग मे ही हो गया था या कर दिया गया था—यह उल्लेख प्राचीन ग्रथो मे समान रूप से ही प्राप्त है। परमहस की मृत्यु के विषय मे भिन्न-भिन्न अभिमत हैं। प्रवध-सग्रह के अनुसार किसी व्यक्ति के द्वारा चित्रकूट मे आकर निद्राधीन परमहस का शिरश्छेद कर दिया था। प्रात काल मे आचार्य हरिभद्र ने शिष्य कवन्ध को देखा, वे कोपाविष्ट हो गए।[५]

दोनो प्रिय शिष्यो की मृत्यु ने उनको अप्रत्याशित निर्णय पर पहुचा दिया था। महाराज सूरपाल की अध्यक्षता मे उन्होने वौद्धो के साथ शास्त्रार्थ किया। इस गोष्ठी की भावी परिणति अत्यन्त भयावह एव हिंसात्मक थी। परास्त दल को गर्म तेल के कुड मे जलने की प्रतिज्ञा के साथ इस शास्त्रार्थ का प्रारम्भ हुआ था। हरिभद्र इस समर मे पूर्ण विजयी हुए। प्रस्तुत हिसात्मक घटना की सूचना आचार्य जिनदत्त को मिली। उन्होने कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र को प्रतिवोध देने के लिए दो श्रमणो को तीन श्लोक देकर भेजा था। वे श्लोक इस प्रकार है

गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहाणदा य तह पिआपुत्ता।
सिहि-जालिणि माइ-सुआ धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ॥१८५॥
जय-विजया य सहोअर धरणो लच्छी अ तह पई भज्जा।
सेण-विसेणा पित्तिय उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ॥१८६॥
गुणचन्द-वाणमन्तर समराइच्च-गिरिसेण पाणो अ।
एगस्स तओ मोक्खोऽणन्तो अन्नस्स ससारो ॥१८७॥

(प्रभावक चरित, पृ० ७३)

इन श्लोको मे गुणसेन एव अग्नि शर्मा के कई भवो की वैराग्यमयी घटना सकलित थी। वैर का अनुबन्ध भव-भवान्तर तक चलता रहता है, यह तथ्य इस कथा के माध्यम से बहुत स्पष्ट उभारा गया था। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित इन श्लोको को पढते ही हरिभद्र का कोप उपशात हो गया।

श्रुतानुश्रुत परम्परा के अनुसार क्रुद्ध हरिभद्र को प्रतिबोध देने वाली याकिनी महत्तराजी थी। रात्रि के समय आचार्य हरिभद्र विद्याबल से १४४४ बौद्ध भिक्षुओ को व्योममार्ग मे आकृष्ट कर उनकी महान् हिंसा का उपक्रम कर रहे थे। इस घटना की सूचना मिलते ही महत्तरा जी ने तत्काल उपाश्रय मे जाकर द्वार खटखटाए और कहा—"मुझे अभी प्रायश्चित्त लेना है।" आचार्य हरिभद्र ने भीतर से ही प्रत्युत्तर दिया—"रात्रि के समय मे साध्वियो का प्रवेश निषिद्ध है। आलोचना कल कर लेना।"

महत्तरा जी अपने आग्रह पर दृढ थी। वह बोली—"इस जीवन का कोई विश्वास नही है। प्रभात होने तक सास रुक गया तो मैं अपने दोष का प्रायश्चित्त किए बिना विराधक हो सकती हू। कृपया द्वार अभी खुलने चाहिए।"

महत्तरा जी के लिए बहुत ऊचा स्थान आचार्य हरिभद्र के मानस मे था। वे उनके कथन का प्रतिवाद न कर सके। द्वार खुलते ही आचार्य हरिभद्र के सामने उपस्थित होकर महत्तरा जी बोली—"प्रमादवश मेरे पैर से मेढक की हत्या हो गई है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान करें।" आचार्य हरिभद्र ने दोष-विशुद्धि हेतु उन्हे तीन उपवास दिए। महत्तरा जी ने निवेदन किया—"मुझे एक मेढक की अपघात के प्रायश्चित्तस्वरूप तीन उपवास मिले है। आपको इस महान् हिंसा का क्या दण्ड मिलेगा? आचार्य हरिभद्र एक वाक्य से ही सभल गए। डूबती नैया किनारे लग गई। छूटती पतवार हाथ मे थम गयी।"

पुरातन प्रबन्ध-सग्रह मे महत्तरा जी के स्थान पर श्रावक का उल्लेख है। आचार्य जिनदत्त द्वारा निर्देश पाकर एक सुदक्ष श्रावक कोपाविष्ट आचार्य हरिभद्र के पास पहुचा और उसने प्रार्थना की—"आर्य! मै गुरुदेव जिनदत्त के पास प्रायश्चित्त लेने के लिए गया था। उन्होने मुझे प्रायश्चित्त ग्रहणार्थ आपके पास भेजा है। मेरे से पचेन्द्रिय जीव की विराधना हो गयी है, इससे मेरा मन बहुत खिन्न है। आप मुझे कृपाकर प्रायश्चित्त प्रदान करे।"

हरिभद्र उन्मुख होकर बोले—"सुबहुप्रायश्चित्तमेष्यति—बहुत अधिक प्रायश्चित्त तुम्हे वहन करना होगा।" श्रावक बोला—"मुझे इतना प्रायश्चित्त प्रदान कर रहे है। आपको इस हिंसात्मक कार्य के लिए कितना प्रायश्चित्त वहन करना होगा?"

सुविज्ञ हरिभद्र ने समझ लिया—यह प्रेरणा श्रावक के माध्यम से आचार्य जिनदत्त की है। उन्होने लज्जा से अपना मुख नीचे कर लिया। श्रावक पुन

बोला—"गुरुदेव ने कहलाया है—आपने समरादित्य चरित्र को पढा या नही? वैर का कटु परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पडता है। आप व्यर्थ ही रोषारुण होकर इतने बडे वैर का वन्ध क्यो कर रहे हैं?"

श्रावक के मुख से आचार्य जिनदत्त की शिक्षा को सुनकर आचार्य हरिभद्र का अन्तर्विवेक जागा। वे हिसा के कार्य से सर्वथा निवृत्त हुए। प्रायश्चित्त ग्रहण कर विशुद्ध हुए। उसके बाद उन्होने आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित श्लोको के आधार पर समरादित्य-कथा की रचना प्राकृत भाषा मे की।[1]

हिंसात्मक योजना से सम्वन्धित ये प्रसग आचार्य हरिभद्र के चरित्रनिष्ठ व्यक्तित्व के साथ अप्रासगिक-से लगते हे।

कथावली-प्रसग के अनुसार आचार्य हरिभद्र के शिष्य जिनभद्र और वीरभद्र थे। चित्रकूट मे आचार्य हरिभद्र के असाधारण प्रभाव से कुछ व्यक्तियो मे ईर्ष्या का भाव पैदा हुआ और उन्होने उनके दोनो शिष्यो को गुप्त स्थान पर मार डाला। यह प्रसग आचार्य हरिभद्र के हृदय मे सुतीक्ष्ण शस्त्र की तरह घाव कर गया। उन्होने अनशन की सोची। उनकी निर्मल प्रतिभा से जैन शासन की प्रभावना की महान् सभावना थी अत सबने मिलकर उन्हे इस कार्य से रोका।

आचार्य हरिभद्र ने सघ की बात को सम्मान प्रदान कर अपने चिन्तन को मोडा। शिष्य-सतति के स्थान पर वे ज्ञान-सतति के विकास मे लगे। उनकी वृत्तियो का शोध हुआ, पर शिष्यो की विरह-वेदना उनके हृदय मे कम न हुई अत प्रत्येक ग्रथ के साथ उन्होने विरह शव्द को जोडा है।[2] आज भी आचार्य हरिभद्र कृत ग्रथो की पहचान, अन्त मे प्रयुक्त यह विरह शव्द है। आचार्य हरिभद्र के साधनाशील जीवन की उच्च भूमिका पर यह प्रसग स्वाभाविक और सत्यता के निकट प्रतीत होता है।

आचार्य हरिभद्र साहित्य-सुधा-सागर थे। उनकी कृतिया जैन शासन का अनुपम वैभव है। आचार्य हरिभद्र की लेखनी हर विषय पर चली। आगमिक क्षेत्र मे वे सर्वप्रथम टीकाकार थे। आवश्यक दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोग द्वार प्रज्ञापना, प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम इन आगमो पर उन्होने टीकाए लिखी। पिंड-निर्युक्ति की उनकी अपूर्ण टीका को वीराचार्य ने पूर्ण की थी। विविध विषयो का विवेचन करती हुई उनकी टीकाए महान् ज्ञानवर्धक सिद्ध हुईं। प्रज्ञापना टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदो पर है। यह सक्षिप्त और सरल टीका है। आवश्यक वृत्ति आवश्यक निर्युक्ति पर है। निर्युक्ति गाथाओ की व्याख्या मे आवश्यक चूर्णि का पदानुसरण नही है। इसमे सामायिक आदि सभी पदो पर वहुत विस्तार से विवेचन है तथा विस्तृत रुचि रखने वाले पाठको के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस टीका की परिसमाप्ति मे जिनभट्ट, जिनदत्त याकिनी महत्तरा जी आदि का उल्लेख करते हुए

अपने को अल्पमति कहकर परिचय दिया है। यह टीका वाईस हजार श्लोक परिमाण है।

दशवैकालिक की निर्युक्ति के आधार पर 'दशवैकालिक वृत्ति' लिखी गयी है। इसका नाम शिष्यबोधिनी वृत्ति है। इसे वृहद् वृत्ति भी कहते है। इस वृत्ति प्रणयन का उद्देश्य प्रस्तुत करते हुए सूरि जी ने दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यभव आचार्य का पूर्ण परिचय भी प्रस्तुत किया है।

वारह निर्जरा के भेदो मे ध्यान का मागोपाग विवेचन, दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार की व्याख्या, अठारह सहस्र शीलाग का प्रतिपादन श्रमण धर्म की दुर्लभता, भाषा-विवेक, व्रतषट्क, कायषट्क आदि अठारह स्थानक, आचार प्रणिधि, समाधि के चारो प्रकार, भिक्षु स्वरूप, चूलिका मे आए हुए रत्तिजनक तथा अरत्तिजनक कारण और साधु-जीवन की विविध चर्या का स्पष्टीकरण इस वृत्ति के विवेच्य-स्थल है।

टीका के अन्त मे टीकाकार ने अपना परिचय महत्तरा धर्मपुत्र के नाम से दिया है।[८]

नन्दी और अनुयोगद्वार की टीका नन्दी चूर्णि और अनुयोगद्वार चूर्णि की शैली पर लिखी गयी है। नन्दी टीका २३३६ श्लोक परिमाण है और इसमे केवलज्ञान, केवलदर्शन की परिचर्चा, नन्दी चूर्णि मे वर्णित सभी विषयो का स्पष्टीकरण तथा अयोग्यदान और फल प्रक्रिया की विवेचना है।

अनुयोगद्वार वृत्ति—अनुयोग वृत्ति का नाम 'शिष्यहिता' है। इसकी रचना नन्दी विवरण के वाद हुई है। मगल आदि शब्दो का विवेचन नन्दीवृत्ति मे हो जाने के कारण इसमे नही किया गया है। ऐसा टीकाकार का उल्लेख है। प्रमाण आदि को समझाने के लिए अगुलो का स्वरूप, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम की व्याख्या, ज्ञाननय और क्रियानय का वर्णन इस वृत्ति के मुख्य प्रतिपाद्य है।

प्रज्ञापन प्रदेश व्याख्या—प्रज्ञापना टीका प्रज्ञापना सूत्र के पदो पर है। यह सक्षिप्त और सरल टीका है। इसके प्रारम्भ मे जिन प्रवचन की महिमा है। भव्य और अभव्य के प्रसग मे वादिमुख्य के श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं और प्रज्ञापना सूत्र के विभिन्न विषयो का सरलतापूर्वक विवेचन कर साधारण जनता के लिए जीव और अजीव से सम्बन्धित अनेक सैद्धान्तिक विषयो को भी समझाया गया है। अष्टम पद की व्याख्या मे सज्ञा स्वरूप का विवेचन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

प्रज्ञापना के ग्यारहवें पद के आधार पर कामशास्त्र-सम्बन्धी सामग्री इसमे उपलब्ध होती है और स्त्री, पुरुष तथा नपुसक के स्वभावगत लक्षणो का भी सुन्दर विवेचन है।

जीवाभिगम सूत्र लघु वृत्ति जैनागम तत्त्व दर्शन का प्रतिपादन करती हुई

तत्त्वज्ञान-पिपासु पाठको के लिए विशेष उपयोगी है।

आवश्यक सूत्र वृहद्वृत्ति भी आचार्य हरिभद्र की रचना मानी गयी है। इसका श्लोक परिमाण चौरासी हजार था। वर्तमान मे यह टीका उपलब्ध नही है। आगम साहित्य के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो पर भी आचार्य हरिभद्र ने कई टीकाए लिखी।

तत्त्वार्थ सूत्र लघु वृत्ति (अपूर्ण टीका) पिण्ड निर्युक्ति-वृत्ति, क्षेत्र समास वृत्ति, कर्मस्तव वृत्ति, ध्यान शतक वृत्ति, लघुक्षेत्र समास वृत्ति, ललित विस्तरा (चैत्य वन्दन स्तव वृत्ति), श्रावक धर्म समास वृत्ति, श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, सर्वज्ञ सिद्धि टीका, न्यायावतार वृत्ति आदि टीकाए आचार्य हरिभद्र सूरि की अमेय प्रतिभा का वोध करती हे।

योगदृप्टिसमुच्चय वृत्ति स्वनिर्मित योग दृप्टि समुच्चय की व्याख्या हे।

धर्म सग्रहिणी ग्रथ मे पाच प्रकार के ज्ञान का वर्णन सर्वज्ञ सिद्धि समर्थन तथा चार्वाक दर्शन का युक्तिपुरस्सर निरसन है। सम्यक् दर्शन (सम्यक्त्व) का विवेचन आचार्य हरिभद्र के 'दसण सुद्धि' (दर्शन शुद्धि) ग्रथ मे प्राप्त होता हे।

सावगधम्म (श्रावक धर्म) और सावगधम्म समास (श्रावक धर्म समास) इन इन दोनो कृतियो मे श्रावक धर्म की शिक्षाए तथा वारह व्रतो का विवेचन है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका भारतीय दर्शनो का दर्पण है।

जैनेतर साहित्य पर भी टीका रचना का कार्य आचार्य हरिभद्र ने किया।

न्याय-प्रवेश ग्रथ वौद्ध विद्वान् दिङ्नाग की रचना है। उस पर भी हरिभद्र ने टीका लिखी और जैनो के लिए वौद्ध दर्शन मे प्रवेश पाने का मार्ग सुगम किया। इस टीका से जैनेतर विपयो मे भी हरिभद्र सूरि के अगाध ज्ञान की सूचना मिलती है।

टीका साहित्य की तरह योग साहित्य के आदि-प्रणेता भी हरिभद्र सूरि थे। उन्होने योग-सम्वन्धी नई परिभापाए एव वैज्ञानिक पद्धतिया प्रस्तुत की। योग-दृष्टि समुच्चय, योगविन्दु, योगविंशिका, योगशतकम् ये ग्रथ योग-सम्वन्धी अपूर्व सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अष्टाग योग के स्थान पर स्थान-ऊर्ण आदि पचाग यो। तथा मित्रा, तारा, वला, दीप्ता आदि आठ यौगिक दृष्टियो का प्रतिपादन उनकी मौलिक सूझ का परिणाम हे।

चार अनुयोगो पर उन्होने रचना की है। द्रव्यानुयोग मे धर्म सग्रहिणी, गणितानुयोग मे क्षेत्रसमासवृत्ति, चरणानुयोग मे धर्मविन्दु, उपदेश पद और धर्म कथानुयोग मे धूर्त्ताख्यान उनकी सरस कृतिया है।

अनेकान्त जयपताका व अनेकान्त प्रवेश भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गम्भीर रचनाए है। दर्शन जगत् मे ये समादृत हुई है।

षड्दर्शन समुच्चय मे भारत की प्रमुख छह दर्शन धाराओ का उल्लेख तथा उनके द्वारा सम्मत सिद्धान्तो का प्रामाणिक रूप से निरूपण है। नास्तिक धारा को भी आस्तिक धारा के समकक्ष प्रस्तुत कर उन्होने महान् उदारता, सदाशयता और तटस्थता का परिचय दिया है।

कथाकोष उनका श्रेष्ठ ग्रथ है और कथाओ का दुर्लभ भडार था जो वर्तमान मे उपलब्ध नही है।

'समराइच्च कहा' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत रचना है। शब्दो का लालित्य, शैली का सौष्ठव, सिद्धातसुधापान कराने वाली कात-कोमल पदावली एव भावाभिव्यक्ति का अजस्र बहता ज्ञान निर्झर कथावस्तु की रोचकता एव सोदर्य, प्रसाद तथा माधुर्य इसका समवेत रूप—इन सभी गुणो का एकसाथ दर्शन इस कृति मे होता है।

लोक तत्त्वनिर्णय, श्रावक प्रज्ञप्ति, अष्टक प्रकरण, पचाशक, पचवस्तु प्रकरण टीका आदि अनेक ग्रथो के रूप मे साहित्य-जगत् को आचार्य हरिभद्र की अमर देन है।

आचार्य हरिभद्र का युग पक्षाग्रह का युग था। उस समय मे भी उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट उद्घोप किया

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेप कपिलादिपु।
युक्तिमद् वचन यस्य, तस्य कार्य परिग्रह ॥

वीर वचन मे मेरा पक्षपात नहीं। कपिल मुनियो से मेरा द्वेप नही। जिनका वचन तर्कयुक्त है—वही ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्र बडे स्पष्टवादी थे। सम्बोध-प्रकरण म उन्होने उस युग मे छाये शिथिलाचार के प्रति करारा प्रहार किया है।

हरिभद्र का साहित्य उत्तरवर्ती साहित्यकारो के लिए आधार बना। उनकी 'समराइच्च कहा' को पढकर आचार्य उद्योतन मे भी ग्रथ लिखने की प्रेरणा जगी। उमकी परिणति कुवलयमाला के रूप मे हुई। उनकी टीकाओ ने सस्कृत मे आगम व्याख्या लिखने का मार्ग प्रस्तुत किया। शीलाक अभयदेव, मलयगिरि आदि का प्रेरणा स्रोत उनका टीका साहित्य ही है। उनकी योग-सबधी नई दृष्टियो ने योग के सदर्भ मे सोचने का नया क्रम दिया। योग पल्लवन की दिशा मे यशोविजय जी को उत्साहित करने वाली हरिभद्र सूरि की यौगिक कृतिया ही है।

साहित्य रचना मे लल्लिग नाम के एक व्यक्ति ने उनको सहयोग दिया था। वह रात्रि के समय हरिभद्र सूरि के उपाश्रय मे एक मणि रख दिया करता था, जिसके प्रकाश मे हरिभद्र सूरि साहित्य रचना किया करते थे।

आज उनका सपूर्ण साहित्य उपलब्ध नही है पर जो कुछ भाग्य से प्राप्त है उससे अब भी शोध-लेखको को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है।

प्रबंधकोश के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने १४४० ग्रथो की रचना की थी।[९] पुरातन प्रवध-सग्रह के अनुसार उन्होने १४०० ग्रथो की रचना की थी।[१०] आज विद्वानो की दृष्टि मे ग्रथो की यह सख्या सदिग्ध है।

आचार्य हरिभद्र का समय प्राचीन विद्वानो के अनुसार वी० नि० १००० से १०५५ (वि० ५३० से ५८५) था। जिनविजय जी ने उनका समय वि० ७५७ से ८७ निर्णीत किया है। इस आधार पर प्राचीन समय वि० की छठी शताव्दी और वर्तमान समय वि० की ८वी शताव्दी है।

जीवन के सध्या-काल मे उन्होने अनशन की स्थिति को स्वीकार किया। अध्यात्म भाव मे लीन होकर वे परम समाधि के साथ स्वर्ग को प्राप्त हुए।[११]

आधार-स्थल

१ परिभवनमतिमहावलेपात् क्षितिसलिलाम्वरवासिना वुधानाम्।
अवदारणजालकाधिरोहण्यपि स दधौ त्रितय जयाभिलाषी ॥९॥
स्फुटति जठरमन्त्रशास्त्रपूरादिति स दधावुदरे सुवर्णपट्टम।
मम सममतिरस्ति नैव जम्वूक्षितिवलये वहते लता च जम्व्वा ॥१०॥
(प्रभा० चरित, पत्नाक ६२)

२ दिवसगणमनर्थक स पूर्वस्वकमभिमानकदर्थ्यमानमूर्ति।
अमनुत स ततश्च मण्डपस्थ जिनभटसूरिमुनीश्वर ददर्श ॥३०॥
(प्रभा० चरित, पत्नाक ६४)

३ गुरुरवददथागमप्रवीणा यमि-यतिनीजनमौलिशेखरश्री।
मम गुरुभगिनी महत्तरेय जयति च विश्रुतजाकिनीति नाम्नी ॥४१॥
(प्रभा० च०, पत्नाक ६४)

४ अभणदथ पुरोहितोऽन्याह भवभवशास्त्रविशारदोऽपि मूर्ख।
अतिसुकृतवशेन धर्ममात्रा निजकुलदेवतयेव वोधितोऽस्मि ॥४२॥
(प्रभा० चरित, पत्नाक ६४)

५ प्रात श्रीहरिभद्रसूरिभि शिष्यकवन्धो दृष्ट कोप।
(प्रवधकोश, पत्नाक २५)

६ पुन सङ्घ मील्य प्रायश्चित्त कृतवन्त। तदनु 'समरादित्यचरित' वैराग्यामृतमय चक्रु।
(पुरा० प्र० स०, पृ० १०५)

७ अतिशयहृदयाभिरामशिष्यद्वयविरहोर्मिभरेण तप्तदेह।
निजकृतमिह सव्यधात् समस्ता विरहपदेन युता सता स मुख्य ॥२०६॥
(प्रभा० चरित, पत्नाक ७४)

८ महत्तरायाकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता।
आचार्य हरिभद्रेण, टीकेयशिष्यबोधिनी ।। प्रशस्ति श्लोक १ ।।
(दशवै० हारि० वृत्ति)

६ बोध । शान्ति । १४४० ग्रन्था प्रायश्चित्तपदे कृता ।
(प्रबन्धकोश, पृ० २६)

१० तैश्चतुर्दशशतानि कृतानि सिद्धान्तरहस्यभूतानि (प्रकरणानि)
(पुरातन प्रबन्ध स० १०४)

११ कालेनानशन कृत्वा दिव गता ।
(पुरा० प्र० स०, पत्राक १०५)

१३ वरिष्ठ विद्वान् आचार्य बप्पभट्टि

आचार्य बप्पभट्टि क्षत्रिय थे। बौद्धिक बल से आम राजा को प्रभावित कर उन्होने जैन दर्शन की महती प्रभावना की थी। वे छह वर्ष की अवस्था मे दीक्षित होकर ग्यारह वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद पर आरूढ हुए, इतिहास की यह विरल घटना है।[१]

आचार्य बप्पभट्टि का जन्म वी० नि० १२७०(वि० ८००) मे भाद्रपद तृतीया रविवार को हुआ।[२] उनके बचपन का नाम सूरपाल था। आचार्य सिद्धसेन से उन्हे जैन सस्कार मिले थे। ये सिद्धसेन मोढगच्छ के थे और दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न थे।

आचार्य सिद्धसेन एक बार मोढेर नगर मे विराजमान थे। उन्होने स्वप्न मे चैत्य पर छलाग भरते केशरी-शावक को देखा।[३] वे प्रात मदिर मे गए। उनकी दृष्टि एक षट्वार्षिक बालक पर केन्द्रित हो गयी। वह आकृति से प्रभावक प्रतीत हो रहा था। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से पूछा—"तुम कौन हो? कहा से आ रहे हो?" बालक ने कहा—"मेरा नाम सूरपाल हे। मै पाचालदेश्य बप्प का पुत्र हू। मेरी मा का नाम भट्टी है।[४] मेरे मन मे राज्यद्रोही शत्रुजनो से युद्ध करने की भावना जागृत हुई, पर पिता ने मुझे रोक दिया। निरभिमानी पिता के पास रहना मुझको उचित नही लगा। मै घर के वातावरण से पूर्णत असतुष्ट होकर मा-बाप को बिना पूछे ही यहा चला आया हू।

आचार्य सिद्धसेन व्यक्ति के पारखी थे। वे आकृति को देखकर उसके व्यक्तित्व को पहचान लेते थे। आचार्य सिद्धसेन ने बालक को देखकर चिंतन किया। 'अहो दिव्यरत्न न मानवमात्रोऽय" यह बालक सामान्य बालक नही दिव्य रत्न है। 'तेजसा हि न वय समीक्ष्यते'—तेजस्विता का वय से कोई अनुबध नही है। आचार्य सिद्धसेन ने बालक से कहा, "वत्स! हमारे पास रहो। सन्तो का आवास घर से भी अधिक सुखकर होता है।" विकस्वर सरोरुह पर अलि का मुग्ध हो जाना स्वाभाविक है। सूरपाल गुरु के जीवन बोधकारी प्रसाद को प्राप्त कर उनके पास रहने के लिए प्रस्तुत हो गया। आचार्य सिद्धसेन बालक को लेकर अपने स्थान पर आए। उसकी भव्य आकृति को देखकर श्रमणो को प्रसन्नता हुई। गुरु ने उन्हे

अध्यात्म-प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया। बालक तीव्र प्रज्ञा का धनी था। श्रवणमात्र से उन्हे पाठ ग्रहण हो जाता था। एक दिन मे सूरपाल ने सहस्र श्लोक कठस्थ कर सबको विस्मयाभिभूत कर दिया।[१] बालक की शीघ्रग्राही मेधा से गुरु को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्हे लगा—जैसे योग्य पुत्र को उपलब्ध कर पिता धन्य हो जाता है, उसी प्रकार हम योग्य शिष्य को पाकर धन्य हो गए हे। पूर्ण पुण्य-सचय से ही ऐसे शिष्यरत्नो की प्राप्ति होती है।

शिष्य परिवार से परिवृत सिद्धसेन डुवाउधी ग्राम मे गए। बालक सूरपाल भी उनके साथ था। डुवाउधी सूरपाल की जन्मभूमि थी। राजा वप्प और भट्टि दोनो मुनिजनो को वदन करने आए। आचार्य सिद्धसेन ने उनको उद्‌बोधन देते हुए कहा—"ससार अवकर मे अनेक पुत्र कृमि की भाति उत्पन्न होते हैं, उनसे क्या? तुम्हारा पुत्र धन्य है, वह व्रत धर्म को स्वीकार करना चाहता है। तुम इस पुत्र का धर्मसघ के लिए दान कर महान् धर्म की आराधना करो। भवार्णव से तैरने की भावना रखता हुआ तुम्हारा पुत्र श्लाघनीय है।"

पुत्र के दीक्षा गहण की बात सुनकर माता-पिता का मन उदास हो गया। वे बोले, "हमारे घर मे यह एक ही कुलदीप है। उसे हम आपको कैसे प्रदान कर सकते हैं?"

मोह का बन्ध माता-पिता मे जितना सघन था उतना सूरपाल मे नही था। धर्मगुरुओ के पास रहने के कारण उसका मोह और भी तरल हो गया था। उसने सबके सामने अपने विचार स्पष्ट किए—"मैं चारित्र पर्याय को अवश्य स्वीकार करूगा।" पुत्र की निश्चयकारी भाषा से माता-पिता को अपने विचार बदलने पडे। सुत को गुरुचरणो मे समर्पित करते हुए उन्होने निवेदन किया, "आर्य! आप इसे ग्रहण करे और इसका नाम वप्पभट्टि रखे, इससे हमारा नाम भी विश्रुत होगा।"

आचार्य सिद्धसेन को वप्पभट्टि नाम रखने मे कोई बाधा नही थी। उन्होने अभिभावको की आज्ञापूर्वक वी० नि० १२७७ (वि० स० ८०७) वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन गुरुवार को मोढेरक नगर मे उसे दीक्षा प्रदान की।[१] मुनि-जीवन मे सूरपाल का नाम वप्पभट्टि रखा गया। सघ की प्रार्थना से आचार्य सिद्धसेन ने वह चातुर्मास वही किया।

एक बार की घटना है, वप्पभट्टि वहिर्भूमि गए थे। अति वृष्टि के कारण उन्हें देव-मदिर मे रुकना पडा। वहा इतर नगर से समागत एक प्रबुद्ध व्यक्ति से उनका मिलन हुआ। वह व्यक्ति विशेष प्रभावी परिलक्षित हो रहा था। उसे मुनि वप्पभट्टि से प्रसाद गुणसम्पन्न गम्भीर काव्य के श्रवण का आस्वाद प्राप्त हुआ। वह वप्पभट्टि की व्याख्या-शक्ति से प्रसन्न हुआ और वर्षा रुकने पर उन्हीके साथ धर्म-स्थान पर आ गया। आचार्य सिद्धसेन ने उनसे पूछा—"तुम कौन हो?" उसने कहा—"कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत गोपाल गिरि नगर के राजा यशोवर्मा का मैं पुत्र हू।

मेरी माता का नाम सुयशा है। मै यौवन से उन्मत्त होकर विपुल धन का व्यय करता था। मेरी इस आदत से प्रकुपित पिता ने मुझे शिक्षा दी—'वत्स ! मितव्ययी भव' —वत्स ! मितव्ययी बन। पिता की यह शिक्षा मुझे नीम की तरह कटु लगी। मैं उनसे रुष्ट होकर घर से निकला और इतस्तत चक्कर लगाता यहा आ पहुचा हू। गुरु के द्वारा नाम पूछने पर उसने खटिका से लिखकर वताया—"आम।" आम का महाजनोचित यह व्यवहार देखकर गुरु को लगा—यह कोई पुण्य पुरुष है।

आम भी आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित हुआ। गुरु के आदेशपूर्वक उसने मुनि वप्पभट्टि से वहत्तर कलाओ का प्रशिक्षण पाया।[७] लक्षण और तर्कप्रधान ग्रन्थो को भी पढा। धीरे-धीरे वप्पभट्टि के साथ आम की प्रीति अस्थि-मज्जा की भाति सुदृढ हो गयी।

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण ह्रस्वा पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खल सज्जनानाम्॥"

—खल मनुष्यो की प्रीति प्रभात कालीन छाया की भाति क्रमश घटती जाती है और सज्जन मनुष्यो की प्रीति मध्याह्नोत्तर छाया की भाति क्रमश वढती जाती है।

आम और वप्पभट्टि की प्रीति दिन-प्रतिदिन गहरी होती गयी। कुछ काल के वाद राजा यशोवर्मा असाध्य बीमारी से आक्रान्त हो गया। उसने पट्टाभिषेक के लिए प्रधान पुरुषो के साथ आम कुमार को लौट आने का निमत्रण भेजा। आम की इच्छा न होते हुए भी राजपुरुष उसे ले आए। पिता-पुत्र का मिलन हुआ। पिता ने पुत्र को सवाष्प नयनो से देखा, गाढ आलिगन के साथ गद्‌गद् स्वरो से उपालम्भ भी दिया।

औपचारिक व्यवहार के वाद यशोवर्मा ने प्रजापालन का प्रशिक्षण पुत्र को दिया और शुभ मुहूर्त मे आम का राज्याभिषेक हुआ।

राज्यचिन्ता से मुक्त होकर यशोवर्मा धर्मचिन्ता मे लगे। जीवन के अन्तिम समय मे अरिहन्त, सिद्ध और साधु—त्रिविध शरण को ग्रहण करते हुए उनको स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

आम ने उनका और्ध्वदैहिक सस्कार किया। राज्यारोहण के प्रसग पर प्रजा को विपुल दान दिया। आम सव तरह से सम्पन्न था। प्रजा सुखी थी। किसी भी प्रकार की चिन्ता आम को नही थी, किन्तु परममित्र मुनि वप्पभट्टि के विना उसे अपनी सम्पन्नता पलाल-पुलसम निस्सार लग रही थी।

राजा आम का निर्देश प्राप्त कर राजपुरुष वप्पभट्टि के पास पहुचे और प्रणतिपूर्वक वोले, "आर्य ! आम राजा ने उदग्र उत्कठा के साथ आपको आमन्त्रण भेजा है। आप हमारे साथ चले और आम की धरती को पावन करे।" श्रमण वप्पभट्टि ने राजपुरुषो के निवेदन को ध्यान से सुना। गुरुजनो से आदेश लेकर गीतार्थ

मुनियों के साथ वे वहाँ से प्रस्थित हुए और शीघ्र गति से चलते हुए गोपालगिरि पहुँचे। बप्पभट्टि के स्वागतार्थ सेना सहित राजा आम सामने आए। राजकीय सम्मान के साथ बप्पभट्टि का नगर में प्रवेश हुआ। बप्पभट्टि के आगमन से आम को अत्यधिक प्रसन्नता की अनुभूति हो रही थी। गुरु के चरणों में नत होकर आम ने निवेदन किया, "आर्य ! मेरा आधा राज्य आप ग्रहण करें।"

परिग्रह के मोह से सर्वथा मुक्त बप्पभट्टि बोले "राजन् ! निर्ग्रन्थों को पाप-मूलक राज्य से क्या मतलब है ?"

अनेकयोनिसम्पातानन्तबाधाविधायिनी ।
अभिमानफलैवेयं राज्यश्री सा विनश्वरी ।।

—अनेक योनियों में ले जाने वाली अनन्त बाधा विधायिका अभिमान फल-प्रदायिनी राज्यश्री भी शाश्वत नहीं है।

श्रमण बप्पभट्टि की राज्य के प्रति अनासक्त भावना को देखकर राजा बहुत प्रभावित हुआ।

राजसभा में बप्पभट्टि के लिए सिंहासन की व्यवस्था की गयी और राजा ने उस पर बैठने के लिए बप्पभट्टि से आग्रह-भरा निवेदन किया।

श्रमण बप्पभट्टि बोले, "राजन् ! आचार्य के बिना सिंहासन पर बैठना उचित नहीं है। इससे गुरुजनों की आशातना होती है।"

आम राजा बप्पभट्टि के इस कथन के सामने निरुत्तर हो गया था। सिंहासन पर बप्पभट्टि के न बैठने से उन्हें भारी असन्तोष था। गुरु के सामने प्रार्थना रखने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। राजा ने सोच-समझकर बप्पभट्टि को और उनके साथ प्रधान सचिवों को आचार्य सिद्धसेन के पास प्रेषित किया एवं उनके साथ विज्ञप्ति-पत्र भी दिया। विज्ञप्ति-पत्र में लिखा था

योग्य सुत शिष्य च नयन्ति गुरव श्रियम् ।।

—योग्य पुत्र, और शिष्य गुरुजनों की श्री को प्राप्त करते हैं। अत आप बप्पभट्टि को सूरि पद पर सुशोभित करें।

राजपुरुषों द्वारा प्राप्त विज्ञप्ति पत्र आचार्य सिद्धसेन ने पढ़ा। राजा की प्रार्थना पर गम्भीरता से चिन्तन कर शिष्य बप्पभट्टि को उन्होंने आचार्य पद पर स्थापित किया। यह वी० नि० १२८१ (वि० ८११) चैत्र कृष्णा अष्टमी का दिन था।' एकान्त स्थान में उन्हें प्रशिक्षण देते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मुने ! मेरा अनुमान है—तुम्हारा विशेष राजसत्कार होगा। अनेक प्रकार की सुविधाएँ भी तुम्हें प्राप्त होंगी। उनमें मुग्ध होकर लक्ष्य को मत भूल जाना। 'इन्द्रियजयो दुष्कर' — इन्द्रिय जय की साधना दुष्कर है।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषा न चेतासि त एव धीरा ।

" विकार हेतु उपस्थित होने पर भी जो कुपथ का अनुसरण नही करते वे धीर होते है।

" मेरी इस शिक्षा को स्मृति मे रखना, ब्रह्मचर्य की साधना मे विशेष जागरूक रहना। "

शिष्य वप्पभट्टि को उचित प्रकार से मार्ग-दर्शन देकर आचार्य सिद्धसेन ने उन्हे आम राजा के पास पुन प्रेपित किया।

विशेष पद से अलकृत मुनि वप्पभट्टि का आगमन आम के लिए हर्प-वर्धक था। उन्होने वप्पभट्टि का भारी स्वागत किया एव उनसे क्लेश-विनाशिनी, कल्याण-कारिणी, सारभूत धर्म देशना को सुना।

राजा की प्रवल भक्ति के कारण वप्पभट्टि का लम्वे समय तक वही विराजना हुआ। दिन-प्रतिदिन दोनो का प्रीतिभाव वृद्धिगत होता गया।

आचार्य वप्पभट्टि की काव्य-रचना ने आम को अत्यधिक प्रभावित किया। कभी-कभी तत्काल पूछे गये प्रश्न के उत्तर मे अथवा तत्काल प्रदत्त कवितामयी समस्या के समाधान मे वप्पभट्टि द्वारा रचित श्लोको को सुनकर आम मुग्ध हो जाते, उन्हे वप्पभट्टि मे सर्वज्ञ जैसा आभास होता।

ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा के लिए एक वार निशा काल मे 'आम' ने पुरुप परिधान पहनाकर गणिका को वप्पभट्टि के पास भेजा।

वप्पभट्टि सानन्द सोये हुए थे। पण्यागना नि शव्द गति से चलती हुई वप्पभट्टि के शयन-कक्ष तक पहुची और उनके चरणो की उपासना (मर्दन आदि क्रिया) करने लगी। नारी के कोमल कर स्पर्श होते ही वप्पभट्टि सजग हो गए और तत्काल उठकर वोले, "पण्यागने ! वायु से तृणो को उडाया जा सकता है, काचन गिरि उसमे नही हिलते। नखो के प्रहार से शिलाखण्ड को नही तोडा जा सकता। तुम जिस मार्ग से आयी हो उसी मार्ग से सकुशल लौट जाने मे ही तुम्हारा भला है। यहा तुम्हारा कोई काम नही है।"

वारवधू के भ्रू-विक्षेप आदि प्रयास निप्फल गए। वप्पभट्टि अपने लक्ष्य से किंचित भी विचलित नही हुए।

गणिका आम के पास जाकर वोली, "भूस्वामिन् ! वप्पभट्टि अपने व्रत मे पापाण की भाति दृढ हैं। तिलतुप मात्र भी उनका मन मेरे हाव-भाव पर चलित नही हुआ।"

वप्पभट्टि के दृढ मनोवल पर आम को प्रसन्नता हुई और उनके दर्शन करने पर राजा को सकोच भी हुआ। वप्पभट्टि ने उन्हे तोप देते हुए कहा, "राजन् ! विशेप चिन्तन की कोई वात नही है। राजा को सव प्रकार की परीक्षा लेने का अधिकार होता है।"

वृद्धावस्था मे आचार्य सिद्धसेन ने वप्पभट्टि को अपने पास वुलाकर गण का

सारा दायित्व सौंपा। अनशनपूर्वक वे स्वर्ग को प्राप्त हुए।

बुद्धिबल से बप्पभट्टि ने कई यशस्वी कार्य किए। बंगाल प्रान्त के अधिपति धर्मराज और आम राजा के बीच में लम्बे समय से वैर चल रहा था। लक्षणावती बंगाल की राजधानी थी। धर्मराज को शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण मिलने पर आम की ओर से बप्पभट्टि लक्षणावती गए। धर्मराज की सभा में 'वर्द्धन कुंजर' नामक दिग्गज विद्वान् के साथ उनका वाद-विवाद हुआ। छह महीने तक यह शास्त्रार्थ चला। बप्पभट्टि की अन्त में विजय हुई। धर्मराज ने उन्हें 'वादी कुंजर केसरी' की उपाधि से मंडित किया। इस शास्त्रार्थ के बाद आम राजा और धर्मराज का वैर सदा-सदा के लिए शान्त हो गया। इससे जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई।

मथुरा के वाक्‌पति नामक सांख्य योगी के मन्त्र-प्रयोग से आम राजा विस्मयाभिभूत थे। एक दिन आम ने बप्पभट्टि से कहा—"आपने विद्याबल से मेरे जैसे व्यक्तियों को प्रभावित कर जैन श्रावक बनाने का कार्य किया है। आपके सामर्थ्य को तब पहचानें जबकि वाक्‌पति योगी को आप प्रतिबोध दे सकें।" राजा आम के इस वचन पर बप्पभट्टि वहां से उठे और मथुरा की ओर प्रस्थित हुए। वहां पहुंचकर ध्यानस्थ वाक्‌पति के सामने कई श्लोक बोले—वाक्‌पति ने नयन खोले, उनके साथ धर्मचर्चा की। बप्पभट्टि ने जिनेश्वर प्रभु का स्वरूप समझाया और विभिन्न प्रकार से अध्यात्म बोध देकर उसे जैन दीक्षा प्रदान की।

बप्पभट्टि के शिष्य गोविन्द सूरि और नन्न सूरि के व्यक्तित्व से भी आम अत्यधिक प्रभावित थे। इसमें मुख्य निमित्त आचार्य बप्पभट्टि ही थे।

बप्पभट्टि साहित्यकार भी थे। उन्होंने ५२ प्रबन्धों का निर्माण किया। उनमें से 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' और 'सरस्वती स्तोत्र' ये दो ग्रन्थ ही वर्तमान में उपलब्ध हैं।

धनपाल की तिलक मंजरी में भद्रकीर्ति-निर्मित 'तारागण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। भद्रकीर्ति बप्पभट्टि का ही गुरु-प्रदत्त नाम था।

आम राजा और बप्पभट्टि के मैत्री सम्बन्ध मानव जाति के लिए कल्याणकर सिद्ध हुए।

आम के पुत्र का नाम दुन्दुक था। आम के स्वर्गवास के बाद दुन्दुक ने राज-सिंहासन ग्रहण किया। बप्पभट्टि को दुन्दुक के द्वारा पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। दुन्दुक के पुत्र का नाम भोज था। पंडितों ने बताया—"दुन्दुक को मारकर भोज राजसिंहासन ग्रहण करेगा।" दुन्दुक ने बालक भोज को मारना चाहा। संयोगवश इस बात की सूचना भोज की माता को मिल गयी थी। उसने उसे ननिहाल भेज दिया था। कुछ समय के बाद दुन्दुक ने राजपुरुषों के साथ आचार्य बप्पभट्टि को वहां से प्रेषित किया और कहा, "भोज को लेकर आये।" राजा के आदेश से बप्पभट्टि चले। मार्ग में उन्होंने सोचा—यह महान् संकट का कार्य है। भोज के द्वारा दुन्दुक की

मृत्यु निश्चित है अत भोज मेरे साथ आए या न आए, मैं दोनो ओर से सुरक्षित नहीं हू। भोज के न आने पर राजा दुन्दुक मेरे पर क्रुद्ध होगा। उसके आने पर दुन्दुक का असमय प्राणान्त होगा। मेरा हित किसी प्रकार से निरापद नही है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी की धार। मेरा आयुष्य भी दो दिन का अवशिष्ट रहा है। कार्य के परिणाम का गम्भीरता से चिन्तन कर वप्पभट्टि ने अनशन स्वीकार कर लिया। नन्न सूरि, गोविन्द सूरि आदि श्रमणो के लिए उन्होने हित की कामना की। सबको अनित्य भावना का उपदेश दिया।[९] महाव्रतो मे जाने-अनजाने लगे दोषो की आलोचना की।[१०] वे अदीन भाव से ८९ वर्ष तक सयम पर्याय का पालन कर वी० नि० १३६५ (वि० ८९५) श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन स्वाति नक्षत्र मे ९५ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गवासी बने।[११]

आचार्य वप्पभट्टि पार्श्वपत्यानुयायी आचार्य रत्नप्रभ के समकालीन थे। इस समय ओसवाल जाति का अभ्युदय हुआ था। आचार्य रत्नप्रभ के चामत्कारिक प्रयोगो से एव उपदेशो से प्रभावित होकर 'ओसिया' नगरी के निवासी क्षत्रिय परिवारो ने सामूहिक रूप से जैन दीक्षा ग्रहण की और वे ओसवाल कहलाए। कई इतिहासकारो के अभिमत से ओसवाल जाति का अभ्युदय वी० नि० १३वी (वि० की ९वी) शताब्दी के बाद हुआ है। आचार्य वप्पभट्टि का स्वर्गवास इससे कुछ वर्ष पूर्व हो गया था।

आचार्य वप्पभट्टि अपने युग के वरिष्ठ विद्वान थे। आचार्य रत्नप्रभ की भाति सामूहिक जैनीकरण का कार्य उन्होने नही किया था, पर जैन शासन की श्रीवृद्धि मे उनके प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हुए हैं। वप्पभट्टि के गुणानुवाद मे निम्नोक्त श्लोक विश्रुत है

वप्पभट्टिर्भद्रकीर्तिर्वादिकुजरकेसरी।
ब्रह्मचारी गजवरो राजपूजित इत्यपि ॥७६६॥ (प्रभा० चरित, पृ० ११०)

आधार-स्थल

१ पड्वपस्य व्रत चेकादशे वर्षे च सूरिता ॥७४०॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १०९)

२ विक्रमत शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् वप्पभट्टिगुरो ॥७३९॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १०९)

३ श्री सिद्धसेननामा सूरीश्वरो रात्रावात्मारामरतो योगनिद्रया स्थित सन् स्वप्न ददर्श। यथा केसरिकिशोरको देवग्रहोपरि क्रीडति।
(प्रबधकोश, पत्राक २६)

१४. उदात्त चिन्तक आचार्य उद्योतन (दाक्षिण्यांक)

कुवलयमाला के रचनाकार आचार्य उद्योत्तन दाक्षिण्याक के नाम से भी प्रसिद्ध है। आचार्य उद्योतन की पूर्व परपरा मे आचार्य हरिगुप्त थे। वे सुप्रसिद्ध तोरमाण राजा के गुरु थे। हरिगुप्त के शिष्य देवगुप्त और उनके शिष्य यक्षदत्त थे। यक्षदत्त के कई शिष्य थे। उनमे एक नाम तत्त्वाचार्य का भी था। ये तत्त्वाचार्य ही कुवलय-माला के कर्त्ता उद्योतन आचार्य के गुरु थे।

आचार्य उद्योतन ने वीरभद्र सूरि से सैद्धान्तिक ज्ञान की शिक्षा पाई एव विद्वान् आचार्य हरिभद्र से तर्कशास्त्र पढा।

कुवलयमाला उनकी चम्पू शैली मे निर्मित प्राकृत कथा है। गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना है। पैशाची, अपभ्रश एव सस्कृत के प्रयोगो ने इस कथा को रोचकता प्रदान की है।

विविध अलकारो की सयोजना से मडित, प्रहेलिका एव सुभाषितो की सामग्री से पूर्ण, मार्मिक प्रश्नोत्तरो से सुसज्जित एव नाना प्रकार की वणिक् वोलियो के माध्यम से मधुर रस का पान कराती हुई यह कथा पाठक के मन को मुग्ध कर देने वाली है।

वाण की कादम्वरी, त्रिविक्रम की दमयती कथा और प्रकाड विद्वान् आचार्य हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' का अनुगमन करती हुई ग्रथ की रचना शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। अनेक देशी शव्दो के प्रयोग भी इस कृति मे है।

कृति का आद्योपात अध्ययन आचार्य उद्योतन के विशाल ज्ञान की सूचना देता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि के दु खद परिणाम वताने के लिए लेखक ने लघु किन्तु सरस कथाओ का व्यवहार कर इस कृति मे मधुबिंदु रस जैसा आकर्षण भर दिया है।

जवालिपुर (जालोर मे) इस ग्रथ को लिखकर लेखक ने सम्पन्न किया था। यह स्थान जोधपुर के दक्षिण मे है। आचार्य उद्योतन के उदात्त चिंतन का प्रतिबिंव इस कृति मे प्राप्त होता है।

इस ग्रथ का रचना-काल वी० नि० १३०६ (वि० स० ८३६) है। इस प्रमाण के आधार पर उदात्त चिंतक आचार्य उद्योतन का समय विक्रम की नौवी शताब्दी एव वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी सिद्ध होता है। वडगच्छ के सस्थापक उद्योतन सूरि से प्रस्तुत उद्योतन सूरि सौ साल से भी अधिक पूर्व के है।

१५. विश्रुत व्यक्तित्व आचार्य वीरसेन

आचार्य वीरसेन दिगम्बर परपरा के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य थे। वे आर्य नन्दी के शिष्य थे। ज्योतिष, व्याकरण, प्रमाणशास्त्र एव छदशास्त्र का उन्हे प्रकृष्ट ज्ञान था। उनकी सर्वतोगामिनी प्रज्ञा के आधार पर विद्वानो को उनमे सर्वज्ञ जैसा आभास होता था।

दिगम्बर परपरा का षट्खण्डागम ग्रथ गूढार्थ एव दुरूह है। इस ग्रथ पर आचार्य वीरसेन ने प्राकृत-सस्कृत-मिश्रित ७२ सहस्र श्लोक परिमाण धवला नामक टीका लिखी है। षट्खण्डागम ग्रथ पर जितनी टीकाए लिखी गई हैं उनमे यह टीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। धवला प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रथ वाटग्रामपुर मे वी० नि० १३४३ (वि० स० ८७३) में सपन्न हुआ था। इस ग्रथ मे आचार्य उमास्वाति पूज्यपाद आदि अनेक श्वेताम्बर-दिगम्बर विद्वानो के ग्रथो का उल्लेख है। इससे आचार्य वीरसेन के व्यापक ज्ञान की सूचना मिलती है।

आचार्य वीरसेन ने 'कषाय पाहुड' ग्रथ पर जय धवला नाम की टीका लिखी थी। इस टीका की रचना बीस सहस्र श्लोक परिमाण ही वे कर पाए थे। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सपन्न होने से पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया।

ये दोनो टीकाए विविध सामग्री से परिपूर्ण एव पाठको के लिए ज्ञानवर्द्धक है।

आचार्य वीरसेन का सिद्धात भूपद्धति टीका ग्रथ वर्तमान मे अनुपलब्ध है।

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम के समय मे वीरसेन ने इन टीकाओ का निर्माण किया था। अमोघवर्ष का नाम धवल और अतिशय धवल भी था। इन नामो के आधार पर ही सभवत वीरसेन ने अपनी टीकाओ का नाम धवला और जय धवला रखा।

अपने युग के विश्रुत विद्वान् दिगम्बर ग्रथो के महान् व्याख्याकार आचार्य वीरसेन का समय उनकी टीका प्रशस्ति मे प्राप्त उल्लेखानुसार वी०नि० की १४वी (विक्रम ९वी) सदी प्रमाणित है।

१६. जिनवाणी सगायक आचार्य जिनसेन

दिगम्बर ग्रन्थो के व्याख्याकार आचार्यो मे एक नाम आचार्य जिनसेन का भी है। आचार्य जिनसेन वीरसेन के सुयोग्य शिष्य एव सफल उत्तराधिकारी थे। वे सिद्धान्तो के प्रकृष्ट ज्ञाता तथा कविमेधा से सम्पन्न थे। कर्णवेध सस्कार होने से पूर्व ही उन्होने मुनिधर्म स्वीकार कर लिया था। सरस्वती की उन पर अपार कृपा थी। विनय-नम्रता के गुणो से उनकी विद्या विशेष रूप से शोभायमान थी। गुणभद्र भदन्त की दृष्टि मे हिमालय से गगा, उदयाचल से भास्कर की भाति वीरसेन से जिनसेन का उदय हुआ था।

आचार्य वीरसेन की प्रारभ की हुई जयधवला टीका-कार्य को आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया था। जयधवला टीका आचार्य गुणभद्र के रचित कपाय प्राभृत ग्रथ की विशिष्ट व्याख्या है। दिगम्बर साहित्य मे विविध सामग्री से परिपूर्ण साठ हजार श्लोक परिमाण इस ग्रथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य वीरसेन ने इस ग्रथ के वीस हजार श्लोक रचे, अवशिष्ट चालीस हजार श्लोको की रचना आचार्य जिनसेन की है।

मेघदूत काव्य के आधार पर 'मदाक्राता वृत्त' मे आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्यु-दय काव्य की रचना की। यह सस्कृत भाषा मे निवद्ध उत्तम खडकाव्य है।

आचार्य जिनसेन की ऐतिहासिक रचना महापुराण नामक ग्रथ है। इस ग्रथ का प्रारभ आचार्य जिनसेन ने किया पर वे इसे पूर्ण नही कर पाए। अपने गुरु वीरसेन की भाति उनका स्वर्गवास रचना पूर्ण होने से पहले ही हो गया था। उनकी अवशिष्ट रचना को शिष्य गुणभद्र ने पूर्ण किया था। इस महापुराण गथ के दो भाग हैं—आदिपुराण और उत्तरपुराण।

आदि पुराण सूक्त रत्नो से समलकृत महाकाव्य भी है। इसके ४७ पर्व और वारह सहस्र श्लोक है। इनमे १०३८० श्लोको के कर्त्ता आचार्य जिनसेन है।

आचार्य गुणभद्र ने आदि पुराण के शेष १६२० श्लोको की एव उत्तरपुराण के अस्सी सहस्र श्लोक की रचना की थी।

आदिनाथ तीर्थकर ऋषभ का जीवन-चरित्र आदिपुराण मे तथा अवशिष्ट तीर्थ का जीवन-चरित्र उत्तरपुराण मे है।

राष्ट्रकूट वंश का जैन धर्म से घनिष्ठ सबध था। नरेश अमोघवर्ष प्रथम इस वश के महान् प्रतापी शासक थे। आचार्य जिनसेन के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का उन पर अतिशय प्रभाव था।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका मे अमोघवर्ष को आदिपुराण के कर्त्ता जिनसेन के चरणो की पूजा करने वाला बतलाया गया है। यह कृति स्वय अमोघवर्ष की ही है।

जिनसेन जिनवाणी के कुशल सगायक आचार्य थे। जयधवला टीका की ई० स० ८३७ मे रचना की थी। इस आधार पर उनका कालमान वी० नि० १३६४ (वि० ८६४) है।

१७. वाङ्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द

दिगम्बर परम्परा के प्रभावी आचार्य विद्यानन्द विद्या के समुद्र थे। विविध विषयो मे उनका ज्ञान अगाध था। वे उच्चकोटि के साहित्यकार, प्रामाणिक व्याख्याता, अप्रतिहतवादी, गम्भीर दार्शनिक, प्रकृष्ट सैद्धान्तिक, उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, जिनशासन के अनन्य भक्त थे। अधिक क्या ? अपने युग के वे अद्वितीय विद्वान् थे।

विद्यानन्द नाम के कई आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत सदर्भ तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक एव आत्मपरीक्षा आदि परिक्षान्त ग्रन्थो के निर्माता आचार्य विद्यानन्द से सम्बन्धित है।

वाड्मय-वारिधि आचार्य विद्यानन्द की जीवन-परिचायिका सामग्री नही के बराबर उपलब्ध है। उनके माता-पिता, परिवार, कुल, जन्मभूमि आदि का कोई उल्लेख साहित्यधारा मे आज प्राप्त नही है और न दीक्षा-गुरु, दीक्षा-स्थान और दीक्षाकाल के सकेत ही मिलते है।

जैन दर्शन की भाति वैदिक दर्शन पर अगाध पाडित्य के आधार पर उनके ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने की सभावना शोधविद्वानो ने की है। उभय दर्शनो की पारगामिता मैसूर प्रान्त मे उनके उत्पन्न होने की प्रतीति कराता है, जो जैन और ब्राह्मण दोनो सस्कृतियो का केन्द्र रहा है। आचार्य विद्यानद की विशाल साहित्य-निधि को देखकर विद्वानो ने उनके अविवाहित रहने का अनुमान किया है। उनके अभिमत से अखड ब्रह्मतेज के बिना इस प्रकार का साहित्य रचना सभव नही लगता। धवला, जयधवला टीका के निर्माता वीरसेन एव जिनसेन आचार्य भी अखड ब्रह्मचारी थे।

आचार्य विद्यानन्द की साहित्य-साधना अनुपम है। उन्होने नौ ग्रथ लिखे। उनमे छह स्वतत्र रचनाए और तीन टीका ग्रथ है। उनकी कृतियो के नाम इस प्रकार है—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्ट सहस्री, देवागमालकार, युक्त्यनुशासनालकार, विद्यानन्द महोदय, आप्त परीक्षा, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, सत्य शासन परीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र।

इन ९ ग्रथो मे प्रथम ३ टीका ग्रथ है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

यह टीका आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर है। इस ग्रथ का परिमाण १८००० श्लोक है। यह टीका आचार्य विद्यानन्द की परिमार्जित एव प्रसन्न रचना है। इसमे लेखक का अगाध पाडित्य प्रतिबिम्बित है। आचार्य अकलक की राजवार्तिक मे जो गहराई न उभर पाई वह इसमे उभरी है। इस कृति से उनके महान् सैद्धान्तिक ज्ञान का परिचय मिलता है। इसकी शैली मीमासक मेधावी कुमारिल भट्ट की शैली से प्रतिस्पर्धा करती हुई प्रतीत होती है। इस ग्रथ के नामकरण मे भी कुमारिल भट्ट के 'मीमासक श्लोक वार्तिक' ग्रथ की प्रतिच्छाया है।

अष्ट सहस्री

यह रचना आचार्य समतभद्र की आप्त मीमासा पर है। यथार्थ मे आप्त मीमासा पर निर्मित आचार्य अकलक की टीका की टीका है। अष्टशती के प्रत्येक पद्य की व्याख्या इस कृति मे स्पष्टता से हुई है। अष्टसहस्री टीका आठ सहस्र श्लोक परिमाण है। यह तथ्य इसके नामकरण से भी स्पष्ट है। इस कृति को पढने से तीनो ग्रथो की (आप्त मीमासा, अष्टशती, अष्टसहस्री) का एकसाथ स्वाध्याय हो जाता है। इस ग्रथ की रचना कर आचार्य विद्यानन्द ने आचार्य अकलक भट्ट के गूढ ग्रथ को समझने का मार्ग सुगम किया है। आचार्य अकलक को चमकाने का काम आचार्य विद्यानन्द ने किया है। अत कतिपय विद्वानो मे आचार्य विद्यानन्द को आचार्य अकलक का शिष्य मान लेने मे भ्रान्ति भी हो गई थी।

युक्त्यनुशासनालकार

यह ग्रथ आचार्य समतभद्र स्वामी का स्तुति-प्रधान ग्रथ है। इसके ६४ पद्य है। प्रत्येक पद्य अत्यत गूढ है। आचार्य विद्यानन्द की 'युक्त्यनुशासनालकार' की टीका की रचना इसी ग्रथ पर हुई है। यह टीका युक्त्यनुशासन जैसे दुरूह ग्रथ मे प्रवेश पाने का राजपथ है। आप्त परीक्षा और प्रमाण परीक्षा मे युक्त्यनुशासनालकार का उल्लेख है।

विद्यानन्द महोदय

यह विद्यानन्द की सर्वप्रथम रचना है जो आज उपलब्ध नही है। श्लोकवार्तिक आदि टीकाओ मे इस ग्रन्थ का अनेक स्थानो पर उल्लेख है।

आप्त परीक्षा

इस ग्रथ मे १२४ कारिकाए है। इसमे सर्वज्ञ के स्वरूप का विवेचन है। ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म के स्वरूप का युक्तिपूर्ण निरसन भी है।

प्रमाण परीक्षा

यह प्रमाण विषयक कृति है। प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि के भेद-प्रभेदो का वर्णन इसमें प्राप्त है और 'आप्त परीक्षा' कृति का उल्लेख भी है। इससे इस कृति की रचना 'आप्त परीक्षा' के बाद हुई प्रमाणित होती है।

पत्र परीक्षा एव सत्यशासन परीक्षा

पत्र परीक्षा आचार्य विद्यानन्द की लघु रचना है। सत्य शासन परीक्षा बहुत लम्बे समय तक अप्राप्य रही है, यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना है।

श्री पुरपार्श्व स्तोत्र

इस ग्रथ की रचना देवागम की शैली मे हुई है, अत इन दोनो कृतियो के श्लोको का परस्पर साम्य भी है।

आचार्य विद्यानन्द परीक्षा-परायण थे। उन्होने परीक्षान्त कृतियो मे जैन दर्शन के तत्त्वो को भी युक्ति-निकष पर परीक्षापूर्वक युग के सामने प्रस्तुत किया है।

आचार्य विद्यानन्द की सूक्ष्म प्रज्ञा समग्र भारतीय दर्शनो के उपवन मे विहरण कर प्रौढता प्राप्त कर चुकी थी। अत उनकी कृतियो मे विविध दर्शनो के अध्ययन का आनन्द एकसाथ सहज ही प्राप्त हो जाता है।

आचार्य समतभद्र का देवागम, अकलक देव की अष्टशती, आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र, आचार्य विद्यानन्द की रुचि के ग्रथ थे। अत इन तीनो पर उन्होने टीका साहित्य लिखा है।

आचार्य विद्यानन्द के साहित्य को पढने से लगता है उन पर आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन, समतभद्र स्वामी, पात्र स्वामी, भट्ट अकलक देव और कुमार नन्दी भट्टारक आदि विद्वानो का प्रभाव था।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रथो मे जो गभीरता पाई जाती है उसका कारण है कि उन्हे अपने पूर्ववर्ती जैन ग्रथकारो की साहित्यनिधि से पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकी थी।

आचार्य विद्यानन्द ने अपने ग्रन्थो मे मीमासक विद्वान् जैमिनी शबर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, कणाद दर्शन के विद्वान् व्योमशिवाचार्य, नैयायिक विद्वान् उद्योतकर आदि के ग्रन्थो का समालोचन जिस कुशलता से अपने ग्रथो मे किया है उसी कुशलता से बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर आदि का भी अष्ट सहस्री प्रमाण परीक्षा आदि ग्रन्थो मे सम्यक् निरसन किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक दर्शन की तरह बौद्ध दर्शन के भी वे गम्भीर पाठी थे।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रथो से प्रभावित होने वाले आचार्यो मे आचार्य माणिक्यनन्दी, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, अभिनव धर्म भूषण और

उपाध्याय यशोविजय जी आदि प्रमुख है।

आचार्य विद्यानन्द का कार्य क्षेत्र गगवश था। उन्होने अपनी ग्रथ रचना गग-नरेश शिवमार द्वितीय एव राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समय मे की थी।

शक सवत् १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख मे नदी सघ के साथ आचार्य विद्यानन्द का नाम है। इस आधार से आचार्य विद्यानन्द का नदी सघ मे दीक्षित होना सभव है।

आचार्य विद्यानन्द ने अपनी कृतियो मे कही समय का सकेत नही दिया है। विविध शोधो के आधार पर आचार्य विद्यानन्द का समय ई० स० ७७५ से ८४० तक निर्धारित हुआ है। इस आधार पर आचार्य विद्यानन्द वीर निर्वाण १३०२ से १३६७ (वि० स० ८३२ से ८८७) तक के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

१८. अध्यात्मनाद आचार्य अमृतचन्द्र

तत्त्वार्थसार—उमास्वाति 'तत्त्वार्थ सूत्र' की हृदयग्राही पद्य रचना है। 'पुरुषार्थ सिद्‌ध्युपाय' उनकी श्रावकाचार विषयक सर्वथा स्वतन्त्र एवं मौलिक कृति है।

आचार्य अमृतचन्द्र को जैनागम का अगाध ज्ञान था। विद्वान् होने के साथ-साथ वे अध्यात्म के मूर्त रूप भी थे। उनकी हर एक रचना में अध्यात्म का निर्झर छलकता और हर एक वाक्य अध्यात्म रस में संसिक्त होकर रचना के साथ संपुटित होता।

गम्भीर आध्यात्मिकता की अनुभूति कराता हुआ उनका साहित्य उच्चतम काव्यशक्ति का परिचायक है। समन्दर्भ निश्चय और व्यवहार को निरूपण करने की उनकी क्षमता उनके साहित्य-पाठक को आत्मविभोर किए बिना नहीं रहती।

महामनीषी आचार्य अमृतचन्द्र को अपनी प्रखर प्रतिभा का जरा भी गर्व

नही था। उनके ग्रथो का अत्यन्त सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर भी कही और किसी शब्द मे उनके अपने अह-प्रदर्शन की झलक तक नही मिलती।

अपनी साहित्यिक रचनाओ के विषय मे अपना परिचय भी उन्होने विलक्षण ढग से दिया है। वे लिखते हैं

वर्णै कृतानि चित्रै पदानि तु पदै कृतानि वाक्यानि।
वाक्यै कृत पवित्र शास्त्रमिद न पुनरस्माभि ॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

—तरह-तरह के वर्णो से पद वन गए, पदो से वाक्य वन गए और वाक्यो से यह पवित्र शास्त्र वन गया। मैंने इसमे कुछ नही किया।

महान् विद्वान् आचार्य अमृतचन्द्र का यह निगर्वी व्यवहार उनकी उच्चतम महत्ता का वोध कराता है।

अध्यात्मनाद आचार्य अमृतचन्द्र वी० नि० १५वी (वि० १०वी) शताब्दी के विद्वान् थे।

१९. सिद्धि-सोपान आचार्य सिद्धर्षि

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य सिद्धर्षि वज्र स्वामी की परपरा के थे। वज्र स्वामी के शिष्य वज्रसेन थे। वज्रसेन के चार शिष्य थे। उनमे द्वितीय शिष्य निर्वृत्ति से 'निर्वृत्तिगच्छ' की स्थापना हुई। इसी निर्वृत्तिगच्छ मे सूराचार्य हुए है। आचार्य गर्गर्षि सूराचार्य के शिष्य थे और सिद्धर्षि के दीक्षागुरु थे।

सिद्धर्षि गुजरात के श्रीमालपुर के थे। उनके पिता का नाम शुभकर और माता का नाम लक्ष्मी था। उनके दादा का नाम सुप्रभ देव था। सुप्रभ देव गुजरात के श्री वर्मलात नामक राजा के मत्री थे। मत्री सुप्रभ देव के दो पुत्र थे—दत्त और शुभकर। दत्त के पुत्र का नाम माघ था। शिशुपाल आदि उत्कृष्ट काव्यो की रचनाओ से माघ की प्रसिद्धि कवि के रूप मे हुई।[1] शुभकर के पुत्र सिद्धर्षि श्रमण भूमिका मे प्रविष्ट हुए और जैन तथा बौद्ध दर्शन का गभीर अध्ययन कर वे प्रकाड विद्वान् बने। श्रमण-भूमिका मे प्रवेश पाने मे प्रमुख निमित्त उनकी सुदृढ अनुशासिका माता थी।

सिद्धर्षि के जीवन मे औदार्य आदि अनेक गुण विकासमान थे पर उन्हे द्यूत खेलने का नशा था। माता-पिता, बधु एव मित्रो द्वारा मार्ग-दर्शन देने पर भी उनसे द्यूत का परित्याग न हो सका।[2] दिन-प्रतिदिन उनके जीवन मे द्यूत का नशा गहरा होता गया। हर क्षण उन्हे यही चिंतन रहता। वे प्राय अर्ध-रात्रि का अतिक्रमण कर लौटते। उनकी पत्नी को प्रतीक्षा मे रात्रि-जागरण करना पडता। पति की इस आदत से पत्नी खिन्न रहती थी। एक दिन सास ने वधू को उदासी का कारण पूछा। लज्जावनत वधू ने पति के द्यूत व्यसन की तथा निशा मे विलब से आगमन की बात स्पष्ट बता दी। सास बोली—"विनयिनी! तुमने मुझे इतने दिन तक क्यो नही बताया? मैं पुत्र को मीठे-कड्ए वचनो से प्रशिक्षण देकर सही मार्ग पर ले आती। तुम निशा मे निश्चित होकर नीद लेना, रात्रि का जागरण मैं करूगी।" सास के कथन से वधू सो गयी और पुत्रागमन की प्रतीक्षा मे लक्ष्मी बैठी थी। यामिनी के पश्चिम याम मे पुत्र ने द्वार खटखटाया। माता लक्ष्मी क्रुद्ध होकर बोली—"काल-विकाल मे भटकने वाले पुत्र सिद्ध को मै कुछ भी नही समझती। अनुचित विहारी एव मर्यादातिक्रात के लिए मेरे घर मे कोई स्थान नही है। तुम्हे जहा

अनावृत द्वार मिले वही चले जाओ।" सिद्धर्षि तत्काल उल्टे पाव लौटे। धर्म स्थान के द्वार खुले थे। वे वही पहुच गए। वहा गोदोहिकासन, उत्कटिकासन, वीरासन, पद्मासन आदि मुद्रा मे स्थित स्वाध्याय-ध्यानरत मुनि जनो को देखा। उनकी सौम्य मुद्रा के दर्शनमात्र से व्यसनासक्त सिद्धर्षि का मन परिवर्तित हो गया। सोचा—'मेरे जन्म को धिक्कार है। मैं दुर्गतिदायक जीवन जी रहा हू। आज सौभाग्य से सुकृत वेला आई, उत्तम श्रमणो के दर्शन हुए। मेरी मा प्रकुपित होकर भी परम उपकारिणी बनी है। उनके योग से मुझे यह महान् लाभ मिला। उष्ण क्षीर का पान पित्तप्रणाशक होता है।'[१] शुभ्र अध्यवसायो मे लीन सिद्धर्षि ने उच्च स्वरो से मुनिजनो को नमस्कार किया। गुरुजनो के द्वारा परिचय पूछे जाने पर उन्होने द्यूत व्यसन से लेकर जीवन का समग्र वृत्तात सुनाया और निवेदन किया—"जो कुछ मेरे जीवन मे घटित होना था, हो गया। अब मैं धर्म की शरण ग्रहण कर आपके परिपार्श्व मे रहना चाहता हू। नौका के प्राप्त हो जाने पर कौन व्यक्ति समुद्र को पार करने की कामना नही करेगा।"[२] गुरु ने सिद्धर्षि को ध्यान से देखा। ज्ञानोपयोग से जाना—यह जैनशासन का प्रभावक होगा। उन्होने मुनिचर्या का बोध देते हुए कहा—"सिद्ध! सयम स्वीकृत किए बिना हमारे साथ कैसे रहा जा सकता है? तुम्हारे जैसे स्वेच्छाविहारी व्यक्ति के लिए यह जीवन कठिन है। मुनिव्रत असिधारा है। घोर ब्रह्मव्रत का पालन, सामुदानिकी माधुकरी वृत्ति से आहार ग्रहण, षट् भक्त, अष्ट भक्त तप की आराधना रूप मे कठोर मुनिवृत्ति का पालन लोहमय चनो का मोम के दातो से चर्वण करना है।"

सिद्ध ने कहा—"मेरे इस व्यसनपूर्ण जीवन से साधु जीवन सुखकर है।" दीक्षा जीवन की स्वीकृति मे पिता की आज्ञा आवश्यक थी। सयोगवश सिद्ध के पिता शुभकर पुत्र को ढूढते इतस्तत घूमते वहा पहुच गए। पुत्र को देखकर प्रसन्न हुए। पुत्र सिद्ध को घर चलने के लिए कहा। पिता के द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी सिद्ध ने दीक्षा लेने का निर्णय नही बदला। पुत्र के दृढ सकल्प के सामने पिता को झुकना पडा। सिद्ध पिता से आज्ञा पाकर गर्गर्षि के पास मुनि-जीवन मे प्रविष्ट हुए।

पुरातन प्रबध सग्रह के अनुसार श्री मालपुर के दत्त एव शुभकर दो भाई थे। उनका गोत्र भी श्रीमाल था। उनके बडे भाई दत्त का नाम माघ एव शुभकर के पुत्र का नाम सीधाक था। सीधाक बाल्यकाल से द्यूत-व्यसनी हो गया। कभी-कभी वह द्यूत मे हार जाने पर अपने ही घर मे चोरी कर लिया करता था। पिता की सपत्ति से वह प्रच्छन्न द्रव्य खीचने लगा था। इससे पारिवारिक सदस्य सीधाक से अप्रसन्न रहने लगे थे। जुए मे हार जाने पर पाच सौ द्रमक अथवा उनके बदले अपना मस्तक दे देने के लिए वचनबद्ध होकर एक दिन सीधाक ने जुआ खेला था।[१] सयोग की बात थी उस दिन भाग्य ने सीधाक का साथ नही दिया वह द्यूत मे हार गया।

उसके लिए पाच सौ द्रमक देने की वात कठिन हो गयी। निशा मे वह जुआरियो के मध्य सोया था। कपाट वन्द थे। द्वार से निकल भागने का कोई रास्ता नही था। सीधाक अर्ध-रात्रि के आसपास उठा एव प्रासाद-भित्ति से छलाग लगाकर कूद गया। गहन अधकार के वाद उषा का उदय होता है। द्यूत मे हार जाने के कारण सीधाक गहरे दु ख मे था। मौत सर पर नाच रही थी। भाग्य मे सीधाक के भित्ति से कूदते हुए ही भाग्य पलट गया, भवन के पार्श्ववर्ती उपाश्रय मे वह पहुच गया। तीव्र धमाके से श्रमणो की नीद टूटी। उन्होने सामने खडे व्यक्ति को देखकर पूछा, "तुम कौन हो ?"

सीधाक ने अपना नाम बताया और वह वोला, "आपके पास कुछ दातव्य है।" गुरु ने 'तथ्यम्' कहकर सीधाक को स्वीकृति प्रदान की। सीधाक भय की मुद्रा मे वोला, "मुझे अल्प समय के लिए भी दीक्षा प्रदान करें।"

गुरु नक्षत्र एव निमित्त ज्ञान के विशेष ज्ञाता थे। उस समय शुभ नक्षत्र का योग था। इस वेला मे दीक्षित होने वाला व्यक्ति अत्यन्त प्रभावक होगा, यह सोच श्रमणो ने 'सीधाक' को दीक्षित कर लिया। प्रात काल होते ही उपासक 'सीधाक' को मुनि रूप मे देखकर वोले—"आर्य ! विना योग्यता के भी जैसे-तैसे व्यक्ति को दीक्षित कर लेते हैं। आपके शासन परिवार मे योग्य व्यक्तियो की कमी हो गयी है ? मुनि परिवार छोटा हो गया है ?" 'सीधाक' के दीक्षागुरु गभीर आचार्य थे। उन्होने कोई उत्तर नही दिया। मुनि 'सीधाक' के पास मे ही उपदेशमाला ग्रथ रखा हुआ था। मुनि सीधाक ने उसे पढना प्रारम्भ कर दिया। शीघ्रग्राही प्रतिभा के कारण ग्रथ के मुख्य स्थल उसे ज्ञात हो गए। उसकी शीघ्रग्राही प्रतिभा को देखकर गुरु प्रसन्न थे।

सीधाक की खोज करते-करते द्यूतकार धर्मस्थान पर पहुचे। वे उससे ५०० द्रमक लेने की कामना से आए थे। उन्होने श्रमणो से कहा—"वे 'सीधाक' को छोड दे।" श्रावक वर्ग 'सीधाक' के वदले ५०० द्रमक देने को प्रस्तुत हुआ।

द्यूतकार बोले—"आप लोगो ने इस पर विश्वास कैसे कर लिया है ? इसने हमे धोखा दिया है, इसी प्रकार आपको भी दे सकता है।" श्रावक वर्ग ने धैर्य से उत्तर दिया, "यह ५०० द्रमक के वदले व्यसनमुक्त वनता है, यह अच्छा कार्य है।" द्यूतकारो के भी श्रावको की वात समझ मे आ गयी। सीधाक को श्रमण-धर्म मे प्रविष्ट जान ५०० द्रमक लिए विना ही उसे छोड वहा से चले गए।

प्रवधकोश के अनुसार श्री मालपुर के धनी श्रेष्ठी जैन उपासक ने द्यूत-व्यसनी युवा सिद्धार्थ के ऋण को चुकाकर उसे द्यूतकारो की मडली से मुक्त किया। घर ले जाकर भोजन करवाया, पढा-लिखाकर उसे सव तरह से योग्य वनाया और उसका विवाह भी किया।

वालक सिद्ध के पिता नही थे। माता के सरक्षण का दायित्व उस पर ही था।

सिद्धर्षि को समझाने मे पुन -पुन प्रयास नही करना पडा था। वे एक ही बार मे सफल हो गए थे। बौद्ध भिक्षु की मुद्रा मे सिद्धर्षि को अपने सामने उपस्थित देखकर उन्होने कहा—"कोई बात नही, तुम बौद्ध भिक्षु बन चुके हो। थोडी देर के लिए रुको, इस ग्रथ को पढो। मैं अभी बाहर जाकर आता हू। ग्रथ को पढते ही सिद्धर्षि के विचार परिवर्तित हो गए।" गर्गर्षि के आने पर वे उनके चरणो मे झुके और अपनी भूल पर अनुताप करते हुए बोले—"मैं हरिभद्र को नमस्कार करता हू जिनकी कृति ने मेरे मानस की कालिख को धो डाला है। यह ग्रथ ललित (ललित विस्तरा वृत्ति) मेरे हेतु सूर्य की भाति पथ-प्रकाशक सिद्ध हुआ है।" सिद्धर्षि के परिवर्तित विचारो से गर्गर्षि प्रसन्न हुए। उन्होने तत्काल जैन दीक्षा प्रदान कर आचार्य पद पर उन्हे नियुक्त कर दिया।

सिद्धर्षि को हरिभद्र के ग्रथ से बोध प्राप्त हुआ, अत उन्होने हरिभद्र को अपना महा उपकारी माना है। उनकी भावना का प्रतिबिम्ब निम्नोक्त श्लोक से स्पष्ट है

महोपकारी स श्रीमान् हरिभद्रप्रभुर्यत ।
मदर्थमेव येनासौ ग्रन्थोऽपि निरमाप्यत ॥१२९॥
(प्रभावक चरित, पृ० १२५)

आचार्य सिद्धर्षि ने अपने ग्रथो मे आचार्य हरिभद्र का पुन -पुन गौरव के साथ स्मरण किया है। उनका नमस्कार विषयक प्रभावक चरित्र का श्लोक है

विष विनीर्धूय कुवासनामय व्यचीचरद् य कृपया मदाशये ।
अचिन्त्य वीर्येण सुवासना सुधा नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥१३२॥

आचार्य हरिभद्र सूरि को नमस्कार है। उन्होने विशेष अनुकम्पा कर मेरे हृदय मे प्रविष्ट कुवासना-विष का प्रणाश किया और सुवासना सुधा का निर्माण किया है। यह उनकी अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है।

आचार्य पदारोहण के बाद आचार्य सिद्धर्षि ने गुजरात के विभिन्न क्षेत्रो मे विहरण कर धर्म की गगा प्रवाहित की।

वे धर्म, दर्शन, अध्यात्म के महान् व्याख्याकार, सिद्धहस्त लेखक एव सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होने श्री दिवाकर जी के न्यायावतरण पर और धर्मकीर्ति की उपदेश माला पर अत्युत्तम टीकाए लिखी।

साहित्य-जगत् की सबसे सुन्दर कृति उनकी 'उपमिति भव प्रपच कथा' है। इस कथा रचना मे महान् प्रेरक आचार्य उद्योतन थे।

कुवलयमाला के रचनाकार आचार्य उद्योतन आचार्य सिद्धर्षि के गुरुभ्राता थे। उन्होने एक दिन सिद्धर्षि से कहा, "मुने ! समरस भाव से परिपूर्ण आकण्ठ तृप्तिदायक समरादित्य कथा की कीर्ति सर्वत्र प्रसारित हो रही है। विद्वान् होकर भी तुमने अभी तक किसी ग्रथ का निर्माण नही किया है।"

आचार्य उद्योतन के वचनो से सिद्धर्पि खिन्न हुए और प्रत्युत्तर मे बोले, "सूर्य के सामने खद्योत की क्या गणना है ? महान् विद्वान् हरिभद्र के कवित्व की तुलना मेरे जैसा मन्दमति व्यक्ति कैसे कर सकता है ?"

आचार्य उद्योतन एव महर्षि के बीच वार्तालाप का प्रसग समाप्त हो गया पर गुरुभ्राता के द्वारा कही गयी यह बात आचार्य सिद्धर्पि के लिए मार्गदर्शक बनी। उन्होंने 'उपमिति भव प्रपच' नामक महाकथा की रचना की। यह कथा सुधी जनो के मस्तक को भी विधूनित करने वाली उपशमभाव से परिपूर्ण थी। इसे सुनकर लोग प्रसन्न हुए और धर्म सघ ने उनको 'सिद्ध व्याख्याता' की उपाधि दी।

यह कथाग्रथ भारतीय रूपक ग्रथो मे शिरोमणि ग्रथ माना गया है। इस ग्रथ मे भाषा का लालित्य, शैली-सौष्ठव और उन्मुक्त निर्झर की तरह भावो का अस्खलित प्रवाह है। डा० हर्मन जेकोबी ने इस पर अग्रेजी मे प्रस्तावना लिखी है। ग्रथ-गौरव के विषय मे उनके शब्द हैं

"I did find something still more important The great literary value of the U. Katha and the fact that it is the first allegorical work in Indian Literature '

—मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु उपलब्ध हुई है, वह है 'उपमिति भव प्रपच कथा' जो मूल्यवान साहित्यिक कृति है एव भारतीय साहित्य का यह प्रथम रूपक ग्रथ है।

यह ग्रथ मारवाड के भीनमाल नगर मे ज्येष्ठ शुक्ला पचमी गुरुवार के दिन सम्पन्न हुआ था।

आचार्य सिद्धर्पि के पास विशेष वचन सिद्धि भी थी। उनके मुख से सहजत जो कुछ कह दिया जाता था वह उसी रूप मे फलित हो जाता था, अत उनका सिद्ध नाम सार्थक भी था।

'उपमिति भव प्रपच' कथा का रचना-काल वी० नि० १४३२ (वि० ९६२) है।

उपदेशमाला कृति का रचना-काल वी० नि० १४४४ (वि० ९७४) है।

प्रस्तुत दोनो प्रमाणो के आधार पर आचार्य सिद्धर्पि वीर निर्वाण १५वी (वि० १०वी) सदी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

सयम् श्रीसम्पन्न आचार्य सिद्धर्पि सिद्धि-सदन के सुगम सोपान थे।

आधार-स्थल

१ श्रीमाघोऽस्ताघधी श्लाघ्य प्रशस्य कस्य नाभवत् ।
चित्र जाड्यहरा यस्य काव्यगङ्गोर्मिविप्रुष ।।१७।।

(प्रभा० च०, पृ० १२१)

२ पितृभ्रातृगुरुस्निग्धबन्धुमित्रैर्निवारित ।
अपि नैव न्यवर्तिष्ट दुर्वार व्यसनै र्यत ।।२३।।

(प्रभा० च०, पृ० १२१)

३ अमीषा दर्शनात् कोपिन्यापि सूपकृत मयि ।
जनन्या क्षीरमुत्तप्तमपि पित्त प्रणाशयेत् ।।४७।।

(प्रभा० च०, पृ० १२२)

४ अत प्रभृति पूज्याना चरणौ शरण मम ।
प्राप्ते प्रवहणे को हि निस्तितीर्षति नाम्बुधिम् ।। ५१ ।।

(प्रभा० च०, पृ० १२२)

५ अन्यदा रगमाणेनोक्तम्-द्रम्म ५०० यावत् क्रीडयत्वम् ।'
द्रम्मान् ददामि, शिरो वा ददामि ।

(पुरातन प्र० स०, पृ० १०५)

६, एव वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिरा २१ कृता. ।
एव वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिरा २१ कृता ।

(प्रबन्धकोश, पृ० २५, २६)

७ दिनै कतिपयैर्मासमाने तपसि निर्मिते ।
शुभे लग्ने पञ्चमहाव्रतारोपणपर्वणि ।।८२।।

(प्रभा० च०, पृ० १२३)

८ ग्रन्थ व्याख्यानयोग्य 'यदेन चक्रे ममाश्रयम् ।
अत प्रभृति सङ्घोऽस्य व्याख्यातृ विरुद ददौ ।।६७।।'

(प्रभा० च०, पृ० १२६)

२०. साहित्य-सुधाशु आचार्य शीलाक

निवृत्तिगच्छ के विद्वान आचार्य शीलाक सुविस्तृत टीकाओ के सृजनहार थे। वे मानदेव सूरि के शिष्य थे। उनकी प्रसिद्धि शीलाचार्य और तत्त्वादित्य के नाम से भी है। सस्कृत व प्राकृत दोनो भाषाओ का उनको अधिकृत ज्ञान था। दस सहस्र श्लोक प्रमाण 'चउप्पन्न पुरिस चरिय' उनकी प्राकृत रचना है। इस कृति मे चौवन उत्तम पुरुषो का जीवन-चरित्र अकित है। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरितम्' ग्रन्थ रचना मे इस कृति का सहारा लिया था। इस ग्रन्थ को शीलाक ने वि० ९२५ मे सम्पन्न किया था।

शीलाक की स्फुरितमेधा का दर्शन उनके टीका साहित्य मे होता है। इन्होने प्रथम ग्यारह अगो पर टीकाए लिखीं। उनमे से आचाराग व सूत्रकृताग पर लिखी गई टीकाए ही वर्तमान मे उपलब्ध हैं।

आचाराग टीका बारह हजार श्लोक परिमाण व सूत्रकृताग टीका बारह हजार आठ सौ पचास श्लोक परिमाण है। मूल एव निर्युक्ति पर आधारित इन टीकाओ की महत्ता विषय विवेचन मे है। टीकाकार ने शब्दार्थ करके ही सतोष नही माना अपितु प्रत्येक विषय की विस्तार से चर्चा की है और निर्युक्ति गाथाओ के अर्थ को अच्छी तरह से समझाने का प्रयास किया है। प्राकृत व सस्कृत श्लोको के प्रयोग मे भाषा मे रोचकता भी पैदा हो गयी है।

गन्धहस्तीसूरि की आचाराग व सूत्रकृताग पर लिखी टीका आचार्य शीलाक के सामने थी। यह बात भी प्रस्तुत टीकाओ के पढने से स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य शीलाक ज्ञान-चन्द्रिका को विस्तार देने हेतु साहित्य के निर्मल सुधाशु थे। उन्होने जैनागम पिपासु पाठको के सुबोधार्थ टीकाओ का निर्माण किया था। आचाराग, सूत्रकृताग टीकाओ का परिसमाप्ति-काल शक सम्वत् सात सौ बहत्तर के लगभग माना गया है।

सूत्रकृताग टीका की परिसमाप्ति पर आचार्य शीलाक लिखते हैं "समाप्त-मिद नालन्दाख्य सप्तममध्ययनम्। इति समाप्तेय सूत्रकृतद्वितीयागस्य टीका। कृता चेय शीलाचार्येण वाहरिगणिसहायेन।"

टीका निर्माण मे आचार्य शीलाक को वाहरिगणी का पर्याप्त सहयोग प्राप्त

था। यह वात प्रस्तुत पाठ से प्रमाणित हो जाती है।

टीकाकार आचार्य शीलाक का समय 'चउप्पन्न पुरिस चरिय' ग्रन्थ की मिति सवत् के आधार पर तथा टीका मे प्राप्त टीका-रचना-समाप्तिकाल के अनुसार वी० नि० की १४वी सदी का उत्तरार्द्ध है।

२१. शास्त्रार्थ-निपुण सूराचार्य

श्वेताम्बर परम्परा के शक्तिधर सूराचार्य द्रोणाचार्य के शिष्य थे। वे गुजरात के अणहिल्लपुर के क्षत्रिय थे। उनके पिता का नाम सग्रामसिह था। द्रोणाचार्य और सग्रामसिह दोनो भाई थे। अणहिल्लपुर के महाराज भीम के वे मामा थे। सूराचार्य के गृहस्थ जीवन का नाम महीपाल था।

महीपाल को विविध विद्याओ मे प्रशिक्षित करने का कार्य द्रोणाचार्य ने किया था। एक दिन द्रोणाचार्य ने महीपाल को माता के आदेश से श्रमण दीक्षा प्रदान की और कुछ समय वाद उनकी नियुक्ति गुरु के द्वारा आचार्य पद पर हुई। महीपाल मुनि ही सूराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

एक वार राजा भोज की सभा का सचिव श्लोक लेकर राजा भीम की सभा मे उपस्थित हुआ। सूराचार्य ने उस श्लोक के प्रतिवाद मे नया श्लोक वनाकर राजा भीम को भेंट किया।

राजा भीम ने वही श्लोक राजा भोज के पास प्रेपित किया। राजा भोज विद्वानो का सम्मान करता था। वह भीम राजा द्वारा भेजे गये श्लोक को पढकर प्रसन्न हुआ और श्लोक के रचनाकार को अपनी सभा मे आने के लिए आमन्त्रण भेजा।

सूराचार्य महान् विद्वान् थे। वे अनेक श्रमण विद्यार्थियो को पढाया करते थे और कर्कश स्वरो मे तर्जना दिया करते थे। कभी-कभी काष्ट-दडिका से उन पर प्रहार भी कर देते थे। यह वात द्रोणाचार्य के पास पहुची। उन्होने सूराचार्य को इस कठोर अनुशासनात्मक पद्धति के लिए उपालम्भ भी दिया। सूराचार्य ने कहा, "मैं इनको वाद-कुशल वनाने की दृष्टि से कटु शब्दो मे ताडना देता हू।" द्रोणाचार्य शिक्षार्थी श्रमणो का समर्थन करते हुए वोले, "इनको वाद-कुशल वनाने के लिए पहले तुम स्वय राजा भोज की सभा मे विजयी वनकर आए हो ?"[1]

गुरु की यह वात सूराचार्य के हृदय मे चुभ गयी। उन्होने भोज की सभा मे वाद-जयी वनने से पहले किसी भी प्रकार के सरस आहार (विगय) न लेने की प्रतिज्ञा ले ली।[2] सूराचार्य प्रस्थान की तैयारी कर ही रहे थे, राजा भोज का निमन्त्रण भी आ पहुचा। गुरु का आदेश और महाराजा भीम का आशीर्वाद पाकर

वे वहा से विदा हुए। धारा नगरी मे उनका राजकीय सम्मान के साथ प्रवेश हुआ। राजा भोज ने स्वय सामने आकर उनका गौरव बढाया।

सूराचार्य की काव्य-रचना से राजा भोज पहले ही प्रभावित थे। अब उनकी शास्त्रार्थ कुशलता ने धारा नगरी के अन्य विद्वानो पर भी अपूर्व छाप अकित कर दी।

एक बार राजा भोज ने भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदायो के धर्म गुरुओ को कारागृह मे बन्द कर उन्हे एकमत हो जाने के लिए विवश किया था। इस प्रसग पर धार्मिको के सामने भारी धर्म-सकट उपस्थित हो गया था।

सूराचार्य ने एक युक्ति सोची। राजसभा मे पहुचकर वे बोले, "मैने आपकी धारा नगरी का निरीक्षण किया है। यह नगरी यथार्थ मे ही दर्शनीय है पर इस विषय मे मेरा आपसे निवेदन है कि यहा की सब दुकाने एक हो जाने पर ग्राहको को अधिक सुविधा होगी। उन्हे वस्तुओ का क्रय करने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानो पर पहुचने का कष्ट नही करना पडेगा।"[1]

राजा भोज मुस्करा कर बोले, "सतश्रेष्ठ! सब दुकानो के एक हो जाने की बात कैसे सभव है? एक ही स्थान पर अधिक भीड हो जाने से लोगो के लिए क्रय-विक्रय के कार्य मे अधिक बाधा उपस्थित होगी।"

सूराचार्य ने कहा, "राजन्! भिन्न-भिन्न अभिमत रखने वाले धर्म सम्प्रदायो का एक हो जाना सर्वथा असभव है। दयार्थी जैन-दर्शन, रसार्थी कौल-दर्शन, व्यवहारप्रधान वैदिक-दर्शन एव मुक्ति का कामी निरजन सम्प्रदाय का मतैक्य कैसे हो सकता है?"

युक्तिपुरस्सर कही हुई सूराचार्य की बात राजा भोज के समझ मे आ गयी। उन्होने कारागृह मे बन्द धर्मगुरुओ को मुक्त कर दिया।

विद्वान् राजा भोज के धर्मनिष्ठ, चिन्तनशील व्यक्तित्व के साथ यह प्रसग अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है।

एक बार राजा भोज द्वारा रचित व्याकरण मे भी अशुद्धि का निर्देश कर सूराचार्य ने वहा की विद्वत् सभा का उपहास किया था। इस प्रवृत्ति से राजा भोज कुपित हुए। इस कोप का भयकर परिणाम सूराचार्य को भोगना पडता पर [illegible] धनपाल ने बीच मे आकर उन्हे बचा लिया और प्रच्छन्न रूप से [illegible] विदा कर दिया था।

सूराचार्य का युग शिथिलाचार का युग था। आचार्य [illegible] करने लगे थे। सूराचार्य ने भी धारा नगरी और पाटण मे प्रवेश करते समय [illegible] वाहन का उपयोग किया था।[1]

सूराचार्य ज्ञान के पुज थे। उन्होने आदिनाथ और नेमिनाथ के [illegible] [illegible] द्विसधान नामक काव्य का निर्माण किया था।

सूराचार्य प्रशिक्षण प्रदान करने की विद्या मे सुदक्ष थे। उन्होने अपने पास अधीत शिष्यो को वाद-कुशल बनाया। आचार्य द्रोणसूरि के स्वर्गवास के बाद सूराचार्य ने गण का दायित्व सम्भाला। जैन प्रवचन की उन्नति की। जीवन के सध्या काल मे अपने पद पर योग्य शिष्य को नियुक्त कर पैंतीस दिन के अनशन के बाद वे स्वर्ग को प्राप्त हुए।[7]

राजा भोज और धनपाल कवि के समकालीन होने के कारण सूराचार्य का समय वी० नि० की १५वी (वि० ११वी) शताब्दी सभव है।

आधार-स्थल

१ गुरव प्राहुरुत्तानमत्तं बालेषु का कथा।
किमागच्छसि लग्नस्त्व कृतभोजसभाजय ॥६१॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५८)

२ श्रुत्वेत्याह स चादेश प्रमाण प्रभुसमित।
जादास्ये विकृतां सर्वा कृत्वादेशमम् प्रभो ॥६२॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५४)

३ सूरि प्राहैकमेकाट्ट कुरु किं बहुभि कृतै।
एकत्र सर्व लभ्येत लोको भ्रमति नो यथा ॥१३५॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५९)

४ राजाऽवदत् पृथग्वस्त्वर्थिनामेकत्रमीलने।
महाबाधा ततश्चक्रे पृथग् हट्टावली मया ॥१३६॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५९)

५ दयार्थी जैनमास्येयाद् रसार्थी कौलदर्शनम्।
वेदाश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरजनम् ॥१३९॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५६)

६ राजामात्योपरोधेन व्रताचारव्यतिक्रमे।
प्रायश्चित्तविनिश्चित्य सूरिरारूढवान् गजम् ॥९२॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १५५)

७ योग्य सूरिपदे न्यस्य भारमत्र निवेश्य च।
प्रायोपवेशन पचत्रिशद्दिनमित दधौ ॥२५८॥

(प्रभा० चरित, पत्नाक १६०)

२२. धर्मोद्योतक आचार्य उद्योतन सूरि

आचार्य उद्योतन सूरि नेमीचन्द सूरि के शिष्य थे। उन्होने अपने जीवन मे कई तीर्थ-यात्राए की। एक बार वे आबू की यात्रा करते समय आबू पर्वत की तलहटी मे एक विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठे थे। वह विशाल वृक्ष तेली नामक ग्राम के निकट था। सूरि जी ज्योतिप विद्या के प्रकाड विद्वान् थे। उन्होने उस समय वलवान् ग्रह नक्षत्रो को देखकर सर्वदेव आदि आठ शिष्यो को एकसाथ आचार्य पद पर नियुक्त किया और अपने शिष्य परिवार को वट वृक्ष की तरह विस्तार पाने का आशीर्वाद दिया। तभी से सर्वदेव सूरि का शिष्य परिवार वडगच्छ नाम से प्रसिद्ध हुआ और वह वट शाखा की तरह ही विस्तार पाता रहा। कई विद्वानो का अभिमत है कि चौरासी गच्छो की शाखाए यही से प्रस्फुटित हुई।

सर्वदेव सूरि आदि आचार्यों की नियुक्ति वी० नि० १४६४ (वि० स० ९९४) मे हुई। इससे उद्योतन सूरि का समय वी० नि० की १५वी (वि० स० १०वी) सदी निश्चित होता है।

शुभ नक्षत्र को देखकर वट वृक्ष के नीचे आठ व्यक्तियो को उद्योतन सूरि ने दीक्षा दी थी। आचार्य पद के लिए नियुक्ति नही की थी। ऐसा भी कही-कही उल्लेख मिलता है।

मालवा से शत्रुजय जाते हुए धर्मोद्योतक आचार्य उद्योतन सूरि का रास्ते मे ही स्वर्गवास हो गया।

२३. स्वस्थ परम्परा-संपोषक आचार्य सोमदेव

दिगम्बर परम्परा के विद्वान् आचार्य सोमदेव आचार्य यशोदेव के प्रशिष्य एव आचार्य नेमिदेव के शिष्य थे। दिगम्बर परम्परा के चार सघो मे वे देवसघ के थे। उनके लघु भ्राता का नाम महेन्द्र देव था।

आचार्य सोमदेव की मनीपा विविध विपयो मे विशेपज्ञता प्राप्त थी। सस्कृत भापा के वे अधिकारी विद्वान् एव गद्य-पद्य दोनो प्रकार की विधा के अपूर्व रचनाकार थे।

वर्तमान मे सोमदेव के तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म-तरगिणी, यशस्तिलक।

नीतिवाक्यामृत की शैली सूत्रात्मक है। इसमे राजनीति विपय का सागोपाग विवेचन हुआ है। यह कृति वत्तीस अध्यायो मे विभक्त है। इसकी रचना यशस्तिलक के वाद हुई है।

अध्यात्म तरगिणी मात्र चालीस पद्यो का एक प्रकरण है।

यशस्तिलक आचार्य सोमदेव की अत्यन्त गभीर कृति है। छह सहस्र श्लोक परिमाण यह ग्रथ एक महान् धार्मिक आख्यान है। इसमे यशोधर का सम्पूर्ण कथाचित्र अत्यन्त सुन्दर ढग से प्रस्तुत हुआ है। आचार्य सोमदेव के प्रखर पाडित्य एव सूक्ष्म अन्वेपणात्मक दृष्टि का स्पष्ट दर्शन इस कृति से पाया जा सकता है। निर्विवाद रूप से यह कृति जैन-जैनेतर ग्रन्थो का सारभूत ग्रन्थ है। इसका शब्द-गौरव कवि माघ के काव्यो की स्मृति कराता है।

यशस्तिलक कृति मे इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनीय व्याकरण की चर्चा एव महाकवि कालिदास, भवभूति, गुणाढ्य, वाण, मयूर, व्यास आदि अपने पूर्वज विद्वानो का उल्लेख आचार्य सोमदेव के चतुर्मुखी ज्ञान का प्रतिविम्व है।

विपय-वस्तु एव रचना शैली की दृष्टि से भी यशस्तिलक काव्य उच्चकोटि का है। इसका परायण करते समय कवि कालिदास, भवभूति, भारवि तीनो को एकसाथ पढा जा सकता है।

यशस्तिलक के आठ आश्वास हैं। अन्तिम तीन आश्वास उपासकाध्ययन नाम से विश्रुत है। अग साहित्य मे सुप्रसिद्ध आगम 'उपासकदशा' से प्रभावित होकर

अपनी कृति का नाम उपासकाध्ययन देना आचार्य सोमदेव की मौलिक सूझ-बूझ का परिणाम हे। यशस्तिलक का एक भाग होते हुए भी उपासकाध्ययन स्वतन्त्र ग्रन्थ-सा प्रतीत होता है। यह ग्रन्थ छियालीस कल्पो मे विभाजित है एव प्रत्येक कल्प सारभूत बातो से गर्भित है। वैशेषिक, जैमनीय, कणाद, ब्रह्माद्वैत आदि अनेक दर्शनो की समीक्षा के साथ जैन दर्शन का विस्तार से प्रतिपादन इस कृति को जैन साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

आचार्य सोमदेव बचपन से ही तर्कशास्त्र के अभ्यासी विद्यार्थी थे। गाय घास खाकर जैसे दूध देती है, उसी प्रकार आचार्य सोमदेव की तर्कप्रधान बुद्धि से काव्य की धारा प्रवाहित हुई हे। यशस्तिलक की उत्थानिका मे सोमदेव ने लिखा है

आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्या।
मतिसुरभेरभवदिद सूक्तिपय सुकृतिना पुण्यै ॥

शब्दज्ञान के आचार्य सोमदेव महान् पाथोधि थे। उन्होने यशस्तिलक काव्य मे ऐसे नूतन शब्दो का प्रयोग किया है जो अन्यत्र दुर्लभ है। अपनी इस शक्ति का परिचय देते हुए पाचवे आश्वास के अन्त मे उन्होने लिखा है

अरालकाल व्यालेन ये लीढा साम्प्रत तु ते।
शब्दा श्री सोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम् ॥

—विकराल काल व्याल के द्वारा निगल लिए गए शब्दो का सोमदेव ने प्रस्थापन किया है, इससे अद्भुत और क्या होगा ?

आचार्य सोमदेव की कृतियो मे उपासकाध्ययन ग्रन्थ विशेप उपयोगी है। इस ग्रन्थ पर आचार्य समतभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार का, आचार्य जिनसेन के महापुराण का, आचार्य गुणभद्र के आत्मानुशासन का, आचार्य देवसेन के भाव-सग्रह का प्रभाव परिलक्षित होता है।

उत्तरवर्त्ती आचार्य विद्वान् अमितगति, पद्मनन्दि, वीरनन्दि, आशाधर, यश कीर्त्ति आदि ने अपनी ग्रन्थरचना मे उपासकाध्ययन से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है।

आचार्य जयसेन के धर्मरत्नाकर ग्रन्थ मे उपासकाध्ययन ग्रन्थ के अनेक श्लोको का उद्धरण रूप मे उल्लेख हुआ है। धर्मरत्नाकर की रचना वि० स० १०५५ मे हुई थी।

विद्वान् इन्द्रनन्दि के नीतिसार मे अन्य प्रभावी जैनाचार्यो के साथ आचार्य सोमदेव का भी नामोल्लेख किया हे एव उपासकाध्ययन ग्रन्थ को प्रमाणभूत माना है।

आचार्य सोमदेव से पूर्व ग्रन्थो मे भी श्रावकाचार-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध होते हुए भी इस ग्रन्थ को विद्वानो ने अधिक आदर के साथ ग्रहण किया हे, इसका

कारण आचार्य सोमदेव द्वारा प्रस्तुत मौलिक सामग्री इस ग्रन्थ मे है।

आचार्य सोमदेव जितने आध्यात्मिक थे उससे अधिक व्यवहारपरक थे। उन्होने अपने साहित्य मे धर्म के व्यावहारिक पक्षो को बहुत स्पष्ट किया है। उपासकाध्ययन के चौथे कल्प का नाम मूढतोन्मथन है। इसमे लोक-प्रचलित मूढताओ एव धर्म के नाम पर प्रवृत्त रूढ- परम्पराओ को (धर्म-भावना से नदी मे स्नान, यक्षादि का पूजन आदि) मिथ्यात्व का परिपोषक बताकर उन पर आचार्य सोमदेव ने करारा प्रहार किया है। इस कृति के ३२वे कल्प से लेकर आगे के कल्पो मे श्रावकचर्या का विशद वर्णन हे। यशस्तिलक की कथावस्तु के माध्यम से आचार्य सोमदेव ने खान-पान की विशुद्धि पर विशेष बल दिया है एव प्राचीन सयम-प्रधान भारतीय सस्कृति को उज्जीवित किया है।

षण्णवति प्रकरण, महेन्द्रमातलि सकल्प, युक्ति चितामणिस्तव ग्रन्थ भी सोमदेव के माने गए हैं। वर्तमान मे ये ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

आचार्य सोमदेव स्वाभिमानी वृत्ति के थे। अपने काव्य की प्रशसा मे वे कहते हैं

कर्णाञ्जलिपुटै पातु चेत सूक्तामृते यदि।
श्रूयता सोमदेवस्य नव्या काव्योक्तियुक्तय ॥२४६॥

(आश्वास २)

—आपका चित्त कर्णाञ्जलि पुट से सूक्तामृत पीना चाहता है तो सोमदेव के काव्योक्त युक्तियो का श्रवण करे।

आचार्य सोमदेव के गुरु नेमिदेव भी प्रकाण्ड विद्वान् उत्कृष्ट तप धर्म के आराधक एव महावादी विजेता थे। जिनदास कृत उपासकाध्ययन टीका मे उन्हे ९३ महावादियो के विजेता बताकर उनके विशिष्ट ज्ञान की सूचना दी है।

वाद-कुशल आचार्यों मे आचार्य सोमदेव ने विशेष ख्याति अर्जित की। स्याद्वाद-अंचल सिह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ पचानन, वाक्कल्लोल-पयोनिधि एव कविकुशल-राज आदि अनेक भारी उपाधियो से वे मडित हुए थे।

ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्य के परभणी क्षेत्र मे प्राप्त ताम्रपत्र मे यशस्तिलक काव्य रचना के सात वर्ष पश्चात् सोमदेव को दिए गए दान का उल्लेख एव चालुक्य सामन्तो की वशावलि भी है।

कन्नोज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से उन्होंने यशस्तिलक काव्य की रचना की थी।

राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज के सामन्त चूडामणि चालुक्य वशीय अरिकेशरी के प्रथम पुत्र महालक्ष्मीसम्पन्न वाक्राज नृप की राजधानी गगधारा थी। कृष्णराज ने सिहल, चोल, चेर प्रभृति अनेक महीपतियो पर विजय प्राप्त की थी।

आचार्य सोमदेव का समय जानने के लिए उनके यशस्तिलक काव्य का अष्टम आश्वास द्रस्टव्य है। प्रस्तुत आश्वास मे प्राप्त उल्लेखानुसार यशस्तिलक काव्य की सम्पन्नता का समय वी० नि० १४८६ (वि० १०१६) है। इस आधार पर आचार्य सोमदेव वीर निर्वाण की १५वी (वि० ११वी) सदी के विद्वान् सिद्ध होते है। कृष्णराज तृतीय के वे समकालीन है।

२४. अमित प्रभावक आचार्य अमितगति

अगाध पाडित्य के धनी, उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति के साधक आचार्य अमितगति माथुर सघ के थे। वे आचार्य माधव सेन के शिष्य थे। उनके माता-पिता के सम्बन्ध मे सामग्री उपलब्ध नही है। उनका जन्म वि० स० १०२० के आसपास अनुमानित किया गया है।

आचार्य अमितगति ने अपनी स्फुरणशील मनीषा के द्वारा साहित्य की महान् साधना की। उनके द्वारा रचित ग्रन्थो मे सुभाषित रत्न सदोह, धर्म परीक्षा, पच सग्रह, उपासकाचार भावना, द्वात्रिंशतिका, सामायिक पाठ, अमितगति श्रावकाचार आदि प्रमुख हैं।

आचार्य अमितगति का सम्पूर्ण साहित्य सस्कृत भाषा मे है। सस्कृत भाषा पर आचार्य अमितगति का पूर्ण आधिपत्य प्रतीत होता है। उनके विशालकाय साहित्य से गभीर ज्ञान की सूचना भी मिलती है।

काव्य-रचना शक्ति अमितगति की अत्यन्त विलक्षण थी। उनका धर्म परीक्षा ग्रन्थ अत्युत्तम श्लोकवद्ध रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा सुन्दर और सरस है। दो माह मे इस ग्रन्थ का निर्माण कर उन्होने सुतीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय दिया है।

बहुविध साहित्य के अध्ययन से अमितगति की बुद्धि परिमार्जित हो चुकी थी। उन्होने पुरातन के नाम पर रूढ मान्यताओ का कभी समर्थन नही किया। अपने साहित्य मे भी युक्तिसगत विचार उन्होने प्रस्तुत किए। धार्मिक मान्यताओ के रूढ रूप पर भी सम्यक् आलोचना-प्रत्यालोचना अत्यन्त सूक्ष्मता से धर्म परीक्षा ग्रन्थ मे हुई है। अत उन्हे सुधारक आचार्यों मे एव नवीन विचारो के सयोजक गिना जा सकता है।

अमितगति श्रावकाचार कृति मे बारह व्रतो एव भावनाओ का सम्यक् विवेचन हुआ है। इस विषय को प्रस्तुत करने वाली साहित्य सामग्री मे उपासकाध्ययन, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दी श्रावकाचार आदि कई कृतिया विद्वानो की हैं। उनमे अमितगति श्रावकाचार कृति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इतिहास मे अमितगति नाम के एक और आचार्य का भी उल्लेख आता है। उन्होने 'योग क्षार' कृति की रचना की। यह ग्रन्थ अध्यात्मविषयक ग्रन्थ है तथा

इसकी रचना शैली धर्म परीक्षादि ग्रन्थो से सर्वथा भिन्न है। इस कृति के सृजनहार अमितगति प्रस्तुत आचार्य अमित गति से प्राचीन थे। वे देवसेन के शिष्य थे एव आचार्य नेमिसेन के गुरु थे। नेमिसेन प्रस्तुत अमितगति के दादा गुरु थे।

प्रस्तुत आचार्य अमितगति का उज्जैन के राजा मुज पर अत्यधिक प्रभाव था। वह अपनी सभा मे उन्हे सम्मान दिया करता था। आचार्य अमितगति ने राजा मुज की राजधानी मे रहकर कई ग्रन्थो का निर्माण किया। उन्होने अपनी सभी कृतियो मे माथुर सघ के आचार्य माधवसेन के शिष्य होने का उल्लेख किया है। उनका यह परिचय उनके जीवन-परिचय मे प्रामाणिक सामग्री है।

सुभाषित रत्न सदोह की रचना आचार्य अमितगति ने वि० स० १०५० पौष शुक्ला ५ के दिन मुज राजा की राजधानी मे की थी। इस समय उनकी आयु कम से कम तीस वर्ष की रही होगी। विद्वानो की इस सभावना के आधार पर महाप्रभावी आचार्य अमितगति का समय विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

२५. महिमा-मकरन्द आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि की गणना दिग्गज विद्वानो मे होती है। वे नन्दि सघ के आचार्य थे। विन्ध्यगिरि के शिलालेखो मे एक शिलालेख शक स० १३२० ई० स०१३९८ का है। उसमे नन्दि सघ के आठ आचार्यों मे एक नाम माणिक्यनन्दि का है।

धारा नरेश भोज की विद्वान् मडली मे महाप्रभावी आचार्य माणिक्यनन्दि विशेष सम्मान प्राप्त थे। वे प्राञ्जल प्रतिभा के धनी थे। वे न्यायशास्त्र के अधिकृत विद्वान् थे और आचार्य अकलक के गभीर न्याय ग्रन्थो के अध्येता थे। आचार्य विद्यानन्द की प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा आदि कृतियो का भी उनके मानस पर पर्याप्त प्रभाव था।

आचार्य अकलक के साहित्य के महार्णव का मन्थन कर उन्होने 'परीक्षा मुखग्रन्थ' की रचना की। यह ग्रन्थ न्याय-जगत् का दिव्य अलकार है। प्रमेय-रत्नमाला के टीकाकार लघु अनन्त वीर्य ने इस ग्रन्थ को न्यायविद्या का अमृत माना है। इसकी सूत्रमयी भाषा आचार्य जी के गभीर ज्ञान की परिचायिका है। गौतम के न्यायसूत्र एव दिङ्नाग के न्यायमुख की तरह समग्र जैन न्याय को सूत्र-बद्ध करने वाला यह एक अलौकिक ग्रन्थ है। इसकी सक्षेपक शैली अपने ढग की निराली और नितान्त नवीन है। वादिदेव सूरि की कृति 'प्रमाण नय तत्त्व लोका-लकार' और हेमचन्द्र की 'प्रमाण मीमासा' इस कृति से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने इसी ग्रन्थ पर प्रमेय कमल-मार्तण्ड नामक विशाल टीका लिखी है और अपने को उनका शिष्य घोषित किया है। अपभ्रश काव्य 'सुदसण चरिउ' के रचनाकार मुनि नयनन्दि भी उनके विद्याशिष्य थे। अपने इस ग्रन्थ मे नयनन्दि ने माणिक्यनन्दि को महापडित का सबोधन देकर आदर प्रकट किया है।

प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दि का साक्षात् गुरु-शिष्य-सम्बन्ध होने के कारण विविध प्रमाणो के आधार पर माणिक्यनन्दि का समय वी० नि० १५२० से १५८० (वि० स० १०५० से ११११०) तक का अनुमानित किया है।

२६. न्याय-निकेतन आचार्य अभयदेव

आचार्य कालक की भाति कई आचार्य अभयदेव नाम से प्रसिद्ध है। उनमे वादमहार्णव के टीकाकर आचार्य अभयदेव राजगच्छ के थे। वैदिक दर्शन के विद्वान् राजा अल्ल को प्रतिवोध देने वाले आचार्य प्रद्युम्न उनके गुरु थे। आचार्य प्रद्युम्न 'चन्द्र गच्छ' के थे।

राजा मुज के उद्‌वोधक धनेश्वर सूरि आचार्य अभयदेव के शिष्य थे। मुज राजा के कारण ही चन्द्र गच्छ 'राजगच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था।

न्याय के क्षेत्र मे विशेषज्ञता प्राप्त होने के कारण आचार्य अभयदेव को 'न्याय-वनसिंह' और 'तर्क पञ्चानन' की उपाधिया प्राप्त हुई।

वे गम्भीर साहित्यकार भी थे। उन्होने महाप्राज्ञ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सम्मति तर्क' ग्रन्थ पर २५००० श्लोक परिमाण 'तत्त्ववोधिनी' नामक सुविशाल टीका लिखी। यह टीका जैन न्याय और दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रथ मे आत्मा-परमात्मा, मोक्ष आदि विविध विपयो को युक्तियुक्त प्रस्तुत किया गया है। अपने से पूर्ववर्ती अनेक दार्शनिक ग्रन्थो का सदोहन कर आचार्य अभयदेव ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसे पढने से दर्शनान्तरीय विविध ज्ञान-बिन्दुओ का भी सहज पठन हो जाता है। इस टीका का दूसरा नाम 'वाद महार्णव भी है। इस पर आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थो का विशेप प्रभाव है।

अनेकान्त दर्शन की प्रस्थापना मे विभिन्न पक्षो का स्पर्श करती हुई 'तत्त्व बोधिनी' टीका परवर्ती टीकाकारो के लिए भी सबल आधार बनी है।

अचार्य प्रभाचन्द्र कृत 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' और अभयदेव कृत 'सन्मति सूत्र टीका' मे केवली भुक्ति, स्त्री-मुक्ति आदि विपयो पर स्वसम्प्रदायगत मान्यता का समर्थन और परमत का निरसन होते हुए भी एक-दूसरे द्वारा प्रदत्त युक्तियो का परस्पर कोई प्रभाव परिलक्षत नही होता। अत हो सकता है ये दोनो आचार्य समकालीन थे। इनको रचना करते समय एक-दूसरे का ग्रन्थ उपलब्ध नही था। न्यायनिकेतन, कुशल टीकाकार, निष्णात दार्शनिक आचार्य अभयदेव का समय वी० नि० १५४५ से १६२० विक्रम की ११वी० शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १२वी शताब्दी का पूर्वाद्ध (वि० १०७५ से ११५०) अनुमानित किया गया है।

२७. शारदा-सूनु आचार्य वादिराज

दिगम्बर परम्परा मे आचार्य वादिराज प्रभावक आचार्य हुए थे। वे तर्क-शास्त्र के निष्णात विद्वान् थे। उनका सम्बन्ध द्रविण या द्रमिल मघ की अरुगल शाखा से था।

वादिराज सूरि का मूल नाम अभी भी अज्ञात है। इतिहास के पृष्ठो पर उनकी प्रसिद्धि वादिराज के नाम से है। सम्भवत वादिराज की सज्ञा उन्हे वाद-कुशलता के कारण प्राप्त हुई है।

पट्तर्क सन्मुख, स्याद्वाद-विद्यापति, जगदेक मल्लवादी जैसी महान् उपाधिया उनके वैदुष्य को प्रकट करती हैं।

आचार्य वादिराज उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी गणना आचार्य सोमदेव के साथ की गई है। उनकी योग्यता का पूरा परिचय नगर तालुका के शिलालेख न० ३६ मे प्राप्त होता है।

मदसि यदकलक कीर्तने धर्मकीर्ति-
र्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपाक।

प्रस्तुत शिलालेख के आधार पर वे सभा मे अकलक विषय विवेचन मे धर्मकीर्ति, प्रवचन मे वृहस्पति और न्याय मे नैयायिक गौतम के समकक्ष थे।

वादिराजमनुशाब्दिक लोको वादिराजमनुतार्किक सिद्ध।

उस युग के वैयाकरण और तार्किक जन वादिराज के अनुग थे।

वे चामत्कारिक प्रयोग भी जानते थे। जनश्रुति के अनुसार एक बार अपने भक्त का वचन रखने के लिए उन्होने मन्त्रबल से अपने कुष्ट रोग को छिपाकर देह को स्वस्थ कञ्चन वर्ण बना लिया था।

दक्षिण के सोलकी वश के विख्यात नरेश जयसिह (प्रथम) की सभा मे उनका पर्याप्त सम्मान था।

आचार्य वादिराज ने विविध सामग्री से परिपूर्ण कई ग्रन्थो की रचना की। वर्तमान मे उनके ५ ग्रन्थ उपलब्ध है।

न्याय विनिश्चय विवरण

यह ग्रन्थ भट्ट अकलक के न्याय विनिश्चय ग्रन्थ का २० सहस्र श्लोक परिमाण भाष्य है।

प्रमाण निर्णय

इस ग्रन्थ के चार अध्याय है एव प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि प्रमाणो की समुचित सामग्री इसमे उपलब्ध है।

यशोधर चरित

यह एक सर्ग का लघुकाय खण्डकाव्य है। इसके मात्र २९६ पद्य है।

एकीभाव स्तोत्र

यह २५ पद्यो का स्तोत्र हैं। इसमे आचार्य वादिराज के आस्थाशील जीवन का प्रतिबिम्ब झलकता है।

पार्श्वनाथ स्तोत्र

यह उच्च कोटि का काव्य है। इसके १२ सर्ग है। आचार्य वादिराज के प्रकाण्ड पाण्डित्य के दर्शन इस ग्रन्थ मे होते हैं।

अध्यात्माष्टक

इस ग्रन्थ की सज्ञा से स्पष्ट है, इस कृति मे ८ पद्य हैं। यह रचना निर्विवाद रूप से आचार्य वादिराज की प्रमाणित नही है।

त्रैलोक्यदीपिका

यह करणानुयोग ग्रन्थ है। विद्वानो का अनुमान है—यह रचना भी आचार्य वादिराज की होनी चाहिए।

आचार्य वादिराज अपने युग के दिग्गज विद्वान् थे। कुशल वादी थे। पार्श्वनाथ-चरित्र की रचना उन्होने ई० स० १०२५ मे की थी। अत उनका समय वी० नि० २५५२ (वि० १०८२) के आसपास का प्रमाणित होता है।

२८. शिव-सुख-आलय आचार्य शान्ति

वादिवेताल शान्त्याचार्य प्रशस्त टीकाकार थे। वे राधनपुर के पार्श्ववर्ती उन्नातायु गाव के निवासी धनदेव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनश्री था। शान्त्याचार्य के गृहस्थ जीवन का नाम भीम था। चान्द्रकुल-थारापद्र गच्छ के आचार्य विजयसिंह सूरि के पास उनकी दीक्षा हुई। मिथ्यादृष्टि व्यक्तियो के लिए उदग्र प्रतिभावलसम्पन्न भीम, यथार्थ मे ही भीम थे। उनका दीक्षा नाम शान्ति हुआ। आचार्य सर्वदेव और अभयदेव से उन्होने विविध प्रकार का प्रशिक्षण पाया। आचार्य विजयसिंह द्वारा आचार्यपद पर अलकृत होकर उनका सारा उत्तराधिकार सफलतापूर्वक शान्त्याचार्य ने सभाला।

प्रकाड पाडित्य का परिचय देकर पाटण के महाराज भीम की सभा मे कवीन्द्र और वादी चक्रवर्ती की उन्होने उपाधिया प्राप्त की।[1] राजा भोज की सभा मे ८४ विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ कर विजय की वरमाला पहनी।[2] वादीजनो मे वेताल की तरह प्रमाणित होने से राजा भोज ने वादिवेताल का पद देकर उनको सम्मानित किया।[3]

शान्त्याचार्य के बत्तीस विद्वान् शिष्य न्याय विषय के पाठी थे। उन्हे शान्त्याचार्य स्वय प्रमाणशास्त्र-सम्बन्धी प्रशिक्षण देते थे।[4] आचार्य जी की अध्यापन पद्धति ने आचार्य मुनिचन्द्र को प्रभावित किया। वे भी उनकी मडली मे प्रविष्ट होकर प्रमाणशास्त्र के विद्यार्थी बन गए थे। ये मुनिचन्द्र प्रमाणनय-तत्त्वालोकालकार के रचनाकार आचार्य वादिदेव के गुरु थे।

जैन विद्वान् धनपाल की तिलक-मजरी पर उन्होने समुचित समीक्षा की[5] और उस पर टिप्पणी भी लिखी। टीका साहित्य मे उनकी 'शिष्यहिता' टीका बहुत प्रसिद्ध है। प्राकृत कथानको की बहुलता के आधार से इसे 'पाइय टीका' भी कहते है। इसमे पाठान्तरो और अर्थान्तरो की प्रचुरता है। कथानक बहुत सक्षिप्त शैली मे लिखे गए हैं। मूलपाठ और निर्युक्ति दोनो की व्याख्या करती हुई यह टीका १८००० श्लोक परिमाण है। इसमे ५५७ गाथाए निर्युक्ति की हैं। स्थान-स्थान पर विशेषावश्यक भाष्य की गाथाओ का तथा दशवैकालिक सूत्र की गाथाओ का प्रयोग भी हुआ है। कही-कही भर्तृहरि के श्लोक भी उद्धृत हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह अत्युत्तम टीका मानी गयी है। उत्तराध्ययन सूत्र पर अब तक जितनी टीकाओं के नाम उपलब्ध है उनमे यह टीका शीर्षस्थानीय है। इसे वादी रूपी नागेन्द्रो के लिए नागदमनी के समान माना है।[६]

शान्त्याचार्य का पादार्पण अतिम समय मे उपासक यश के पुत्र 'सोढ' के साथ गिरनार पर्वत पर हुआ। उनका वही पच्चीस दिवसीय अनशन के साथ वी० नि० १५६६ (वि० १०९६) ज्येष्ठ शुक्ला नवमी मगलवार को स्वर्गवास हो गया था।[७]

आधार-स्थल

१ अणहिल्लपुरे श्रीमद्भीमभूपालससदि।
शान्तिसूरि कवीन्द्रोऽभूद् वादिचक्रीति विश्रुत ॥२१॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३३)

२ विश्वदर्शनवादीन्द्रान् स राज्ञ पर्षदि स्थित।
जिग्ये चतुरशीति च स्वस्त्राभ्युपगमस्थितान् ॥४७॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३४)

३ वादिवेतालविरुद तदैषा प्रददे नृप ॥५९॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३४)

४ अथ प्रमाणशास्त्राणि शिष्यान् द्वात्रिंशत तदा।
अध्यापयन्ति श्रीशान्तिसूरयश्चैत्यसस्थिता ॥७०॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३५)

५ कथा च धनपालस्य तैरशोध्यत निस्तुपम् ॥५९॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३४)

६ उत्तराध्ययनग्रथटीका श्रीशान्तिसूरिभि।
विदधे वादिनागेन्द्रसन्नागदमनीसमा ॥८९॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३५)

७ श्री विक्रमवत्सरतो वर्षसहस्रे गते सषण्णवतौ (१०९६)।
शुचिसितिनवमीकुजक्र्त्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ॥१३०॥
(प्रभा० चरित, पत्राक १३७)

२९. प्रभापुञ्ज आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यो मे न्याय ग्रन्थो के सम्यक् व्याख्याकार आचार्य थे। परमार नरेश भोज एव जयसिंह देव के वे समकालीन थे। राजा भोज की सभा मे उनको सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था।

आचार्य प्रभाकर का जैसा नाम था वैसी ही उनकी निर्मल साहित्यिक प्रभा थी। साहित्यक्षेत्र मे उन्होने टीका ग्रन्थो की रचना अधिक की है।

तत्त्वार्थ वृत्तिपद, विवरण शाकटायन न्यास, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचनसार, सरोज भास्कर, रत्न करण्ड श्रावकाचार टीका, समाधि तन्त्र टीका आदि बहुविध टीका साहित्य की रचना की।

गद्य-आराधना कथाकोश उनकी स्वतन्त्र कृति है। इसमे अनेक धार्मिक कथाए प्रस्तुत की गयी है। शब्दाम्भोज भास्कर ग्रन्थ जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है। वर्तमान मे यह पूर्ण रूप से उपलब्ध नही है। पुष्पदत कृत महापुराण पर उन्होने टिप्पण भी लिखा है। टिप्पण की शैली सक्षिप्त एव सारगर्भित है।

न्याय कुमुदचन्द्र एव प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे वृहद्काय टीका ग्रन्थो का निर्माण कर उन्होने न्याय विषय को परिपुष्ट किया है।

न्यायकुमुदचन्द्र भट्ट अकलक की लघीयस्त्रयी पर १६००० श्लोक परिमाण व्याख्या है। इसमे दार्शनिक विषयो की गम्भीर सामग्री उपलब्ध है। राज्यकाल मे उन्होने १२००० श्लोक परिमाण ग्रन्थ 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' की रचना की थी।

आचार्य प्रभाचन्द्र उत्कृष्ट ज्ञान-पिपासु थे। न्यायविद्या को ग्रहण करने के लिए वे विद्याकेन्द्र धारा नगरी मे आए और आचार्य माणिक्यनन्दि से प्रभावित होकर वही रहने लगे। उनकी 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' टीका आचार्य माणिक्यनन्दि के 'परीक्षामुख' ग्रन्थ पर है।

आचार्य माणिक्यनन्दि की 'परीक्षामुख' कृति से प्रभावित होकर उन्होने इसी स्थान पर प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना की थी।

प्रमाण-प्रमेय को विस्तार से प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ १२००० श्लोक परिमाण है। राजा भोज के राज्यकाल मे इस ग्रन्थ की रचना हुई थी। प्रस्तुत ग्रन्थ

की प्रशस्ति मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने आचार्य माणिक्यनन्दि का गुरुरूप मे स्मरण किया है।

श्रवणवेलगोल के शिलालेख न० ४०-५५ मे आचार्य प्रभाचन्द्र के पद्मनन्दि सिद्धात और चतुर्मुखदेव—ये दो गुरु और माने गए है। माणिक्यनन्दि उनके न्याय-विद्या गुरु थे। इतिहासकारो का अनुमान है—इन दोनो का साक्षात् गुरु-शिष्य-सम्वन्ध था।

कई इतिहासकारो का अभिमत है—आचार्य प्रभाचन्द्र ने तीन या चार ग्रन्थो का ही निर्माण किया है।

आचार्य वादिदेव के स्याद्वाद-रत्नाकर ग्रन्थ मे प्रमेयकमलमार्तण्ड का सर्व-प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है पर आचार्य वादिराज के ग्रन्थो मे उल्लिखित विद्यानन्द आदि जैन विद्वानो के साथ प्रभाचन्द्र का नाम नही है। इस आधार पर न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना मे प्रस्तुत प्रभाचन्द्र की अन्तिम अवधि ई० ११५० के लगभग स्वीकृत हुई है।

३०. सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र

सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र दिगम्बर आचार्य थे। वे गंगवंशीय राजमल्ल के प्रधान मंत्री चामुण्डराय के गुरु थे। चामुण्डराय सेनापति था। उसके हाथ में तलवार और हृदय में अहिंसा की पावन सरिता बहती थी। उसने एक ओर समरांगण में खड़े होकर भुजविक्रम, [illegible] आदि भारी उपाधियों को प्राप्त किया, दूसरी ओर वह धर्मनेता भी बन गया। सम्पूर्ण दक्षिण में उसने अध्यात्म की लहर प्रवाहित कर जैनशासन का मस्तक ऊंचा किया था। चामुण्डराय की इन धार्मिक प्रवृत्तियों के प्रेरक आचार्य नेमिचन्द्र थे।

चामुण्डराय ने स्वप्न में भी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा ले रखी थी। यह प्रभाव भी आचार्य नेमिचन्द्र का ही था।

आचार्य नेमिचन्द्र के पीछे सिद्धान्त-चक्रवर्ती की उपाधि उनके अगाध सैद्धान्तिक ज्ञान की सूचक है।

चक्रवर्ती चक्र द्वारा छह खण्डों पर विजय प्राप्त करता है। इसी तरह विशदमति के चक्र से सैद्धान्तिक ज्ञान पर उनकी विजय हुई है। धवला, जयधवला का आधार लेकर गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार-क्षपणासार आदि कई ग्रन्थ उन्होंने लिखे। इनमें प्राकृत और शौरसेनी का सम्मिश्रण है।

गोम्मटसार उनकी बहुत प्रसिद्ध कृति है। इसकी रचना उन्होंने श्रवणबेलगोल में बैठकर की थी। चामुण्डराय ने उस पर कर्णाटकीय टीका लिखी। गोम्मटसार के अतिरिक्त लब्धिसार और द्रव्यसंग्रह भी उनके प्रामाणिक ग्रन्थ माने गए हैं।

सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी (वि० ११वीं) के आचार्य माने गए हैं।

३१. जग-वत्सल आचार्य जिनेश्वर

खरतरगच्छ के प्रणेता आचार्य जिनेश्वर सूरि नवागी टीकाकार अभयदेव-सूरि के गुरु थे।

वर्धमान सूरि व जिनेश्वर सूरि दोनो भाई थे। ब्राह्मण परिवार मे उन्होने जन्म लिया। उनका नाम श्रीधर व श्रीपति था। एक बार वे मालव प्रदेश की धारा नगरी मे पहुचे। राजा भोज की धारा नगरी अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय थी। उसका अपार वैभव शैल-शिखरो को छू रहा था। श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी लक्ष्मीधर उसी नगरी का ख्याति प्राप्त श्रेष्ठी था।

एक दिन उसके घर आग लग गयी। दीवारो पर लिखे हुए सुन्दर शिक्षात्मक श्लोक मिट गए। लक्ष्मीधर इस घटना से चिन्तित हुआ। श्रीधर, श्रीपति उनके घर पर पहुचे। श्रेष्ठी ने घटना-प्रसग पर चर्चा करते हुए कहा—"गृह-विनाश से भी अधिक चिन्ता दीवारो पर उल्लिखित साहित्य-सम्पत्ति के खो जाने की है।" दोनो विद्वानो ने कहा—"हम कल भिक्षार्थ आपके घर पर आए तव इन श्लोको को पढा था। हमे वे पूर्णत याद है।" उन्होने तत्काल सारे श्लोक सुना दिए। लक्ष्मीधर उनकी प्रतिभा पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचा—'इन दोनो से जैन दर्शन की महान् प्रभावना हो सकती है।' पर्याप्त सम्मान देकर श्रेष्ठी ने उनको अपने घर पर रख लिया।

लक्ष्मीधर प्रद्योतन सूरि के शिष्य वर्धमान सूरि का परम भक्त था। एक दिन वर्धमान सूरि धारा नगरी मे आए। लक्ष्मीधर के साथ दोनो विद्वान् भी वन्दनार्थ वर्धमान सूरि के पास आए और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दीक्षित हो गए। उनकी दीक्षा मे लक्ष्मीधर श्रेष्ठी की प्रवल प्रेरणा थी।

युगल भ्राता दीक्षा लेने के वाद जिनेश्वर व बुद्धिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। चरित्र-धर्म की आराधना के साथ ज्ञानाराधना मे भी उन्होने अपने को विशेप रूप से नियुक्त किया। युग्म बन्धुओ के भौतिक सामर्थ्य एव गण-सचालन की योग्यता पर प्रसन्न होकर आचार्य वर्धमान सूरि ने उन्हे आचार्य पद पर मडित किया एव जिनेश्वर सूरि को अपना उत्तराधिकारी वनाया।

वर्धमान सूरि के आदेश से गुजरात के महाराज दुर्लभराज की सभा मे पहुच-

कर चैत्यवासियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देना जिनेश्वर सूरि की प्रबल क्षमता का सूचक था। दशवैकालिक सूत्र के आधार पर उनसे साध्वाचार संहिता का विवेचन सुनकर दुर्लभराज प्रभावित हुए। उन्होंने खरतर की उपाधि से उनको उपमित किया। तभी से इनका सम्प्रदाय 'खरतर गच्छ' से सम्बोधित होने लगा। खरतर शब्द उनकी कठोर आचार पद्धति का सूचक है। यह घटना जिनेश्वर सूरि के आचार्य पद प्राप्ति से पूर्व वी० नि० १५४० (वि० स० १०७०) के आसपास की है। खरतरगच्छ गुर्वावलि के अनुसार यह समय वी० नि० १५६४ (वि० स० १०२४) है।[1]

महापराक्रमी राजा वनराज के समय से ही पाटण में चैत्यवासियों का दबदबा होने के कारण सुविहितमार्गी मुनियों के लिए वहा प्रवेश पाना कठिन था। जिनेश्वर सूरि की इस शास्त्रार्थ-विजय के बाद यह समस्या मिट गयी। सबके लिए वहा आना-जाना सुगम हो गया।

आचार्य जिनेश्वर सूरि जी के शासनकाल में अभयदेव, धनेश्वर, प्रसन्नचन्द्र, धर्मदेव, सहदेव आदि अनेक व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की।

एक बार जिनेश्वर सूरि जी का पदार्पण 'आशापल्ली' में हुआ। वहा वी० नि० १५५२ से १५५५ (वि० १०८२ से १०८५) तक के समय में लीलावती, कथाकोष, वीरचरित्र, पञ्चलिंगी प्रकरण आदि कई ग्रन्थों की रचना कर उन्होंने महान् साहित्यिक सेवा की।

उनकी वी० नि० १५५० (वि० १०८०) की हरिभद्र के अष्टकों पर निर्मित टीका साहित्य-जगत् की अमूल्य कृति बनी। उन्होंने यह रचना जालोर में की थी।

इन कृतियों के समय के आधार पर आचार्य जिनेश्वर सूरि वीर निर्वाण की १६ वी शताब्दी (वि० ११) के आचार्य सिद्ध होते हैं।

आधार-स्थल

1 दसमय चउवीसे (?) वच्छरे ते आयरिया मच्छरिणो हारिया। जिणेसरसूरिणा जिय। रन्ना तुट्ठेण खरतर इइ बिरुद दिन्न। तओ पर खरतरगच्छो जाओ।

(खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पत्राक ६०)

३२. आस्था-आलम्बन आचार्य अभयदेव

(नवागी टीकाकार)

नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेव खरतरगच्छ से सवधित थे। वे आचार्य जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० १५४२ (वि० १०७२) मे हुआ। इतिहास-प्रसिद्ध गुजरात की धारा नगरी उनकी जन्मभूमि थी। महीधर श्रेष्ठी के वे पुत्र थे। उनकी माता का नाम धनदेवी था। वाल्यकाल मे गुरु से वोध प्राप्त कर उन्होने दीक्षा ग्रहण की। आगमो का गम्भीरता से अध्ययन किया। ग्रहण और आसेवन रूप विविध शिक्षाओ से सपन्न होकर महाक्रियानिष्ठ श्रमण अभयदेव शासन अम्भोज को विकसित करने के लिए भास्कर की तरह आभासित होने लगे।[1]

आचार्य वर्धमान के आदेश से जिनेश्वर सूरि ने उन्हे आचार्य पद से अलकृत किया।

आचार्य अभयदेव सिद्धातो के गम्भीर ज्ञाता थे। एक वार वे ध्यान मे वैठे थे। टीका रचना की अन्त प्रेरणा उनके मन मे उत्पन्न हुई। प्रभावक चरित आदि ग्रन्थो के अनुसार यह प्रेरणा शासन देवी की थी। निशीथ काल मे ध्यानस्थ अभयदेव के सामने देवी प्रकट होकर बोली—"मुने! आचार्य शीलाक एव कोट्याचार्य विरचित टीका साहित्य मे आचाराग और सूत्रकृताग आगम की टीकाए सुरक्षित है। अवशिष्ट टीकाए काल के दुष्प्रभाव से लुप्त हो गई हैं। अत इस क्षतिपूर्ति के लिए सघ-हितार्थ आप प्रयत्नशील वनें एव टीका-रचना का कार्य प्रारम्भ करे।"[2]

अन्तर्मुखी आचार्य अभयदेव वोले—"देवी! मेरे जैसे जडमति व्यक्ति द्वारा सुधर्मा स्वामी कृत आगमो को पूर्णत समझना भी कठिन है। अज्ञानवश कही उत्सूत्र की प्ररूपणा हो जाने पर यह कार्य उत्कृष्ट कर्मवन्धन का और अनन्त ससार की वृद्धि का निमित्त वन सकता है। शासन देवी के वचनो का उल्लघन करना भी उचित नही है, अत तुम्हारे द्वारा प्राप्त सकेत पर किंकर्त्तव्यविमूढ जैसी स्थिति मेरे मे उत्पन्न हो गयी है।"

आचार्य अभयदेव के असतुलित मन को समाधान प्रदान करती हुई देवी ने

निवेदन किया—"मनीषि-मान्य ! सिद्धातो के समुचित अर्थ को ग्रहण करने मे सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने आपसे इस महत्त्वपूर्ण कार्य की प्रार्थना की है। आगम पाठो की व्याख्या मे जहा भी आपको सन्देह हो उस समय मेरा स्मरण कर लेना। मैं सीमधर स्वामी मे पूछकर आपके प्रश्नो को समाहित करने का प्रयत्न करूगी।"

आचार्य अभयदेव को शासन देवी के वचनो से सतोष मिला। आगम जैसे महान् कार्य मे तपोवल की शक्ति आवश्यक है। यह सोच नैरन्तरिक आचाम्ल तप (आयविल) के साथ उन्होने टीका रचना का कार्य प्रारम्भ किया।[1] एकनिष्ठा से वे अपने कार्य मे लगे रहे। उनकी सतत श्रमपरायणता नौ अगो की टीकाओ के गरिमामय निर्माण मे सफल हुई।

आत्मवल अनन्त होता है, पर शरीर की शक्ति सीमित होती है। नैरन्तरिक आचाम्ल तप और रात्रि-जागरण से उन्हे कुष्ट रोग हो गया। विरोधी जनो मे अपवाद प्रसारित हुआ—कुष्ट रोग उत्सूत्र की प्ररूपणा का प्रतिफल है। शासन देवी रुष्ट होकर उन्हे दड दे रही है।

लोकापवाद सुनकर आचार्य अभयदेव का विश्वास भी डोला। अन्तर्चिन्तन चला। रात्रि के समय आचार्य अभयदेव ने धरणेन्द्र का स्मरण किया। शासन-हितैषी धरणेन्द्र ने निद्रालीन आचार्य अभयदेव के शरीर को जिह्वा से चाटकर उन्हे स्वस्थ वना दिया।

स्वप्नावस्था मे आचार्य अभयदेव को प्रतीत हुआ—विकराल काल महादेव ने मेरे शरीर को आक्रान्त कर लिया है। इस स्वप्न के आधार पर आचार्य अभयदेव ने सोचा—'मेरा आयुष्य क्षीणप्राय है, अत अनशन कर लेना उचित है।'

स्वप्नावस्था मे आचार्य अभयदेव के सामने धरणेन्द्र पुन प्रकट होकर वोला—"मैंने ही आपके शरीर को चाटकर कुष्ट रोग को शान्त कर दिया है।"

शासन-प्रभावना मे प्रतिक्षण जागरूक आचार्य अभयदेव ने कहा—"देवराज ! मुझे मृत्यु का भय नही है, पर मेरे रोग को निमित्त वनाकर पिशुन-जनो के द्वारा प्रचारित धर्म-सघ का अपवाद दु सह्य हो गया था।"

धरणेन्द्र के निवेदन पर श्रावक सघ के साथ आचार्य अभयदेव स्तम्भन ग्राम मे गए। जयतिहुण नामक वत्तीस श्लोको का स्तोत्र रचा। इस स्तोत्र-रचना से स्तम्भन ग्राम के निकट सेढिका नदी के तट पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई थी। यह प्रतिमा आज भी खभात मे विद्यमान है।

धर्मसघ की गौरववृद्धिकारक इस घटना से जनापवाद मिट गया। लोग अभयदेव की प्रशसा करने लगे। धरणेन्द्र ने स्तोत्र की दो प्रभावक गाथाओ को लुप्त कर दिया।

खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि ग्रन्थ के अनुसार गुजरात के खभात नगर मे टीका-रचना से पूर्व ही आचार्य अभयदेव कुष्ट रोग से आक्रान्त हो गए थे। शासन देवी के द्वारा टीका रचना की प्रार्थना किए जाने पर आचार्य अभयदेव ने कहा—"देवी ! मैं इस गलिताग शरीर से सूत्र टीका करने मे समर्थ नही हू ।"

शासनदेवी ने कहा—"आर्य ! आप चिन्ता न करें। नवागी सूत्रो के रचनाकार एव जैन दर्शन के महान् प्रभावक आप बनोगे।"

विविध तीर्थकल्प के अनुसार आचार्य अभयदेव को खभात ग्राम मे अतिसार रोग हो गया था। रोग को बढते देख उन्होंने अनशन की बात सोची। निकटवर्ती गावो से पाक्षिक प्रतिक्रमणार्थ आने वाले श्रावक समाज को दो दिन पहले ही 'मिच्छामि दुक्कड' प्रदानार्थ विशेष रूप से सूचित कर दिया गया था। प्राप्त सूचना के अनुसार त्रयोदशी के दिन श्रावक एकत्रित हुए। उसी रात्रि को शासन देवी ने प्रकट होकर आचार्य अभयदेव को टीका रचना की प्रेरणा दी।[४] देवी की प्रार्थना से ससघ वाहिनी पर आरूढ होकर अभयदेव खभात गए। सेढिका नदी तट पर स्तोत्र की रचना की। पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। जैन दर्शन की महती प्रभावना हुई। अभयदेव का कुष्ट रोग खत्म हो गया। शरीर सुवर्ण की तरह चमक उठा।[५]

जैन शासन की अतिशय प्रभावनाकारक यह घटना प्रबल प्रसन्नता का निमित्तभूत होने के कारण इसे मनोवैज्ञानिक भूमिका पर आचार्य अभयदेव के रोगोपशान्ति का प्रमुख हेतु माना जा सकता है।

स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करने के बाद आचार्य अभयदेव ने पाटण मे टीका-रचना का कार्य किया था। टीका-लेखन मे उन्होने खटिका का उपयोग किया था।

प्रभावक-चरित्र के अनुसार टीका साहित्य की प्रतिलिपियो को तैयार कराने का कार्य ताम्रलिप्ति आशापल्ली धवलक्क नगरी के चौरासी तत्त्वज्ञ सुदक्ष श्रावको ने किया।[६]

इस कार्य मे तीन लाख द्रमक (मुद्रा-विशेष) लगे थे जिसकी व्यवस्था श्री भीम भूपति ने की थी। शासन देवी के द्वारा यह द्रव्य राशि प्रदान की गयी थी, ऐसा उल्लेख प्रभावक-चरित्र और पुरातन प्रबन्ध-सग्रह—इन दोनो ग्रन्थो मे है।

खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि के अनुसार इस कार्य मे पाल्हउदा ग्राम के श्रावको का महत्त्वपूर्ण अनुदान रहा है। टीका साहित्य रचना का कार्य सम्पन्न करने के बाद आचार्य अभयदेव पाल्हउदा ग्राम मे विहरण कर रहे थे। वहा स्थानीय श्रावक समाज के सामने सकट की घडी उपस्थित हो गयी थी। माल से भरे उनके जहाज समुद्र मे डूबने के समाचार पाकर श्रावक खिन्न थे। यथोचित समय पर वे धर्म स्थान मे नही पहुच पाए। आचार्य अभयदेव स्वय उनकी वस्ती

मे दर्शन देने गए और उन्होने पूछा—"श्रावको ! वन्दन-वेला का अतिक्रम कैसे हुआ ?" श्रावको ने नम्र होकर माल-भरे जहाजो को समुद्र मे नष्ट हो जाने का चिन्ताजनक वृत्तान्त कह सुनाया।

आचार्य अभयदेव बोले—"श्रावको ! चिन्ता मत करो, धर्म के प्रताप से सब ठीक होगा।" आचार्य अभयदेव के इन शब्दो से सबको सतोप मिला। दूसरे दिन सुरक्षित माल मिल जाने की सूचना पाकर सबको अत्यधिक प्रसन्नता हुई। आचार्य अभयदेव के पास जाकर समवेत स्वर मे श्रावको ने निवेदन किया—"इस माल की बिक्री से जो भी लाभ हमे प्राप्त होगा, उसका अर्धांश भाग टीका-साहित्य के लेखन कार्य मे व्यय करेंगे।"[7]

इन श्रावको द्वारा प्रदत्त धनराशि से टीका साहित्य की अनेक प्रतिलिपिया निर्मित हुई। तत्कालीन प्रमुख आचार्यों के पास कई स्थानो पर उनका टीका-साहित्य पहुचाया गया।

आचार्य अभयदेव की सर्वत्र प्रसिद्धि हुई लोग कहने लगे—"सिद्धान्त पारगामी, आगम साहित्य के निष्णात विद्वान् आचार्य अभयदेव है।"

आचार्य सुधर्मा के आगम साहित्य के गूढार्थों को समझने के लिए आचार्य अभयदेव की टीकाए कुजी के समान मानी गयी है।[8] ये टीकाए सक्षिप्त और शब्दार्थ-प्रधान है। यथावश्यक इनमे कही-कही विषय का पर्याप्त विवेचन, सैद्धान्तिक तत्त्वो की अभिव्यक्तिया, दार्शनिक चर्चाए, कथानको के मत-मतान्तरो तथा पाठान्तरो के उल्लेख और सामाजिक, राजनयिक अनेक शब्दो की परिभाषाए प्रस्तुत की गयी हैं।

आचार्य अभयदेव का टीका साहित्य विशाल परिमाण मे है। कई टीकाओ मे उन्होने समापन-काल का सकेत भी दिया है।

स्थानाग की वृत्ति का समापन अजितसिंह सूरि के शिष्य यशोदेवगणी की सहायता से वि० स० ११२० मे पाटण मे हुआ था। यह टीका १४२५० श्लोक परिमाण है।[9]

समवायाग वृत्ति ३५७५ श्लोक परिमाण है। इसका समापन भी वि० स० ११२० मे हुआ है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति १८६१६ श्लोक परिमाण है। आचार्य शीलाक के अतिरिक्त अभयदेव सूरि से पूर्व किसी ने इस विशाल ग्रन्थ पर टीका लिखने का साहस नही किया था। अत काल-प्रभाव से शीलाक की टीकाओ के लुप्त हो जाने के बाद इस सूत्र की व्याख्या मे लेखनी उठाने वाले अभयदेव सूरि सर्वप्रथम टीकाकार थे। इनकी यह टीका वि० स० ११२८ मे सम्पन्न हुई थी।

ज्ञाता धर्मकथा वृत्ति ३८०० श्लोक परिमाण है। यह सूत्रस्पर्शी शब्दार्थ-प्रधान वृत्ति है। इसका परिसमापन वि० ११२० विजयादशमी के दिन पाटण

मे हुआ था।

उपासकदशाग वृत्ति ८१२ श्लोक परिमाण, अन्तकृद्दशा वृत्ति ८९९ श्लोक परिमाण, प्रश्न व्याकरण वृत्ति ४६०० श्लोक परिमाण, विपाक वृत्ति ९०० श्लोक परिमाण हे। अगो के अतिरिक्त एक ही वृत्ति उपाग पर लिखी है। यह वृत्ति ३१२५ श्लोक परिमाण है।

उपाग सहित इन वृत्तियो का कुल परिमाण ५०७६९ श्लोक परिमाण है। इनके यथावश्यक सशोधन करने का श्रेय टीकाकार ने आगम परम्परा के विशेपज्ञ सघ-प्रमुख, निवृत्ति-कुलीन द्रोणाचार्य को दिया है।

इन टीकाओ मे तीन टीकाए—स्थानागवृत्ति, समवायागवृत्ति, ज्ञाताधर्मकथा वृत्ति वि० ११२० मे सम्पन्न हुई है। इन तीनो का परिमाण २१६२५ श्लोक है। एक वर्प मे इतनी विशाल साहित्यनिधि का निर्माण कर लेना उनकी शीघ्र रचनात्मक शक्ति का परिचायक है।

आचार्य अभयदेव ने आगमो पर टीकाए लिखकर ही सतोष नही किया। उनकी लेखनी अन्य ग्रन्थो पर भी चली। जिनभद्रगणी विरचित 'विशेषावश्यक भाष्य' पर टीका, आचार्य हरिभद्र विरचित पोडशक पर टीका और देवेन्द्र सूरि विरचित 'शतारि प्रकरण' पर टीका आचार्य अभयदेव की टीका साहित्य को अनन्य भेट थी।

धोलका गाव मे आचार्य हरिभद्र विरचित पचासन ग्रन्थ पर वि०स० ११२४ मे उन्होने टीका की रचना की। निगोद पट्त्रिशिका, पच ग्रन्थ विचार-सग्रहणी, पुद्गल पट्त्रिशिका—ये तीनो ग्रन्थ उनके तात्त्विक ज्ञान की सूचना देते हैं।

गुजरात के कपडगज गाव मे वीर निर्वाण १६०५ (वि० ११३५) मे उनका स्वर्गवास हो गया।

जैन आगमो की सुगम व्याख्याए प्रस्तुत कर टीकाकार आचार्य अभयदेव जैन समाज की आस्था के सुदृढ आलवन वने।

आधार-स्थल

१ स चावगाढसिद्धान्त तत्त्वप्रेक्षानुमानत ।
वशी महाक्रियानिष्ठ श्री सघाम्भोजभास्कर ॥९७॥

२ अगद्वय विनाऽन्येषा कालादुच्छेदमाययु ।
वृत्तयस्तत्र सघानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥

३ श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्य दुष्करमप्यद ।
आचामाम्लानि चारब्ध ग्रन्थसपूर्णतावधि ॥११२॥ (प्रभा० चरित, पत्राक १६४)

४ तेरसी मुहुत्ते य भणिया पहुणो सासणदेवयाए भयवं ।
जग्गह सुयह वा ? तओ मंदसरेण वुत्तं पहुणा—कओ मे निद्दा ॥
देवीए भणियं—एआओ नवसुत्तकुक्कुडीओ उम्मोहेसु ।

(विविध तीर्थकल्प, पत्रांक १०४)

५ तम्हा नयाओ अभयदेवस्स कुट्ठ गयं । सुवण्णवण्णो सरीरो जाओ ।

(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९०)

६ पत्तनं प्राप्तशिष्या चाशापल्ल्यां धवलक्के ।
चतुराश्चतुरशीतिं श्रीमन्त आगतास्तथा ॥१२६॥
पुस्तकारूढवृत्तीनां प्रासादा विशदाशया ।
प्रत्येकं लेखयित्वा ते सूरीणां प्रददुर्मुदा ॥१२७॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १६५)

७ वार्तामाकर्ण्य श्राद्धैः सदसम्मतम् गुरवो भणिता—धर्मलाभ ।
कल्याणकेन भविष्यति, तदर्थं सिद्धान्त-लेखनं करिष्याम ॥

(खर० गच्छ, बृहद् गुर्वावलि, पत्रांक ७, ८)

८ प्रावर्त्तन्त नवाङ्गानामेव तद्वृत्तयः ।
श्री सुधर्मोपदिष्टेष्वस्तव्यस्तकाञ्चिका ॥१२८॥

(प्रभा० चरित, पत्रांक १६५)

३३. जनवल्लभ आचार्य जिनवल्लभ

जिनवल्लभ सूरि जनवल्लभ सूरि थे। वे विक्रम की बारहवी शताब्दी के आचार्य थे। उनका जन्म आशिका नगरी मे हुआ।

बचपन से ही उनके मस्तक पर से पिता का साया उठ गया था। मा के सरक्षण मे वे रहते थे और चैत्यवासी जिनेश्वर सूरि के पास अध्ययन करने जाते। अध्ययन करते-करते बालक के मन मे वैराग्य हुआ और उन्ही के पास दीक्षा ग्रहण की।

जिनवल्लभ की प्रतिभा से जिनेश्वर सूरि जी पहले से ही प्रभावित थे। उन्होने अपना उत्तराधिकारी बनाने हेतु विशेप प्रशिक्षण देने के लिए बालमुनि जिनवल्लभ को श्रमण जिनेश्वर के साथ नवागी टीकाकार अभयदेव सूरि के पास भेजा। वे दोनो गुरु का आशीर्वाद पाकर अणहिल्लपुर पाटण पहुचे। अभयदेव सूरि भी स्फूर्त मनीपा के धनी जिनवल्लभ जैसे योग्य शिष्य को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने थोडे ही समय मे जिनवल्लभ को सिद्धान्त का पारगामी विद्वान् बना दिया। एक पडित के सहयोग से ज्योतिपशास्त्र पर भी जिनवल्लभ मुनि जी ने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था।

अध्ययन की परिसमाप्ति पर वे पुन अपने दीक्षागुरु जिनेश्वर सूरि से मिलने गए पर अब वे उनके नही रहे थे। जिनवल्लभ ने चैत्यवास को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया और अभयदेव सूरि के पास आकर उन्होने नवीन दीक्षा ग्रहण की।

जिनवल्लभ मुनि को योग्य समझते हुए भी किसी विशेष परिस्थितिवश अभयदेव सूरि ने उन्हे आचार्य पद पर नियुक्त न कर वाचनाचार्य के रूप मे स्वतन्त्र विहरण करने का आदेश दे दिया। जिनवल्लभ मुनि बहुत लम्बे समय तक पाटण के आसपास घूमते रहे।

एक बार वे चित्तौड गए। प्रारम्भ मे उनका विरोध हुआ। धीरे-धीरे उनकी विद्वत्ता का प्रभाव जमने लगा और उनके अनेक अनुयायी बने। धारा नगरी के राजा नरवर्मदेव पर भी उनका अच्छा प्रभाव था। वी० नि० १६३७ (वि० ११६७) आपाढ शुक्ला ७ को देव भद्राचार्य ने पाटण मे जिनवल्लभ सूरि को अभयदेव सूरि के स्थान पर आचार्य रूप मे नियुक्त किया।

जिनवल्लभ सूरि पद से पहले गणी अभिधा से प्रसिद्ध थे। अपने युग के वे भारी विद्वान् आचार्य हुए। षड्दर्शन किरणावली, न्याय, तर्क, पाणिनीय आदि व्याकरणों के सूत्र उन्हें कंठाग्र थे। चौरासी नाटक, सम्पूर्ण ज्योतिषशास्त्र, छन्द ग्रन्थों के भी वे विशेष मर्मज्ञ थे।

वे अच्छे साहित्यकार भी थे। उन्होंने (१) आगमिक वस्तु विचार सार, (२) शृंगार शतक, (३) प्रश्नषष्टि शतक, (४) पिंड विशुद्ध प्रकरण, (५) गणधर सार्ध शतक, (६) पौषध विविध प्रकरण, (७) संघ पट्टक प्रतिक्रमण समाचारी, (८) धर्म शिक्षा, (९) धर्मोपदेशमय द्वादश मूलक रूप प्रकरण, (१०) प्रश्नोत्तर शतक, (११) स्वप्नाष्टक विचार, (१२) चित्रकाव्य, (१३) अजित शान्ति स्तवन, (१४) भवारिवारण स्तोत्र, (१५) जिनकल्याण स्तोत्र, (१६) जिन चरित्रमय जिन स्तोत्र, (१७) महावीर चरित्रमय वीरस्तव आदि कई सारगर्भित ग्रन्थों की रचना की।

जनवल्लभ आचार्य जिनवल्लभ वी० नि० १६३७ (वि० ११६७) कार्तिक कृष्णा द्वादशी को रात्रि के चतुर्थ प्रहर में परमेष्ठी ध्यान में तल्लीन थे। उसी अवस्था में द्विदिवसीय अनशन के साथ उनका स्वर्गवास हो गया।

गणी रूप में उन्होंने जैन दर्शन की अच्छी प्रभावना की। आचार्य पद को वे केवल चार महीनों तक ही विभूषित कर पाए।

३४ उर्जाकेन्द्र आचार्य अभयदेव (मल्लधारी)

जयसिंह सूरि के शिष्य मल्लधारी अभयदेव हर्षपुरी गच्छ के आचार्य थे। हर्षपुरी गच्छ का सम्बन्ध प्रश्नवाहन कुल कोटिक गण की मध्यम शाखा से था।

गुर्जराधिपति सिद्धराज ने उनको मल्लधारी की उपाधि से विभूषित किया। कुछ इतिहासकारो के अभिमत से इस उपाधि के प्रदाता गुर्जरनरेश कर्ण थे।

मल्लधारी जी का अनेक राजाओ पर प्रभाव था। अजमेर के महाराजा जयसिंह ने उनकी प्रेरणा से अपने सम्पूर्ण राज्य मे अष्टमी, चतुर्दशी और शुक्ला पचमी के दिन 'अमारि' की घोषणा की।

भुवनपाल राजा ने जैन मन्दिर के पुजारियो से कर वसूल करना छोडा, शाकभरी के महाराजा पृथ्वीराज और सौराष्ट्र के अधिनायक खेंगार भी उनसे प्रबुद्ध हुए।

सहस्राधिक जैनेतरो को जैन बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी उन्होने किया। वे वी० नि० १६१२ (वि० ११४२) माघ शुक्ला पचमी के दिन पार्श्वनाथ की अन्तरिक्ष प्रतिमा-प्रतिष्ठा के समय विद्यमान थे।

जीवन के अन्तिम समय मे उन्होने अजमेर की धरा पर ४७ दिन का अनशन किया। गुर्जर नरेश सिद्धराज अनशन की स्थिति मे गुजरात से चलकर उनके दर्शनार्थ वहा आए।

अपने व्यक्तित्व का अद्वितीय प्रभाव जनमानस पर छोडकर वी० नि० १६३८ (वि० ११६८) मे वे स्वर्गगामी बने। उनकी शवयात्रा भारी भीड के साथ सुबह सूर्योदय से प्रारम्भ हुई और साझ तक श्मशान घाट पहुची। मन्त्रीगण सहित महाराजा जयसिंह श्मशान तक पहुचाने गए। देह सस्कार के बाद मल्लधारी जी की राख को महान् रोगविनाशक समझकर लोग अपने-अपने घर ले गए।

जिनके हाथ राख न लगी उन्होने वहा की मिट्टी को भी प्रसादरूप मे ग्रहण किया।

इन प्रसगो से मल्लधारी जी अपने युग के महान् प्रभावी आचार्य सिद्ध होते हैं।

३५ वर वर्चस्वी आचार्य वीर

वीराचार्य चन्द्रगच्छ की पाडिल्ल शाखा के आचार्य थे।[1] वे विजयसिंह सूरि जी के शिष्य थे।[2] वे योगविद्या के धनी थे। गुजरात का राजा सिद्धराज उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध था।

अणहिल्ल पाटणपुर सिद्धराज की निवासस्थली थी। कुछ समय तक वहा वीराचार्य का विराजना हुआ। गाढ मित्रता के कारण एक दिन सिद्धराज ने प्रार्थना की "आपको सदा-सदा के लिए यही विराजना होगा। अन्यत्र कही आपका विहार मेरी इच्छा के प्रतिकूल है।"

वीराचार्य ने कहा—"किसी कारण-विशेष के विना एक स्थान पर सदा-सदा के लिए रहना मुनियो का आचार नही है।

मोहमूढता के कारण राजा को यह बात मान्य नही हुई। उसने कहा—"मै आपको किसी भी प्रकार जाने नही दूगा।" नगर के बाहर हर दरवाजे पर राजा ने कडा पहरा लगा दिया।[3]

वीराचार्य ने यह बात सुनी। वे राजा को अपनी विद्या का चमत्कार दिखाना चाहते थे। सन्ध्या-प्रतिक्रमण के बाद वे महायोग प्राणव्य विद्या के द्वारा व्योममार्ग से सीधे पल्लीग्राम मे पहुच गए।[4]

प्रभात मे राजा सिद्धराज को इस घटना की सूचना मिली। उसे बहुत दु ख हुआ। कुछ दिनो बाद पल्ली के कुछ ब्राह्मण राजा के पास आए और उन्होने वीराचार्य के पल्लीग्राम मे पदार्पण की तिथि-वार सहित बात कह सुनाई। राजा घटना को सुनकर बहुत विस्मित हुआ। उसने मन्त्रियो के साथ अपनी नगरी मे पदार्पण के लिए वीराचार्य को आमन्त्रण भेजा।

गाव-नगर विहरण करते हुए सूरि जी का अणहिल्ल पाटणपुर मे आगमन हुआ। राजकृत भारी सम्मान के साथ नगरी मे सूरि जी का प्रवेश करवाया गया। वहा पर गोविन्दसिंह सूरि जी की सहायता से वीराचार्य ने वादीसिंह साख्य विद्वान् को धर्मचर्चा मे पराजित किया। सिद्धराज ने इस प्रसग पर वीराचार्य को 'जय पत्र' प्रदान किया।[5] महाबोधपुर मे वाद-कौशल पर उन्हे राजा के द्वार छत्र-चामर आदि भेंट किए गए थे।[6]

कमलकीर्ति नामक दिगम्बर विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ करने मे वे भी विजयी हुए।[७] वीराचार्य के जन्म व दीक्षा की तिथि-मिति का उल्लेख नही मिलता है, पर वे वी० नि० १६३० (वि० स० ११६०) मे विद्यमान थे।

आधार-स्थल

१ श्रीमच्चन्द्रमहागच्छसागरेरत्नशैलवत् ।
अवान्तराख्यया गच्छ पडिल्ल इति विश्रुत ॥४॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६७)।

२ श्रीमद्विजयसिंहाख्या सूरयस्तत्पदेऽभवन् ।
प्रतिवादि द्विपघटाकटपाटललम्पटा ॥६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६७),

३ भूप प्राह न दास्यामि गन्तु निजपुरात् तु व ।
सूरिराह निषिध्यामो यान्त केन वय ननु ॥१३॥
इत्युक्त्वा स्वाश्रय प्रायाद् सूरिर्भूरिकलानिधि ।
रुरोध नगरद्वार सर्वान् नृपतिनरै ॥१४॥

(प्रभा चरित, पृ० १६७),

४ अध्यात्मयोगत प्राणनिरोधाद् गगनाध्वना ।
विद्यावलाच्च ते प्रापु पुरी पल्लीति सञ्ज्ञया ॥१६॥
५ जय पत्नार्पणादस्या ददे तेज पर तदा ।
द्रव्य तु नि स्पृहत्वेन स्पृशत्यपि पुनर्न स ॥६६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६६)।

६ महाबौधपुरे बोद्धान् वादे जित्वा बहूनथ ।
गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजिता ॥३१॥
परप्रवादिनस्तैश्च जितास्तेपा च भूपति ।
छत्रचामरयुग्मादि राजचिह्नान्यदान्मुदा ॥३२॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६८)

७ वादी कमलकीर्त्यास्य आशाम्बरयतीश्वर ।
वादमुद्राभृदभ्यागादवज्ञातान्यकोविद ॥७८॥
आस्थान सिद्धगजस्य जिहृवा कन्डूययार्दित ।
वीराचार्य स आहृवास्त ब्रह्मास्त्र विदुपा रणे ॥८६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १६६)

३६ जनप्रिय आचार्य जिनदत्त

खरतरगच्छ के परम प्रभावक सुविहितमार्गी आचार्य जिनदत्त जिनवल्लभ सूरि के शिष्य थे।

वर्तमान में वे बड़े दादा नाम से प्रख्याति-प्राप्त हैं। उनका जन्म वी० नि० १६०२ (वि० ११३२) में हुंबड जातीय श्रेष्ठी वंश में हुआ। उनके पिता का नाम वाच्छिग और माता का नाम वाहड था।

उपाध्याय धर्मघोष मुनि के पास वी० नि० १६११ (वि० ११४१) में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षा का नाम सोमचन्द्र हुआ।

सोमचन्द्र की स्फुरित मनीषा पर श्रमण वर्ग आश्चर्यचकित था। सात वर्ष तक पाटण में उन्होंने जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया और दिग्गज विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ कर वे विजयी बने।

हरिसिंहाचार्य उनकी प्रतिभा पर अत्यन्त मुग्ध थे। उन्होंने सकल सिद्धान्तों की वाचना के साथ अपनी अध्ययन-सम्बन्धी सामग्री भी जिनदत्त सूरि को प्रसन्नतापूर्वक दे दी थी।

चित्तौड़ में वी० नि० १६३९ (वि० ११६९) वैशाख कृष्ण षष्ठी शनिवार को देवभद्राचार्य ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया और जिनदत्त के नाम से उनकी प्रसिद्धि हुई। पाटण में उन्हें युग-प्रधान पद मिला।

आचार्य जिनदत्त के युग में चैत्यवास की धारा राज्याश्रय को प्राप्त कर बड़े वेग से बह रही थी। सुविहित विधिमार्ग पर चलने वाले जैनाचार्यों के लिए वह कड़ी कसौटी का युग था।

जिनदत्त सूरि की नई सूझ-बूझ ने धर्म-विस्तार के लिए नये आयाम खोले। सत्य के प्रतिपादन में उनकी नीति बहुत विशुद्ध थी। किसी भी प्रलोभन में आकर उन्होंने उत्सूत्र की प्ररूपणा नहीं की।

उनके शासनकाल में जैनीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ।

जिनदत्त सूरि ने अपने भगीरथ प्रयत्न से एक लाख छत्तीस हजार जैन बनाकर जैनशासन की प्रभावना में नया कीर्तिमान स्थापित किया।

असत् तरीकों से संख्या बढ़ाने का व्यामोह उनमें बिल्कुल नहीं था। वे स्पष्ट

कहते—"चर्मरोगी पर वहुल-सी मक्खिया चिपकती है, इससे वेदना वढती है। अधिक परिवार से कल्याण नहीं होता। शूकरी के वहुत सन्तानि होती है पर खाने को क्या मिलता है ? गलत प्रकार से श्रावको की सख्या वढाना कभी श्रेयस्कर नही है। सही प्रतिवोध से वना एक श्रावक भी अच्छा है।"

सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भापा के वे अधिकारी विद्वान् थे। उन्होने इन तीनो भापाओ मे 'सदेह-दोहावली' आदि अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थो का निर्माण किया।

मारवाड, सिंध, गुजरात, वागड, मेवाड और सौराष्ट्र उनके मुख्य विहरण-स्थल थे। जैन सख्या का विस्तार उनके जीवन की अभूतपूर्व देन है। सख्यावृद्धि सुविहित विधिमार्ग की नीव को मजवूत करने मे परम सहायक सिद्ध हुई। आचार्य जिनदत्त सूरि की इस प्रवृत्ति का अनुकरण समस्त जैन समाज कर पाता तो आज जैनो की सख्या सभवत कई करोड तक पहुच जाती।

अनशनपूर्वक वी० नि० १६८१ (वि० १२११) आषाढ शुक्ला एकादशी के दिन जनप्रिय जिनदत्त सूरि स्वर्गगामी वने।

३७. नितात नवीन आचार्य नेमिचन्द्र

जैनविद्या के मनीषी टीकाकार नेमिचन्द्र का पूर्व नाम देवेन्द्र गणि था। उन्होने वि० ११२९ मे उत्तराध्ययन पर 'सुखबोधा' नामक टीका लिखी है। इसी टीका की प्रशस्ति मे इनका सक्षिप्त जीवन-परिचय प्राप्त होता है। उनके गुरु का नाम आम्रदेव था। आम्रदेव बृहद् गच्छीय उद्योतन सूरि के शिष्य थे। मुनिचन्द्र इनके गुरुभ्राता थे।

नेमिचन्द्र सूरि का सस्कृत और प्राकृत दोनो भाषाओ पर आधिपत्य था। प्राकृत मे इनका 'महावीर चरित्र' पद्यबद्ध ग्रथ रत्न है। इसकी परिसमाप्ति वि० ११४१ मे अनहिल पाटन नगर के दोहड श्रेष्ठी की वसति मे हुई थी।

'सुखबोधा' टीका का निर्माण भी इसी श्रेष्ठी के यहा गुरुभ्राता मुनिचन्द्र की प्रेरणा से शान्त्याचार्य की 'शिष्यहिता' टीका के आधार पर हुआ था। इस टीका-रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए स्वय नेमिचन्द्र सूरि लिखते है.

आत्मस्मृतये वक्ष्ये जडमति सक्षेपरुचिहितार्थं च।
एकैकार्थनिबद्धावृत्ति शुभस्य सुखबोधाम ॥२॥
बह्वर्थाद् वृद्धकृताद्, गम्भीराद् विवरणात् समुद्धृत्य
अध्ययनानामुत्तरपूर्वाणामेकपाठगताम् ॥३॥
अर्थान्तराणि पाठान्तराणि सूत्रे च वृद्धटीकात
बोद्धव्यानि यतोऽय, प्रारम्भो गमनिकामात्रम् ॥४॥

—मन्दमति और सक्षेप रुचिप्रधान पाठको के लिए मैंने अनेकार्थ गम्भीर विवरण से पाठान्तरो और अर्थान्तरो से दूर रहकर इस टीका की रचना की है।

अर्थान्तरो और पाठान्तरो के जाल से मुक्त होने के कारण इस टीका की 'सुखबोधा' सज्ञा सार्थक भी है।

टीका की इस विशेषता ने 'सरपेन्टियर' को बहुत अधिक प्रभावित किया था। उन्होने पाठ-निर्धारण मे इसी टीका को प्रमुखता दी और टिप्पण भी लिखे।

इस टीका की एक और विशेषता प्राकृत कथानको का सविस्तार वर्णन है।

शान्त्याचार्य ने अपनी 'शिष्यहिता' टीका मे जिन कथानको का एक दो पक्ति मे सकेतमात्र दिया है नेमिचन्द्र सूरि ने उन कथानको के साथ अन्य

ग्रन्थो से प्राप्त सामग्री जोड़कर उन्हे रोचक और मन्द बुद्धिवालो के लिए भी सुपाच्य बना डाला है।

इन कथानको की सरसता ने पाश्चात्य विद्वानो का ध्यान भी अपनी ओर खीचा है।

अठारह भाषाओ के विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी ने इन कथाओ का स्वतत्र रूप से सग्रह किया। मुनि जिनविजय जी द्वारा भी प्राकृत कथा-सग्रह के नाम से उनका प्रकाशन हुआ।

जे० जे० मेयर ने अग्रेजी भाषा मे इनका अनुवाद स० १९०९ मे किया था।

ल्यूमेन भी इन कथाओ पर अवश्य मुग्ध रहे हैं तभी तो इन्होंने नेमिचन्द्र सूरि द्वारा कथा-प्रसग के साथ प्रयुक्त पूर्व प्रबन्ध मे पूर्व शब्द को निस्सकोच भाव से दृष्टिवाद के अश का सूचक माना है।

यह टीका सक्षिप्त मूल पाठ का स्पर्श करती हुई अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। यह प्राकृत कथाओ की प्रचुरता के कारण हरिभद्र की शैली का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। वैराग्यरस से परिप्लावित ब्रह्मदत्त और अगड़दत्त जैसी कथाओ के साहचर्य से इस सुविशाल टीका मे प्राणवत्ता आ गयी है और विभिन्न ग्रन्थो के व गाथाओ के उद्धरण तथा सोदाहरण नाना विषयो की विवेचना के कारण इसकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हुई है।

'महावीर चरित्र' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना भी आचार्य नेमिचन्द्र ने अनहिल्ल पाटण नगर के दोहड श्रेष्ठी की वसति मे की थी। इस ग्रन्थ का समापन-काल वी० नि० १६११ (वि० ११४१) है।

आचार्य नेमिचन्द्र सूरि ने उत्तराध्ययन के प्रथमाशो की जितनी विस्तृत टीका की है, उत्तराशो की टीका मे उतना विस्तार नही है। अन्तिम १२, १३ अध्ययनो की टीका अधिक सक्षिप्त होती गयी है। उनमे न कोई विशेष कथाए हैं और न कोई अन्य उद्धरण ही है।

शान्त्याचार्य की उत्तराध्ययन टीका की अपेक्षा नेमिचन्द्र सूरि की टीकागत कथाओ की विस्तार पद्धति पाठक के लिए नितात नवीन-सी प्रतीत होती है।

टीका-प्रशस्ति मे प्राप्त उल्लेखानुसार आचार्य नेमिचन्द्र वी० नी० १६वी-१७वी सदी (वि० १२वी) के विद्वान् माने गए है।

३८ समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्र ध्यान पद्धति के विशिष्ट व्याख्याता एव सस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी जीवन-परिचायिका सामग्री बहुत कम प्राप्त है। इनकी जन्मभूमि, माता-पिता के सम्बन्ध मे भी प्रामाणिक तथ्य अनुपलब्ध रहे हैं।

साहित्यिक क्षेत्र मे आचार्य शुभचन्द्र की विशिष्ट कृति ज्ञानार्णव ग्रन्थ है। मालिनी, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित आदि वृत्तो मे रचित तथा ४२ प्रकरणो मे विभक्त यह सुविशाल ग्रन्थ ध्यान विषयक प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान का सूक्ष्मता से विश्लेषण, आग्नेयी मारुती, वारुणी, पार्थिवी धारणाओ की विस्तार से परिचार्चा, धर्मध्यान, शुक्ल-ध्यान का स्वरूप निर्णय, आज्ञा-विचय, अपाय विचय, विपाक-विचय, सस्थान-विचय का विवेचन, मन के विभिन्न स्तरो का बोध, कर्मक्षय की प्रक्रिया, उनके व्यवस्थित क्रम का दिशा-निर्देश, बारह भावना, पाचमहाव्रत आदि बहुविध विषयो का ध्यान योग के साथ स्पष्ट और सुसगत प्रतिपादन इसमे हुआ है। सरस एव प्राजल शैली मे प्रस्तुत सरल-रमणीय यह कृति आचार्य शुभचन्द्र के प्रगल्भ पाण्डित्य, मर्मभेदिनी प्रज्ञा तथा विभिन्न दर्शनो के विमशन से प्राप्त बहुश्रुतता का प्रति-बिम्ब है।

विशाल परिमाण की इस रचना मे भी आचार्य शुभचन्द्र का व्यक्तिश परि-चय नही के बराबर है। लेखक ने अपने सबन्ध मे कुछ भी सकेत नही दिया है। पाठक वर्ग से स्व को अप्रकाशित रखने का यह भाव उनके निगर्वी मानस का प्रतीक हो सकता है पर इतिहास-गवेषको को अपने साथ न्याय नही लगता।

आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र एव कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र तीनो योग के महान् व्याख्याकार थे। आचार्य शुभचन्द्र का नाम इनमे मध्यवर्ती है। आचार्य हरिभद्र इनसे पूर्व थे। आचार्य हेमचन्द्र इनसे बाद के है।

समाधि-सदन आचार्य शुभचन्द्र पर आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलक, अमृत-चन्द्र, सोमदेव, अमितगति की कृतियो का पर्याप्त प्रभाव प्रतीत होता है। ये सब इनसे पूर्ववर्ती विद्वान् थे। आचार्य हरिभद्र इन सबसे और पूर्व के थे। आचार्य हेमचन्द्र की यौगिक कृति 'योगशास्त्र' को देखने से लगता है उनपर आचार्य शुभ-

३९ प्रेक्षा-पयोद (मल्लधारी) आचार्य हेमचन्द्र

चार पत्नियो के स्नेहपाश को तोडकर सन्यास पथ पर चरण बढाने वाले आचार्य हेमचन्द्र मल्लधारी हेमचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे प्रश्न-वाहन कुल की मध्यम शाखा मे हर्षपुरीय गच्छ के मल्लधारी अभयदेव सूरि के शिष्य थे। उनका जीवन-परिचय मल्लधारी राजशेखर की प्राकृत रचना—द्वयाश्रय की वृत्ति से प्राप्त होता है। इस वृत्ति की प्रशस्ति के अनुसार मल्लधारी हेमचन्द्र राजमन्त्री थे। प्रद्युम्न उनका नाम था।

मुनि-जीवन मे वे हेमचन्द्र के नाम से विख्यात हुए। बडी अवस्था मे दीक्षित होकर भी उन्होने श्रुत की सम्यक् आराधना की। ज्ञान-महार्णव भगवती का पारायण करना भी बहु श्रमसाध्य है। आचार्य जी ने अपने नाम की भाति उसे कठाग्र कर लिया। वे प्रबल स्वाध्यायी साधक थे। उनकी अध्ययन-परायण रुचि ने लगभग लक्षाधिक ग्रन्थो का वाचन किया। उनकी पठन सामग्री मे प्रमाण-शास्त्र और व्याकरणशास्त्र जैसे गभीर ग्रन्थ भी थे। उनकी पैनी प्रतिभा ग्रन्थो की शब्दमयी पर्तों को चीरकर अर्थ की गहराई तक पैठ जाती थी।

वे श्रेष्ठ वाग्मी थे। उनकी ध्वनि मेघ की तरह गभीर थी। आधुनिक युग के ध्वनिवर्धक जैसे कोई भी साधन उस समय विकसित नही थे। फिर भी दूर-दूर तक उनकी आवाज स्पष्ट सुनाई देती। उनकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर और आकर्षक थी। मिश्री-सा मिठास उनके स्वरो मे उभरता। बहुत बार लोग उनके वचनो को उपाश्रय के बाहर खडे होकर भी तन्मयता से सुनते। वैराग्य रस से परिपूर्ण "उपमिति भव प्रपच कथा" जैसा दुरूह और श्रम साध्य ग्रन्थ भी उनके प्रवचनो मे सरल और आनन्दकारी प्रतीत होता। श्रोताओ की प्रार्थना पर निरन्तर तीन वर्ष तक वे इसी एक कथा पर व्याख्यान करते रहे। अजमेर के राजा जयसिंह उनके व्याख्यानो पर मुग्ध थे। शाकभरी का राजा पृथ्वीराज उनके व्याख्यान से प्रभावित होकर जैन बन गया था। भुवनपाल राजा भी उनका परम भक्त था।

मल्लधारी जी व्याख्यानकार ही नही साहित्यकार भी थे। उन्होने दस ग्रन्थो की रचना की है। (१) आवश्यक टिप्पण, (२) शतक विवरण, (३) अनुयोग द्वार वृत्ति, (४) उपदेशमाला सूत्र, (५) उपदेशमाला वृत्ति, (६) जीव समास

विवरण, (७) भव भावना सूत्र, (८) भव भावना विवरण, (९) नन्दि टिप्पण, (१०) विशेषावश्यक भाष्य बृहद् वृति । ये नाम विशेषावश्यक भाष्य की बृहद् वृत्ति मे उपलब्ध है। इन ग्रन्थो का परिमाण ८०००० श्लोक है।

हरिभद्रकृत आवश्यक वृत्ति पर पाच हजार श्लोक परिमाण उन्होने टिप्पण रचा। यह आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्या के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दूसरा नाम हरिभद्रीयावश्यक वृत्ति टिप्पण भी है। 'उपदेशमाला मूल' और 'भव भावना मूल' उनकी सर्वप्रथम रचना है। इन दोनो ग्रन्थो पर चौदह हजार और छत्तीस हजार परिमाण उनकी स्वोपज्ञ वृत्तिया भी हैं।

मल्लधारी जी की अधिक प्रसिद्धि टीकाकार के रूप मे है। अनुयोग द्वार पर छह हजार श्लोक परिमाण और विशेषावश्यक भाष्य पर उन्होंने अट्ठाईस हजार श्लोक परिमाण बृहद् वृत्ति लिखी है। ये दोनो ही वृत्तिया सरल और सुबोध हैं। स्थूल बुद्धि के पाठक के उपकारार्थ इनकी रचना हुई है। आवश्यक वृत्ति मे स्वर-विद्या, निमित्तविद्या, गणितविद्या तथा इसी प्रकार अन्य विद्याओ से सम्बन्धित अनेक उपयोगी श्लोकों का अवतरण लेखक ने किया है। इस रचना का काल अभी अप्राप्त है।

विशेषावश्यक भाष्य बृहद वृत्ति मल्लधारी जी की सुविशाल कृति है। इसे 'शिष्यहिता' वृत्ति भी कहते हैं। इसमे भरपूर दार्शनिक चर्चाए हैं। प्रश्नोत्तर-प्रधान होने के कारण इसकी शैली मे गोंद का-सा लोच पैदा हो गया है। इसे पढ़ते-पढते पाठक का मन कुछ समय के लिए कृति के साथ गहरा चिपक जाता है। स्थान-स्थान पर सस्कृत कथाओ के प्रस्तुतीकरण ने इसे और भी रुचिप्रद बना दिया है। यह एक ही कृति मल्लधारी जी के व्यक्तित्व की पर्याप्त परिचायिका है। सस्कृत टीका साहित्य की श्री वृद्धि भी इसमे सुविस्तृत हुई है।

विजयसिंह, श्रीचन्द्र, विबुधचन्द्र नामक तीन उनके विद्वान् शिष्य थे। श्रीचन्द्र सूरि महान् साहित्यकार थे। साहित्य-साधना से इन्होने अपने गुरु हेमचन्द्र का नाम बहुत उजागर किया। अतिम समय मे आचार्य मल्लधारी हेमचन्द्र को सात दिनो का अनशन आया। राजा सिद्धराज स्वय इनकी शवयात्रा मे सम्मिलित हुए और श्मशान भूमि तक पहुचे।

मल्लधारी जी के शिष्य विजयसिंह सूरि वी० नि० १६१२ (वि० स० ११४२) मे विद्यमान थे। मल्लधारी हेमचन्द्र का काल-निर्णय अभी तक अनुसन्धान मागता है। उनकी स्वहस्त लिखित जीव समास वृत्ति मे उन्होने वी० नि० १६३४ (वि० ११६४) का उल्लेख किया है। विजयसिंह सूरि का काल सम्वत् देखते हुए लगता है, यह सम्वत् उनके शिष्यकाल का है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने जीव समास वृत्ति की प्रतिलिपि अवश्य वृद्धावस्था मे की है।

४० विद्वद्वैडूर्य आचार्य वादिदेव

प्रमाणतत्त्व लोकालकार के रचनाकार आचार्य वादिदेव गुजरात के मदाहृत (मड्डाहृत) गाव के थे। जाति मे वे पोरवाल थे। उनके पिता का नाम वीरनाग और माता का नाम जिनदेवी था।

जिनदेवी ने एक दिन स्वप्न मे चन्द्रमा को अपने मुख मे प्रवेश करते हुए देखा। उसने अपने स्वप्न की बात मुनिचन्द्र के सामने कही। स्वप्न का फलादेश बताते हुए मुनिचन्द्र बोले—"बहिन! चन्द्रमा के समान प्रतापी प्राणी का तुम्हारी कुक्षि मे अवतार हुआ है। वह प्राणी भविष्य मे विश्व के लिए आनन्दकारी होगा।" आचार्यश्री के मुख से यह बात सुनकर जिनदेवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। गर्भकाल की सम्पन्नता पर उसने वी०नि० १६१३ (वि० ११४३) मे कलिकालाद्रि को भी प्रकम्पित कर देने मे वज्रोपम द्युति के समान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। चन्द्र-स्वप्न के आधार पर पिता वीरनाग ने पुत्र का नाम पूर्णचन्द्र रखा।[1]

पूर्णचन्द्र ने ६ वर्ष की अवस्था मे आचार्य मुनिचन्द्र के पास दीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षा नाम रामचन्द्र रखा गया। रामचन्द्र मुनि प्रखर प्रतिभासम्पन्न थे। वे आचार्य मुनिचन्द्र से न्यायविषयक दुरवबोध ज्ञान ग्रहण करने मे सफल सिद्ध हुए। जैनेतर सिद्धान्तो का उन्होने गम्भीर अध्ययन किया। शास्त्रार्थ करने मे भी वे अत्यन्त निपुण थे।

धवलक नगर मे शैवमत-समर्थक बन्ध के साथ, सत्यपुर मे काश्मीर और सागर विद्वान के साथ, नागपुर मे दिगम्बर पडित गुणचन्द्र के साथ, चित्रकूट मे भागवत शिवभूति के साथ, गोपपुर मे गगाधर के साथ, धारानगरी मे धरणीधर के साथ, पुष्करणी मे ब्राह्मण विद्वान् पद्माकर के साथ और भृगुकच्छ मे कृष्ण नामक विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ कर रामचन्द्र मुनि विजय को प्राप्त हुए थे।

विमलचन्द्र, हरिचन्द्र, सोमचन्द्र, पार्श्वचन्द्र, शान्तिचन्द्र और अशोकचन्द्र—ये छह विद्वान् मुनि रामचन्द्र के वाग्मित्व से प्रभावित होकर उनके परम सखा बन गए।

रामचन्द्र मुनि को वी० नि० १६४४ (वि० ११७४) मे आचार्य पद पर

विभूषित किया गया और आचार्य पद पर उनका नाम देव रखा गया।[१] इसी अवसर पर चन्दनवाला नामक साध्वी को महत्तरा पद से अलकृत किया गया। साध्वी चन्दनवाला वीरनाग की वहिन थी।

आचार्य मुनिचन्द्र के आदेश से वे स्वतन्त्र विहरण करने लगे। एक वार वे धवलक नगर मे पहुचे, वहा जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

आचार्य मुनिचन्द्र का वी० नि० १६४८ (वि० ११७८) मे स्वर्गवास हुआ। उसके वाद वे मारवाड की तरफ आए। विद्वान् देववोध के द्वारा उनकी प्रशसा सुनकर नागपुर के राजा ने उनका भारी सम्मान किया था।

वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन वी० नि० १६५१ (वि० ११८१) मे पाटण के अधिनायक सिद्धराज की अध्यक्षता मे उनका दिगम्वर विद्वान् कुमुदचन्द्र के साथ महान् शास्त्रार्थ हुआ।[३] केशव आदि तीन विद्वान् प्रतिवादी कुमुदचन्द्र के पक्ष का तथा श्रीपाल और भानु नामक दो विद्वान् आचार्य देव का समर्थन कर रहे थे। महर्षि उत्साह, सागर और राम ये तीन विद्वान् उम सभा के प्रमुख सभासद् थे। वत्तीस वर्ष की अवस्था के युवा सन्त हेमचन्द्र, महान् विद्वान् श्रमण श्रीचन्द और राज वैतालिक भी वहा पर उपस्थित थे।

इस महान् शास्त्रार्थ मे आचार्य देव विजयी हुए। सिद्धराज ने उन्हे तुष्टिदान (एक लाख स्वर्ण मोहर) के साथ वादी की उपाधि से अलकृत किया। उसी दिन से वे वादिदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

आचार्य वादिदेव कुशल साहित्यकार थे। विभिन्न दर्शनो का अवगाहन कर उन्होने 'प्रमाणनयतत्त्व लोकालकार' की रचना की थी। यह ग्रन्थ ३७४ सूत्र और ८ परिच्छेदो मे निवद्ध न्यायविषयक मौलिक रचना है।

इस ग्रन्थ पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक सोपज्ञ टीका भी उनकी है।[४]

आचार्य वादिदेव आचार्य सिद्धसेन की कृतियो के प्रमुख पाठक थे। दिवाकर जी का 'सन्मति तर्क' उनका प्रिय ग्रन्थ था। 'स्याद्वाद-रत्नाकर' की रचना मे स्थान-स्थान पर उन्होने 'सन्मति तर्क' का उल्लेख किया है।

आचार्य वादिदेव की शिष्य मडली मे भद्रेश्वर और रत्नपुत्र नामक विद्वान् श्रमण थे। 'स्याद्वाद रत्नाकर' की रचना मे इन दोनो शिष्यो का उन्हे पूर्ण सहयोग था।

शिष्य भद्रेश्वर को उन्होने आचार्य पद पर नियुक्त किया।[५] मारवाड और गुजरात को चरणो से पवित्र करते हुए आचार्य वादिदेव वी० नि० १६९६ (वि० १२२६) श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन ८३ वर्ष की अवस्था मे स्वर्गगामी वने।[६] आचार्य वादिदेव के जीवन से सबद्ध विशेष घटनाओ के काल-परिचायक सवत् निम्नोक्त श्लोक है

शिखिवेदशिवे (११४३) जन्म दीक्षा युग्मशरेश्वरे (११५२) वेदाश्वशकरे

वर्षे (११७४) सूरित्वमभवत् प्रभो ॥२८६॥
नवमे वत्सरे दीक्षा एकविंशत्तमे तथा।
सूरित्व सकलायुश्च व्यशीतिवत्सरा अभूत् ॥२८७॥
आचार्य वादिदेव विद्वद् समाज मे वैडूर्य के समान थे।

आधार-स्थल

१ हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने।
चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्या तत्पिता व्यधात् ॥१४॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १७१)

२ ततो योग्य परिज्ञाय रामचन्द्र मनीषिणम्।
प्रत्यष्ठिपन् पदे दत्तदेवसूरिवराभिधम् ॥४५॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १७२)

३ चन्द्राष्टशिववर्षेऽत्र (११८१) वैशाखे पूर्णिमादिने।
आहूतौ वादशालाया तौ वादिप्रतिवादिनौ ॥१६३॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १७८)

४ स्याद्वादपूर्वक रत्नाकर स्वादुवचोऽमृतम्।
प्रमेयशतरत्नाढ्यममुक्त स किल श्रिया ॥२८०॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १८१)

५ श्री भद्रेश्वरसूरीणा गच्छभार समर्प्य ते।
जैनप्रभावनास्थेमनिस्तुपश्रेयसि स्थिता ॥२८३॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १८१)

६ रसयुग्मरवौ वर्षे (१२२६) श्रावणे मासि सगते।
कृष्णपक्षस्य सप्तम्यामपराह्णे गुरोर्दिने ॥२८४॥
मर्त्यलोकस्थित लोक प्रतिबोध्य पुरदरम्।
बोधका इव ते जग्मुर्दिव श्री देवसूरय ॥२८५॥

(प्रभा० चरित, पत्राक १८१)

४१ ज्ञान-पीयूष पाथोधि आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र श्रमण सस्कृति के उज्ज्वल रत्न थे। वे वी० नि० १६१५ (वि० ११४५) मे जन्मे। कार्तिकी पूर्णिमा के दिन इस नवोदित चमकते चान्द को पाकर माता पाहिनी और पिता चाचिग का धन्धुका निवासी ओढ वणिक् परिवार ही नही, पूरा गुजरात ही धन्य हो गया।

वालक जव गर्भ मे आया था उस समय पाहिनी ने स्वप्न मे देखा—वह चिन्तामणि रत्न को गुरु के चरणो मे भक्ति-विशेष से समर्पित कर रही है। उस समय धन्धुका नगर मे चन्द्रगच्छीय पद्मसूरि के शिष्य श्री देवचन्द्र सूरि विराजमान थे। पाहिनी ने अपने स्वप्न की वात उनके सामने कही। गुरु ने कहा—"पाहिनी! जैन शासन सागर की कौस्तुभ मणि के समान तुम्हारा पुत्र तेजस्वी होगा।"[1]

गुरु के कथन के अनुसार ही देदीप्यमान तेजस्वी पुत्ररत्न को देखकर पाहिनी को अत्यधिक प्रसन्नता हो रही थी। चन्दन को उत्पन्न करने वाली मलयाचल चूला की तरह नन्दन की प्राप्ति से वह गौरवान्वित हुई। उल्लासमय वातावरण मे वारहवे दिन पुत्र का नाम चगदेव रखा गया।

पाहिनी धर्मनिष्ठा और श्राविका थी। एक दिन वह पुत्र चगदेव को लेकर देवचन्द्र सूरि का प्रवचन सुनने गयी। देवचन्द्र सूरि व्यक्ति के पारखी थे। उन्हे चगदेव के मुखमडल पर उभरने वाली अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओ मे उच्चतम व्यक्तित्व के दर्शन हुए। आचार्य देवचन्द्र ने पाहिनी से धर्म-सघ के लिए वालक की माग की और कहा—"तुम्हारे इस कुलदीप से जैन दर्शन की महान् प्रभावना होने की सभावना है"

गुरु के निर्देश से मार्ग-दर्शन प्राप्त पाहिनी ने अपने इकलौते पुत्र को पूर्व स्वप्न का स्मरण करते हुए धर्मसघ के लिए प्रसन्नतापूर्वक समर्पित कर दिया।

वालक का दीक्षा माघ शुक्ला चर्तुदशी शनिश्चर वार, वृहस्पति लग्न मे हुई। दीक्षा महोत्सव खभात के राजा उदयन ने किया था।

वालक का दीक्षा नाम सोमचन्द्र रखा गया।[2] मुनि सोमचन्द्र अपने शीतल स्वभाव और प्रखर प्रतिभा के कारण यथार्थ मे ही सोमचन्द्र थे। श्रमण सोमचन्द्र

ने तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र एव साहित्य की अनेक विध विधाओ का अध्ययन किया।

गुरु ने धर्म धुरा धोरेय श्रमण सोमचन्द्र को योग्य समझकर आचार्य पद पर नियुक्त किया। आचार्य पदप्राप्ति के समय सब प्रकार से ग्रह बलवान थे एव लग्न वृद्धिकारक थे। इस समय उनकी अवस्था २१ वर्ष की थी। आचार्य पद-प्राप्ति के बाद उनका नाम हेमचन्द्र हुआ।

उनकी माता पाहिनी ने भी श्रमण दीक्षा ग्रहण की और उन्हे प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया गया।[३] हेमचन्द्र की कीर्ति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही विस्तार पाने लगी। उनके जीवन मे सिद्धराज जयसिह और भूपाल कुमारपाल का योग मानव जाति के कल्याण के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

गुजरात-रत्न जयसिह सिद्धराज मालव से विजयमाला पहनकर लौटे। लक्ष्मी उनके चरणो मे नाच रही थी पर सरस्वती के स्वागत के बिना उनका मन खिन्न था। मालव धरा का भारी साहित्य उनके करकमलो की शोभा बढा रहा था। पर उनके पास न कोई अपनी व्याकरण थी और न जीवन को मधु-रस से ओत-प्रोत कर देने वाली काव्यो की अनुपम सम्पदा।

सिद्धराज ने इस क्षतिपूर्ति के लिए महान् प्रतिभाओ को आह्वान किया और उनकी सूक्ष्मबोधिनी दृष्टि सब विद्वानो को चीरकर आचार्य हेमचन्द्र पर जा टिकी। राजसभा मे उन्होने कहा—"मुनि नायक! विश्वलोकोपकार के लिए नये व्याकरण का निर्माण करो। इसमे तुम्हारी ख्याति है और मेरा यश है।"[४]

सिद्धराज का सकेत पाते ही हेमचन्द्र ने गुजरात के साहित्य मे चार चाद लगा दिये। सर्वांग परिपूर्ण सिद्धहेम व्याकरण उनकी प्रथम रचना थी[५] जिसे पाकर गुजरात का सहित्य चमक उठा। हाथी के हौदे पर रखकर उस व्याकरण का राज्य मे प्रवेश कराया गया। तीन सौ विद्वानो ने बैठकर उसकी प्रतिलिपिया तैयार की।[६] काश्मीर तक के पुस्तकालयो मे इस व्याकरण को सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त हुआ।[७]

अग, वग, कलिग, लाट, कर्णाटक, कुकुण, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिन्धु, सौवीर, नेपाल, पारस, मुरण्ड, हरिद्वार, काशी, गया, कुरुक्षेत्र, कान्यकुब्ज, गौड, श्री कामरूप, सपादलक्ष, जालधर, सिहल, कौशिक आदि अनेक नगरो मे इस व्याकरण साहित्य का प्रचार हुआ। ये प्राचीन काल मे सुप्रसिद्ध नगर थे।[८]

गुजरात के पाठ्यक्रम मे भी इसी व्याकरण की स्थापना हुई और उसके अध्यापन के लिए विशेष अध्यापको को नियुक्त किया गया। उनमे प्रमुख अध्यापक कायस्थ कुल का कवि चक्रवर्ती शब्दानुशासन-शासनाम्बुधि-पारद्रष्टा काकल

नामक विद्वान था।[१]

आठ विशाल अध्यायो में सम्पन्न, ३५६६ सूत्रो मे निबद्ध इस व्याकरण ने साहित्य के क्षेत्र मे वही स्थान प्राप्त किया जो पाणिनि तथा शाकटायन की व्याकरण को मिला था। प्रस्तुत व्याकरण मे सात अध्याय सस्कृत के और आठवा अध्याय प्राकृत का है।

प्राकृत उस समय आबाल-वृद्ध की भाषा थी अत उनके-प्रति करुणा से प्रेरित होकर ही हेमचन्द्र ने सस्कृतप्रधान व्याकरण मे प्राकृत का अध्याय जोडा था। व्याकरण के क्षेत्र मे हेमचन्द्र की इस पारगामी प्रज्ञा पर दिग्गज विद्वानो के मस्तक भी झुक गए।

उन्होने कहा

किं स्तुम शब्दपथोधे, हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापिहि येनेदृक् कृत शब्दानुशासनम्॥

प्रमाणमीमासा तथा अन्ययोगव्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका नामक दो द्वात्रिंशिकाओ की रचना मे सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की अवतारणा उनकी मनीषा का जबरदस्त चमत्कार था।

'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष' नामक कृति मे तिरेसठ महापुरुषो के जीवन-चरित्र लिखकर उन्होने साहित्य जगत् को बहुमूल्य रत्न भेट किया। तत्कालीन सास्कृतिक चेतना, सभ्यता का उत्कर्ष, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला और अध्यात्म आदि विविध विषयो को अपने मे गर्भित किये हुए यह ग्रन्थ इतिहास-प्रेमी पाठको के लिए अतिशय उपयोगी सिद्ध हुआ।

महाभारत के विषय मे कही गयी यह लोकोक्ति—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" प्रस्तुत काव्यात्मक शैली मे लिखे गये इस ग्रन्थ पर पूर्णत नही अधिकाशत अवश्य चरितार्थ होती है। अभिधान चिन्तामणि, हेम अनेकार्थ सग्रह, देशी नाममाला और निघटु कोष—इन चार ग्रन्थो मे रचनाकार ने शब्द-ससार का अलौकिक भण्डार भर दिया है।

अठारह सौ श्लोक परिमाण अभिधान चिन्तामणि कोष बहुत सुन्दर, सरल और सरस भाषा मे ग्रथित है और वह धनजय की प्रतिभा को भी विस्मृत करा देता है। हेमचन्द्र की इस पर स्वोपज्ञ-वृत्ति भी है।

काव्यानुशासन और छदोनुशासन मे भी उनकी अपनी सर्वथा स्वतन्त्र शक्ति का उपयोग हुआ है। "काव्यमानन्दाय" कहकर उन्होने काव्य के उच्चतम लक्ष्य का निर्धारण किया और मम्मट के द्वारा प्रस्तुत काव्यप्रयोजन की परिभाषा मे एक नया क्रम जोडा।

सस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य मे चोलुक्य वश का पूर्ण इतिहास और काव्य के सभी गुणो का स्फुट दर्शन एक साथ होता है।

योगशास्त्र उनकी योगविषयक अनूठी कृति है। यशपाल ने इसे साधक की सुरक्षा के लिए वज्र कवच के समान माना है। योगशास्त्र को पढ़ते ही शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव की स्मृति सहज हो जाती है। इसी प्रकार अर्हन्नीति, वीतराग स्तोत्र, नाभेयनेमिद्विसन्धान, द्विज वचन चपेटा, परिशिष्ट पर्व आदि का निर्माण उनकी हेम-सी निर्मल प्रतिभा का विशिष्ट उपहार था।

उनके पास रामचन्द्रसूरि जैसे साहित्यकारों की अच्छी मण्डली थी। लोकश्रुति है—चौरासी कलमें एक साथ उनके प्रशिक्षण केन्द्र में चलती थीं।

आचार्य हेमचन्द्र भविष्यवक्ता भी थे। सिद्धराज का उत्तराधिकारी कुमारपाल होगा—यह बात सबके सामने सिद्धराज के स्वर्गवास से सात वर्ष पूर्व ही उन्होंने कह दी। एक बार कुमारपाल को मृत्यु के क्रूर पंजों से बचाकर सिंहासन पर आरूढ होने से पहले ही उनको अपने अप्रतिहत तेज से प्रभावित कर लिया था।

सिद्धराज और हेमचन्द्र दोनों समवयस्क थे। राजा वास्तव में किसीके मित्र नहीं होते पर हेमचन्द्र के विशाल एवं उदार व्यक्तित्व के कारण महाराज के साथ उनकी मैत्री अन्तिम समय तक गहराती गयी।

सिद्धराज के स्वर्गवास के बाद कुमारपाल पाटण का शासक बना। आचार्य हेमचन्द्र की भविष्यवाणी सत्य हुई। कुमारपाल उनके परमोपकार से श्रद्धावनत बना हुआ था। राजसिंहासन पर आरूढ होते ही उसने अपना राज्य आचार्य हेमचन्द्र जी के चरणों में समर्पित कर दिया। उन्होंने राज्य के बदले कुमारपाल से 'अमारि' की घोषणा करवायी। इससे कुछ लोगों को ईर्ष्या हुई। उन्होंने राजा के कान भरे, "स्वामिन्! देवी बलि माग रही है, माग पूर्ण न होने पर उसका कोप विनाश का हेतु होगा।"

कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से परामर्श किया, तथा रात्रि में देवी के सामने पशु छोड़ दिये और कहा, "देवी की इच्छा होने पर वह स्वयं ही उनका भक्षण ले लेगी।" रात्रि पूर्ण हुई, पशु कुशलतापूर्वक वहीं खड़े थे। प्रतिवादी निरुत्तर हो गये। कुमारपाल के मन में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा जागृत हुई।

हेमचन्द्राचार्य अवसरज्ञ थे। एक बार उन्होंने कुमारपाल के साथ तीर्थ-यात्राएं की और शिव मन्दिर में प्रवेश करते समय शिव के सामने खड़े होकर कहा

भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—भव बीज को अंकुरित करने वाले रागद्वेष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, भले वे ब्रह्मा, विष्णु, हरि और जिन किसी भी नाम से सम्बोधित होते हों, उन्हें मेरा नमस्कार है।

महारागो महाद्वेषो, महामोहस्तथैव च।
कषायश्च हतो येन, महादेव स उच्यते ॥

—जिसने महाराग, महाद्वेष, महामोह और कषाय को नष्ट किया है, वही महादेव है।

आचार्य हेमचन्द्र की इस सर्वधर्मसमन्वयात्मक नीति ने कुमारपाल को जैन धर्म के प्रति अधिक प्रभावित किया। कुमारपाल के साथ 'परमर्हित' विशेषण उनके जैन होने का सूचक है।

हेमचन्द्र नि सन्देह अलौकिक विभा मे परिपूर्ण थे। उनके श्रुतज्ञान वैभव को पाकर समूचा गुजरात ही पुलक उठा और भारतीय सस्कृति मे अभिनव प्राणो का सचार हुआ था। साढे तीन करोड से भी अधिक श्लोको की रचना कर कलिकाल-सर्वज्ञ ने सरस्वती मा के खजाने को अक्षयनिधि से भर दिया। और कुमारपाल जैसे गुर्जर शासक को व्रत स्वीकार कराकर जैनशासन के गौरव को हिमालय से भी अत्युच्चतम शिखर पर चढा दिया था।

सयम-साधना और साहित्य-साधना का उनका दीप तिरेसठ वर्ष की आयु तक अविरल जलता रहा और उससे जन-जन को मार्ग-दर्शन मिलता रहा। आचार्य हेमचन्द्र पाटण मे वीर निर्वाण १६६६ (विक्रम १२२६) मे चौरासी वर्ष की आयु सम्पन्न कर स्वर्गगामी बने।[10] हेमचन्द्र का युग जैन धर्म के महान् उत्कर्ष का था।

आधार-स्थल

१ जैनशासनपाथोधिकौस्तुभ स नवी सुत ।
तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्तत ॥१६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८३)

२ तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मु श्री पार्श्वमन्दिरे।
माघे सित चतुर्दश्यां ब्राह्मे धिष्ण्ये शनै दिने ॥३२॥
धिष्ण्ये तथाष्टमे धर्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे।
लग्ने वृहस्पतौ शत्रुस्थितयो सूर्यभौमयो ॥३३॥
श्रीमानुदयनस्तस्य दीक्षोत्सवमकारयत् ।
सोमचन्द्र इति ख्यात नामास्य गुरवो दधु ॥३४॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८४)

३ तदा च पाहिनी स्नेहवाहिनी सुत उत्तमे।
तत्र चारित्रमादत्ताविहस्ता गुरुहस्तत ॥६१॥
प्रवर्तिनी प्रतिष्ठा च दापयामास नम्रगी ।
तदैवाभिनवाचार्यो गुरुम्य सभ्यसाक्षिकम् ॥६२॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८४-१८५)

४ यशो मम तव ख्याति पुण्य च मुनिनायक !
विश्वलोकोपकाराय कुरु व्याकरण नवम् ॥८४॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८५)

५ श्री हेमसूरयोऽप्यत्रालोक्य व्याकरणव्रजम् ।
शास्त्र चक्रुर्नव श्रीमत् सिद्धहेमाऽभिधं तम् ॥६६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

६ राजादेशान्नियुक्तैश्च सर्वस्थानेभ्य उद्यतै ।
तदा चाहूय सच्चक्रे लेखकाना शतत्रयम् ॥१०४॥
पुस्तका समलेख्यन्त सर्वदर्शनिना तत ।
प्रत्येक मेवादीयन्ताध्येतृणामुद्यमस्पृशाम् ॥१०५॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

७ प्राहीयत नृपेन्द्रेण काश्मीरेषु महादरात् ॥११०॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

८ अग-वग कलिगेषु, लाट-कर्णाट-कुकणे ।
महाराष्ट्र-सुराष्ट्रासु, वत्से कच्छे च मालवे ॥१०६॥
सिन्धु-सौवीर नेपाले पारसीक-मुरुडयो ।
गगापारे हरिद्वारे, काशि-चेदि गयासु च ॥१०७॥
कुरुक्षेत्रे कान्यकुब्जे गौडश्री कामरूपयो ।
सपादलक्षवज्जालधरे च खसमध्यत ॥१०८॥
सिंहलेऽथ महाबोधे चोडे मालव-कौशिके ।
इत्यादि विश्वदेशेषु शास्त्र व्यस्तार्यत स्फुटम् ॥१०६॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

६ काकलो नाम कायस्थकुलकल्याणशेखर ।
अष्टव्याकरणाध्येता प्रज्ञाविजितभोगिराट् ॥११२॥
प्रभुस्त दृष्टि मात्रेण ज्ञाततत्त्वावमस्य च ।
शास्त्रस्य ज्ञापक चाशु विदधेऽध्यापक तदा ॥११३॥

(प्रभा० चरित, पृ० १८६)

१०. शर-वेदेश्वरे (११४५) वर्षे कार्तिके पूर्णिमा निशि ।
जन्माभवत् प्रभोर्व्योम-बाण शम्भौ (११५०) व्रत तथा ॥८५०॥
रस-षट्केश्वरे (११६६) सूरि प्रतिष्ठा समजायत ।
नन्द-द्वय-रवौ वर्षे (१२२६) ऽवसानमभवत् प्रभो ॥८५१॥

(प्रभा० चरित, पृ० २१२)

४२ मनीषा-मेरु आचार्य मलयगिरि

श्वेताम्बर परम्परा के समर्थ टीकाकार आचार्य मलयगिरि महाप्रज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। वे अपने नाम से मलयगिरि और ज्ञान से भी मलयगिरि ही थे। उनकी प्रतिभा दर्पण की तरह स्वच्छ और निर्मल थी। वे लेखनी के धनी थे। उन्होने अपने जीवन मे बहुत अच्छी टीका-साहित्य-साधना की।

टीका-साहित्य रचने की उनकी प्राजल प्रतिभा के साथ एक विचित्र घटना जुडी हुई है।

एक बार आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य मलयगिरि व देवेन्द्रगणी—तीनो विद्याध्ययन हेतु एक साथ चले थे। रास्ते मे उन्होने अपने गुरु से प्राप्त सिंह चक्रमन्त्र की आराधना की। जिससे प्रसन्न होकर विमलेश्वर देव ने यथेप्सित वरदान मागने के लिए उनसे कहा। इस अवसर पर आचार्य हेमचन्द्र ने सात राजाओ को प्रतिबोध देने का व मलयगिरि ने आगम ग्रन्थो पर टीका लिखने का वर चाहा था। देव तथास्तु कहकर चला गया था। मलयगिरि उस दिन के बाद टीका-साहित्य की सघटना मे लगे और वे एक समर्थ टीकाकार के रूप मे युग के सामने आए।

अकेले आचार्य मलयगिरि ने पच्चीस ग्रन्थो पर टीकाए लिखी हैं। उनमे उन्नीस टीकाए वर्तमान मे उपलब्ध है और छह अनुपलब्ध है। उपलब्ध टीकाओ का कुल परिमाण १९६६१२ के लगभग है। एक 'व्यवहार सूत्र वृत्ति' की श्लोक-सख्या ३४००० है।

इस टीका-साहित्य मे 'भगवती' जैसे विशालकाय ग्रन्थ पर और 'चन्द्र प्रज्ञप्ति' तथा 'सूर्य प्रज्ञप्ति' जैसे गभीर ग्रन्थ पर भी आचार्य जी की लेखनी अविरल गति से चली है।

वे नन्दि, प्रज्ञापना, व्यवहार, जीवाभिगम, आवश्यक, बृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि विविध आगमो के टीकाकार थे।

पच सग्रह, कर्मप्रकृति, धर्मसग्रहिणी, सप्तिका टीका जैसी कृतिया सैद्धातिक चर्चाओ से परिपूर्ण उनकी प्रौढ रचनाए है।

टीकाओ की रहस्यमयी भाषा एक ओर पाठक वर्ग का बुद्धि-व्यायाम करने

का अवसर प्रदान करती है दूसरी ओर उनकी विविध विषयों से सबधित रोचक सामग्री हर प्रमुख मानस मे आह्लाद पैदा करती है। मलयगिरि का सपूर्ण टीका-साहित्य ज्ञान का अक्षय खजाना है।

'मलयगिरि शब्दानुशासन' उनकी एक स्वतत्र रचना भी है। पर वे स्वतत्र ग्रन्थकार नही, समर्थ टीकाकार थे। उनकी लेखनी टीका-साहित्य मे टूट पडी थी।

महामनीषी आचार्य हेमचन्द्र का अप्रतिहत प्रभाव मलयगिरि पर था। उन्होंने अपने आचार्य हेमचन्द्र के लिए गुरु शब्द का प्रयोग कर अति सम्मान का भाव प्रकट किया है।

टीकाकार जैनाचार्यों की परम्परा मे आचार्य मलयगिरि सर्वतो अग्रणी स्थान पर हैं।

वे आचार्य हेमचन्द्र के सहविहारी थे। अत टीकाकार मलयगिरि का समय वि० की १२वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध एव १३वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।

४३. चैत्य-पुरुष
आचार्य जिनचन्द्र (मणिधारी)

खरतरगच्छ के श्री मणिधारी जिनचन्द्र सूरि भी बडे दादा के नाम से प्रसिद्ध है। जैन मन्दिरमार्गी समाज मे चार दादा सज्ञक आचार्यो मे उन्हे द्वितीय क्रम प्राप्त हुआ। वे जिनदत्त सूरि के पट्ट शिष्य थे।

छह वर्ष की अवस्था मे दीक्षा और आठ वर्ष की अवस्था मे आचार्य पद से विभूषित होने वाले मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र सहस्राब्दियो के इतिहास मे विरले आचार्य थे।

उनके मस्तक मे मणि होने के कारण उनकी प्रसिद्धि मणिधारी जिनचन्द्र सूरि के रूप मे हुई।

उनका व्यक्तित्त्व अनेक गुणो से मडित था। उनके गर्भ मे आने से पहले ही जिनदत्त सूरि को महान् आत्मा के आगमन का आभास हो गया था। महान् आत्मा का सवध उन्होने जिनचन्द्र सूरि के साथ जोडा।

मणिधारी जिनचन्द्र सूरि विक्रमपुर के रासल श्रेष्ठी के पुत्र थे। उनका जन्म वी० नि० १६६७ (वि० ११९७) भाद्र शुक्ला अष्टमी ज्येष्ठा नक्षत्र मे हुआ।

आचार्य जिनदत्त सूरि द्वारा वी० नि० १६७३ (वि० १२०३) मे उनकी दीक्षा और वी० नि० १६७५ (वि० १२०५) मे आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

उनकी तीक्ष्ण प्रतिभा ने थोडे ही समय मे अगाध ज्ञान राशि का अर्जन कर लिया था। दिल्ली के महाराज मदनपाल उनकी असाधारण विद्वत्ता पर मुग्ध होकर उनके अनन्य भक्त बन गये थे।

चैत्यवासी पद्मचन्द्राचार्य जैसे उद्भट्ट विद्वान् को शास्त्रार्थ मे पराजित कर देने से उनकी यश चन्द्रिका दिग्दिगन्त मे व्याप्त हुई।

जिनदत्त सूरि का स्वर्गवास बहुत जल्दी ही हो जाने के कारण तेरह वर्ष की अवस्था मे ही उनके कन्धो पर सम्पूर्ण गच्छ का भार आ गया जिसे बहुत कुशलता के साथ उन्होने वहन किया था।

उन्होंने त्रिभुवन गिरि मे श्री शान्तिनाथ शिखर पर वी० नि० १६८४ (वि० १२१४) मे धर्म की गगा वेग से प्रवाहित की और मथुरा मे पहुचकर

वी० नि० १६८७ (वि० १२१७) मे जिनपत सूरि को दीक्षित किया। क्षेमधर श्रेष्ठी जैने उनके भक्त थे।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र ने अपनी इस मणि की सूचना मृत्यु से कुछ समय पूर्व अपने भक्तो को देकर सावधान किया था कि मेरे दाह-सस्कार से पहले ही मेरी मस्तक-मणि को पाव मे ले लेना अन्यथा किसी योगी के हाथ मे यह अमूल्य मणि पहुच सकती है। वह मणि बहुत प्रभावक थी।

मणिधारी आचार्य जिनचन्द्र सूरि वी० नि० १६६३ (वि० १२२३) द्वितीय भाद्र शुक्ला चतुर्दशी को अनशन के साथ दिल्ली नगर मे स्वर्गवासी हुए।

जैन और जैनेतर समाज छब्बीस वर्ष तक ही इस चैत्य-पुरुष की महामणि का सान्निध्य प्राप्त कर सका था। वर्तमान मे दिल्ली के मेहरोली नामक स्थान पर उनका चामत्कारिक स्तूप है।

४४ कवि-किरीट आचार्य रामचन्द्र

आचार्य रामचन्द्र हेमचन्द्राचार्य के उत्तराधिकारी थे। वे प्राञ्जल प्रतिभा के धनी थे। उस युग के इने-गिने विद्वानो मे उनकी गिनती होती थी। आचार्य हेमचन्द्र की साहित्यकार शिष्य मडली मे भी उनका सर्वोत्कृष्ट स्थान था।

एक बार महाराज जयसिंह ने हेमचन्द्राचार्य से उनके उत्तराधिकारी का नाम जानना चाहा। उस समय हेमचन्द्राचार्य ने मुनि रामचन्द्र को ही उनके सामने प्रस्तुत किया था।

हेमचन्द्राचार्य के प्रति महाराज जयसिंह सिद्धराज जैसा ही धार्मिक अनुराग महाराज कुमारपाल मे भी था। हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास की सूचना पाकर कुमारपाल का हृदय विरह-वेदना से विक्षुब्ध हो उठा। उस सकट की घडी को धैर्य के साथ पार करने मे मुनि रामचन्द्र का योग अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ।

रामचन्द्राचार्य ने हेमचन्द्राचार्य के उत्तराधिकार को सम्भाला और उनकी साहित्यिक सृजनात्मक धारा को भी गतिशील बनाए रखा। साहित्य-जगत् रामचन्द्राचार्य की रमणीय रचनाओ से अलकृत हुआ।

समस्या-पूर्ति मे विविध भाव-भगिमा को प्रस्तुत करने वाले वे बेजोड शब्द-शिल्पी थे। उनकी स्फुरणशील मनीषा-मदाकिनी मे कल्पना-कल्लोले अत्यन्त वेग से हिलोरे लेती थी। एक बार का प्रसग है। ग्रीष्म ऋतु का समय था। जयसिंह सिद्धराज क्रीडा करने के लिए उद्यान मे जा रहे थे। सयोग से आचार्य रामचन्द्र का मार्ग मे मिलन हुआ। औपचारिक स्वागत के बाद सिद्धराज ने आचार्य जी से एक प्रश्न किया

कथ ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा ?

—ग्रीष्म ऋतु मे दिन लम्बे क्यो होते है ? आचार्य ने इस प्रश्न के उत्तर मे तत्काल एक सस्कृत श्लोक की रचना की

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे।
धावद्वीरतुरगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षपामण्डलात् ॥
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपकस्थली।
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्ध दिनम् ॥

—गिरि मालाओ एव दुर्लंघ्य दुर्गों पर विजय पताका फहराने वाले देव ! आपकी दिग्विजय यात्रा के महोत्सव-प्रसग पर वेगवान अश्वो की दौड के कारण उनके खुरो से उठे पृथ्वी के धूलिकण पावन लहरियो पर आरूढ होकर आकाश-गगा मे जा मिले । नीर और रजो के सम्मिश्रण से वहा दूब उग आयी । उस दूब को चरते-चरते चलने के कारण सूर्य के घोडो की गति मन्द हो गयी । इसी हेतु से दिवस लम्बे है ।

आचार्य जी की इस समस्या-पूर्ति से सिद्धराज को अत्यन्त प्रसन्नता हुई । उसी समय इन्हे 'कवि कटार मल्ल' की उपाधि से भूपित किया गया ।

एक अन्य घटना आचार्य हेमचन्द्र के शासनकाल की है । किसी समय आचार्य हेमचन्द्र का पादार्पण कुमारपाल की सभा मे हुआ । यहा पर एक पडित ने हेमचन्द्राचार्य का उपहास करते हुए कहा

आगतो हेमगोपाल दडकवलमुद्वहन् ।

—दड और कवल को धारण किए हेम गोपाल आ पहुचा है ।

उस समय मुनि रामचन्द्र भी हेमचन्द्राचार्य के साथ थे । उन्हे अपने गुरु के प्रति किया गया यह उपहास अच्छा नही लगा । छूटते ही इस पक्ति की पूर्ति करते हुए उन्होने कहा

षड्दर्शन पशु प्रायान् चारयान् जैनवाटके ।

—छह दर्शनरूपी पशुओ को जैन वाटिका मे चराते हुए हेम गोपाल आ गए हैं ।

मुनि रामचन्द्र की इस समस्या-पूर्ति ने सबको अवाक् कर दिया ।

रामचन्द्राचार्य की साहित्य-साधना अनुपम थी । रघुविलास, मल्लविलास, यदुविलास प्रभृति एकादश नाटक और 'सुधाकलश' नामक सुभापित कोश भी उन्होने लिखा । आचार्य जी की मुख्य प्रसिद्धि नाट्यशास्त्र की रचना से हुई ।

नाट्यशास्त्र मे चालीस से भी अधिक नाटको के उद्धरण प्रस्तुत हैं । इससे उनकी गम्भीर अध्ययनशीलता का परिचय मिलता है । इस कृति मे अभिनव कलाओ की व्यजना और मौर्यकाल के इतिहास की सुन्दर झाकी भी प्रस्तुत है । लौकिक विपयो पर सागोपाग विवेचन करने मे आचार्य रामचन्द्र जैसा साहस-गुण विरले ही जैनाचार्यों मे प्रकट हुआ है ।

आचार्य रामचन्द्र के साथ प्रबन्ध शतकर्तृक विशेपण भी आता है । यह विशेपण उनके सौ ग्रन्थो का सूचक हो सकता है या इसी नाम के किसी एक ग्रन्थ का परिचायक है ।

न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, काव्यशास्त्र और शब्दशास्त्र—ये उनके अधिकृत विपय थे ।

विपुल ख्याति प्राप्त होने पर भी आचार्य जी के गृहस्थ जीवन का परिचय

पर्याप्त रूप से उपलब्ध नही है। आचार्य जी द्वारा रचित 'नल विलास' नाटक के सपादक पडित लालचन्द्र के अभिमत से उनका जन्म वी० नि० १६१५ (वि० स० ११४५), सूरि पद वी० नि० १६३६ (वि० स० ११६६), आचार्य पदारोहण वी० नि० १६६९ (वि० स० १२२९) मे हुआ।

उनका स्वर्गवास इतिहास की अत्यन्त दु खान्त घटना है।

हेमचन्द्राचार्य का उत्तराधिकार शिष्य रामचन्द्र को मिला। इमसे उनके गुरुभ्राता बालचन्द्र मुनि मे ईर्ष्या का विषाक्त अकुर फूट पडा। आचार्य हेमचन्द्र के बाद महाराज कुमारपाल की मृत्यु बत्तीस दिन के बाद ही हो गई थी। कुमारपाल का भतीजा अजपाल सिहासन पर आरूढ हुआ। बालचन्द्र मुनि की अजपाल के साथ गाढी मित्रता हो गयी। मुनि जी ने रामचन्द्र के विरुद्ध अजपाल के कान भर दिये थे। आचार्य हेमचन्द्र के साथ अजपाल का पूर्व वैर भी था। उस वैर का बदला रामचन्द्र के साथ लिया गया। उन्हे मरवाने के लिए लोमहर्षक योजना बनी। अभय आदि श्रेष्ठी जनो ने इस योजना को विफल कर देने हेतु बहुत प्रयत्न किए। उनका कोई प्रयत्न रामचन्द्र सूरि को इस षड्यन्त्र से मुक्त न कर सका। हेमचन्द्राचार्य के स्वर्गवास से एक वर्ष बाद ही वी० नि० १७०० (वि० १२३०) मे सतप्त लोहे की मर्मान्त वेदना को सहते हुए उन्हे मृत्यु से आलिगन करना पडा। उनका भौतिक देह से सम्बन्ध टूट गया पर यशस्वी व्यक्तित्व और स्फुरणशील मनीषा का वैभव आज भी उनके साहित्य-दर्पण मे प्रतिबिम्बत है।

४५. उदारहृदय आचार्य उदयप्रभ

उदयप्रभ नागेन्द्र गच्छ के प्रभावी आचार्य थे। शान्ति सूरि के शिष्य अमरचन्द्र सूरि, उनके शिष्य हरिभद्र, हरिभद्र के शिष्य विजयसेन तथा विजयसेन के शिष्य उदयप्रभ थे।

गुजरात के राजा वीरधवल पर उनका अप्रतिहत प्रभाव था। वीरधवल के महामात्य वणिक् पुत्र वस्तुपाल एव तेजपाल दोनो भाई जैन थे। वीरधवल के यश को दिगान्तव्यापी बनाने मे दोनो का अपूर्व योगदान था।

युगल बन्धु एक ओर महामात्य, सेनापति एव अर्थ-व्यवस्थापक थे दूसरी ओर प्रचण्ड योद्धा, महादानी एव धार्मिक भी थे।

एक बार शक्तिशाली मलेच्छ सेना के आगमन की सूचना पाकर गुर्जर नरेश श्री वीरधवल चिन्तित हुआ। उसने अमात्य वस्तुपाल को बुलाकर कहा—"गर्दभीविद्यासिद्ध गर्दभिल्ल राजा भी इन म्लेच्छो के द्वारा पराभूत हो गया था। महाशक्तिशाली राजा शिलादित्य का राज्य भी इनसे ध्वस्त हो गया। यह म्लेच्छ समुदाय दुर्जय है। हमे अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए ?" वस्तुपाल ने कहा—"राजन् ! आप चिन्ता न करें। म्लेच्छो के सामने रणभूमि मे खडा होने के लिए मुझे प्रेषित करें।" राजा ने वैसा ही किया। वस्तुपाल और तेजपाल युगल बन्धुओ की शक्ति के सामने म्लेच्छ सेना पराजित हो गयी।

वणिक्पुत्र व्यापार-कुशल ही नही होते, क्षत्रिय जैसा उद्दीप्त तेज भी उनमे होता है। यह बात दोनो अमात्यो ने सिद्ध कर दी।

महायशोभाग वस्तुपाल का व्यक्तित्व कई विशेषताओ से सम्पन्न था। उसके जीवन मे लक्ष्मी, सरस्वती एव शक्ति का आश्चयजनक समन्वय था। हिन्दुस्तान मे पूर्व से पश्चिम एव उत्तर से दक्षिण पर्यन्त दूर-दूर तक महामात्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त थी। एव वह स्वय परम विद्वान् महाकवि था। वाग्देवी सूनु तथा सरस्वती-पुत्र की उपाधियो से वह विभूषित था। राजा भोज की तरह वह विद्वानो का आश्रयदाता था। वस्तुपाल ने विद्यामण्डल की स्थापना की थी, जिससे सस्कृत साहित्य की महान् वृद्धि हुई।

असाधारण व्यक्तित्व के धनी, महादानी, सबल योद्धा, कवि, लेखक, साहित्य-

रसिक, विद्वानो का सम्मानदाता, उदारहृदय एव सर्वधर्मसमदर्शी जैन महामात्य वस्तुपाल को पाकर गुजरात की धरा धन्य हो गयी थी। उसका भाग्याकाश श्री शशिसम्पन्न होकर चमक उठा था। मध्यकाल की धर्म-प्रभावक जैन श्रावक मण्डली मे अमात्य वस्तुपाल का स्थान सर्वोत्तम था। सरस्वती कण्ठाभरणादि चौवीस उपाधियो से अलकृत एव सग्राम-भूमि मे तिरेसठ वार विजय प्राप्त करने वाला वस्तुपाल अमात्य धर्म-प्रचार कार्य मे भी सतत प्रयत्नशील रहता था। धर्म-प्रभावना के हेतु उसने (३१४१८८००) रूप्य राशि का व्यय किया था।

श्री वस्तुपाल का यश दक्षिण दिशा मे श्री पर्वत तक, पश्चिम मे प्रभास तक, उत्तर मे केदार पर्वत तक और पूर्व मे वाराणसी तक विस्तृत था।

इतिहास-प्रसिद्ध इस महामात्य को प्रभावित करने वाले धर्माचार्यो मे जयसिंह सूरि, नरचन्द्र सूरि, शान्ति सूरि, नरेन्द्रप्रभ सूरि, विजयसेन सूरि, वालचन्द्र सूरि आदि कई आचार्यो के नाम है। उनमे एक नाम आचार्य उदयप्रभ सूरि का भी है।

उदय प्रभाचार्य धर्म-प्रचारक थे एव यशस्वी साहित्यकार भी थे। धर्मशर्मा-भ्युदय महाकाव्य, आरम्भ सिद्धि, उपदेश माला, कर्णिका कृति आदि कई ग्रन्थो की उन्होने रचना की।

सस्कृत भाषा मे निवद्ध नेमिनाथ-चरित्र भी आचार्य उदयप्रभ द्वारा रचित माना गया है। आचार्य उदयप्रभ के ग्रन्थो मे 'सुकृति-कल्लोलिनी' नामक ग्रन्थ अत्युत्तम है। यह वस्तुपाल, तेजपाल के धार्मिक कार्यो का प्रशस्ति-काव्य है। इस काव्य मे वस्तुपाल की वशावली तथा चालुक्य वश के राजाओ का वर्णन भी है। वस्तुपाल ने इस काव्य को प्रस्तर पर खुदवाया था। इस काव्य की रचना वी० नि० १७४८ (वि० १२७८) मे हुई थी। इस आधार पर आचार्य उदयप्रभ का समय वी० नि० की १८वी शताब्दी (वि० १३वी सदी का उत्तरार्ध) है।

४६. प्रतिभा-प्रभाकर आचार्य रत्नप्रभ

आचार्य रत्नप्रभ सस्कृत भाषा के अधिकारी विद्वान् थे। न्याय एव दर्शन-शास्त्र के वे विशेषज्ञ थे। अपने गुरु आचार्य वादिदेव के ग्रन्थो का उनके जीवन पर असाधारण प्रभाव था। साहित्य-रचना मे आचार्य रत्नप्रभ की लेखनी अनावाध चली। परिमाण की दृष्टि से उनका साहित्य बहुत कम है, पर जो कुछ उन्होने लिखा वह अत्यधिक सरस, सुन्दर एव विद्वद्भोग्य लिखा।

साहित्य-जगत् मे उनकी अनुपम कृति 'रत्नाकरावतारिका' है। वह स्याद्वाद-रत्नाकर का प्रवेश मार्ग है। तार्किक शिरोमणि आचार्य वादिदेव द्वारा निर्मित 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' ग्रन्थ की व्याख्या स्वरूप चौरासी हजार श्लोक परिमाण स्याद्वाद-रत्नाकर अत्यन्त गूढ टीका ग्रन्थ है। समासो की दीर्घता एव कठिन शब्द सयोजना के दुर्ग को भेदकर इस ग्रन्थ के शब्दार्थ एव पदार्थ तक पहुच पाना बहुत श्रमसाध्य है।

आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकरावतारिका की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कृति के प्रारम्भ मे लिखते है—"क्वापि तीर्थकग्रन्थग्रन्थिसार्थसमर्थकदर्थनोपस्थापितार्थानवस्थितप्रदीपायमानप्लवमानज्वलन्मणिफणीन्द्रभीषणे, सहृदयसैद्धातिकतार्किकवैयाकरणकविचक्रवर्तिसुविहितसुगृहीतनामधेयास्मद्गुरुश्रीदेवसूरिभिविरचिते स्याद्वादरत्नाकरे न खलु कतिपय तर्कभाषातीर्थमजानन्तोऽपाठीना अधीवराश्च प्रवेष्टु प्रभविष्णव इत्यतस्तेषामवतारदर्शन कर्तुमनुरूपम्।"

'दर्शनान्तरीय मन्तव्यो का निरसन एव अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करती हुई यह स्याद्वाद-रत्नाकर टीका क्लिष्ट है। तर्क की भाषा को नही जानने वाले अकुशल पाठको का अकुशल तैराक की भाति उसमे प्रवेश पाना कठिन है। उनकी सुगमता के लिए मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है।"

आचार्य रत्नप्रभ ने उक्त पाठ मे सहृदय, सैद्धान्तिक, तार्किक, वैयाकरण, कवि-चक्रवर्ती जैसे गौरवमय विशेषण प्रदान कर अपने गुरु वादिदेव के प्रति अपार सम्मान प्रकट किया है।

स्याद्वाद रत्नाकर का अवगाहन करने के लिए आचार्य रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका यथार्थ मे ही रत्नाकरावतारिका सिद्ध हुई है। उपमा की भाषा मे

स्याद्वाद रत्नाकर महाशैल है। उसके उच्चतम शिखर पर पहुचने के लिए रत्ना-करावतारिका सुगम सोपान-पक्ति है।

मधुर स्वरो मे सगीयमान सगीत, भावमयी कविता एव आकठ तृप्ति प्रदायक सुधाबिन्दु जैसा आनन्दकारी यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे कान्तपदावलि का प्रयोग एव मनोमुग्धकारी शब्द-सौष्ठव काव्य जैसी प्रतीति कराता है।

धर्मदास कृत 'उपदेश माला' पर आचार्य रत्नप्रभ ने ११५० श्लोक परिमाण दोघट्टी वृत्ति (उपदेश माला विशेष वृत्ति) की वी० नि० १७०८ (वि० १२३८) मे रचना की थी। विपुल इतिहास सामग्री को प्रस्तुत करते हुए यह कृति भी साहित्य-जगत् मे अत्यन्त मूल्यवान है।

प्राकृत भाषा मे भी आचार्य रत्नप्रभ का ज्ञान अगाध था। नेमिनाथ-चरित्र की रचना उन्होने वी० नि० १७०२ (वि० १२३२) मे की थी। यह उनकी प्राकृत रचना है।

आचार्य रत्नप्रभ की इन दोनो कृतियो मे उल्लिखित सम्वत् के आधार पर उनका समय वी० नि० १६वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १७वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

४७. तप के मूर्त्तरूप आचार्य जगच्चन्द्र

त्याग और वैराग्य के मूर्त्तरूप आचार्य जगच्चन्द्र सूरि मणिरत्न सूरि के शिष्य थे। अपनी विशिष्ट साधना के द्वारा वे विश्व मे चन्द्र की तरह चमके। 'यथा नाम तथा गुण' इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर उन्होने अपना नाम सार्थक किया।

एक बार चैत्रवाल गच्छ के देवभद्र गणी उनके सम्पर्क मे आए। सूरि जी की चरित्रनिष्ठा और शुद्ध समाचारी का प्रबल प्रभाव देवभद्र गणी पर हुआ। सघ मे छाये शिथिलाचार को कडी चुनौती देकर आचार्य कक्क सूरि की भाति जगच्चन्द्र सूरि क्रियोद्धार करने के लिए पहले से उत्सुक थे। देवभद्र गणी का योग उनके इस कार्य को सम्पादित करने हेतु बहुत सहायक सिद्ध हुआ। सूरि जी के अपने शिष्य देवेन्द्र मुनि भी उनके इस कार्य मे निष्ठापूर्वक साथ रहे। इस श्रेष्ठ कार्य मे प्रवृत्त सूरि जी ने प्रवृत्ति की सफलता के लिए यावज्जीवन आयम्बिल तप का अभिग्रह ग्रहण किया। उस समय उनके इस महत्त्वपूर्ण कार्य की भूरि-भूरि प्रशसा हुई और सूरि जी को आचार्य पद से सम्मानित किया गया। उनकी उत्कृट तप साधना ने साधारण जन से लेकर शासक वर्ग तक को अतिशय प्रभावित किया। मेवाड नरेश जैत्रसिह जी ने महातप के आधार पर उन्हे वी० नि० १७५५ (वि० स० १२८५) मे 'तपा' नामक उपाधि प्रदान की।

कभी-कभी एक व्यक्ति की साधना समग्र समूह को अलकृत कर देती है। जगच्चद्र सूरि की तप साधना से ऐसा ही फलित हुआ। उनके नाम के साथ जुडी उपाधि गच्छ के साथ प्रयुक्त होने लगी। वडगच्छ का नाम 'तपागच्छ' हो गया।

वडगच्छ का 'तपागच्छ' के रूप मे नामकरण जगच्चन्द्र सूरि के गच्छ के साथ हुआ। उनके गुरुभाई शिष्यो ने इस नाम को स्वीकार नही किया। उनके गण की प्रसिद्धि अपने मूल नाम 'वडगच्छ' के रूप मे ही रही।

इन दोनो गच्छो मे नामभेद अवश्य बना, पर सिद्धान्त, मान्यता, आचार-सहिता एक थी। सिसोदिया राजवश ने इस 'तपागच्छ' को मान्य किया। वस्तुपाल और तेजपाल दोनो अमात्य इस युग की महान् हस्तिया थी। वस्तुपाल ने एक बार सूरि जी को गुजरात के लिए आमन्त्रित किया। महामात्य के गुरु बनकर वे वहा गए। गुजरात की जनता ने हृदय बिछाकर उनका स्वागत किया।

जगच्चन्द्र सूरि तप के धनी ही नही, विद्या-वैभव से भी सम्पन्न थे। सरस्वती उनके चरणो की उपासिका थी। मेवाड मे एक बार तीस जैन विद्वानो के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। उसमे आचार्य जी के तर्क हीरे की तरह अभेद्य (अकाट्य) रहे। आचार्य जी के बौद्धिक कौशल से प्रभावित होकर चित्तौड नरेश ने उन्हे 'हीरक' (हीरला) की उपाधि दी। उनका मुख्य विहरण-क्षेत्र मेवाड था। वही पर उनका वी० नि० १७५७ (वि० स० १२८७) को 'वीरशालि' नामक ग्राम मे स्वर्गवास हुआ।

४८ बौद्धिक-रत्न आचार्य रत्नाकर

आचार्य रत्नाकर सूरि देवप्रभ सूरि के शिष्य थे। वे सरलात्मा और सौम्य-वृत्तिक थे। उनके हृदय मे वैराग्य तरगिणी की अविरल धारा बहती थी। वी० नि० १७७८ (वि० स० १३०८) मे उन्होने रत्नाकर पच्चीसी की रचना की। पच्चीस श्लोको का यह ग्रथ अत्यन्त मौलिक और महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रत्येक श्लोक की पक्ति मे वैराग्यधारा का निर्झर छलक रहा है। पाठक इसे पढते-पढते आत्मालोचन के गम्भीर सागर मे डुबकिया लेने लगता है। मानसिक दौर्बल्य की सूक्ष्म धडकन का बहुत सजीव चित्रण इस कृति मे हुआ है। प्रभु की पूजा, प्रार्थना और जापक्रिया मे मन के आवेग-उद्वेग घोर शत्रु हैं। इन्हे अभि-व्यक्ति देते हुए सूरि जी ने लिखा है

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टा,
दुष्टेन लोभाख्यमहोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाजगरेण माया-
जालेन बद्धोऽस्मि कथ भजे त्वाम्॥

क्रोधाग्नि से सतप्त, लोभरूपी साप से दशित, मान रूपी अजगर से पीडित और मायाजाल से बधा हुआ मैं कैसे आपका भजन करू? मानसिक धूर्तता का आवरण दूर करते हुए लेखक लिखता है

वैराग्यरग परवचनाय,
धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय।
वादाय विद्याध्ययन च मे भूत्,
कियद्ब्रुवे हास्यकर स्वमीश!॥

—हे ईश! मेरे पर वैराग्य का रग दूसरो को धोखा देने के लिए है। मेरा उपदेश जनरजनमात्र है। मेरा विद्याध्ययन विवाद के लिए सिद्ध हुआ है। इन वृत्तियो से मेरा जीवन कितना हास्यास्पद है। मैं आपको अपने विषय मे क्या बताऊ और कैसे बताऊ।

इस कृति मे उक्त श्लोको की भाति अन्य श्लोक भी बहुत प्रेरक है। बहुत-से साधक रत्नाकर पच्चीसी को कठाग्र रखते हैं और प्रतिदिन इसका तन्मयता के

साथ स्मरण कर आत्मालोचन की भावभूमि पर अभिनव स्वस्थता प्राप्त करते है।

रत्नाकर सूरि के जन्म-दीक्षा, आचार्य पद-प्राप्ति के सम्बन्ध मे सामग्री अनुपलब्ध ही रही है। उनकी इस कृति-सवत् के आधार पर वे वी० नि० की अठारहवी शताब्दी (वि० स० १४वी) मे विद्यमान थे।

४६ तत्त्व-निष्णात आचार्य देवेन्द्र

आचार्य देवेन्द्र सूरि जगच्चन्द्र सूरि के शिष्य थे। उन्होंने शैशवावस्था मे दीक्षा ग्रहण की और एकनिष्ठा मे विद्या की आराधना कर अपने मे विशिष्ट शक्तियो को सजोया। तत्त्व-निष्णात आचार्यों मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी व्याख्यान शैली रोचक और प्रभावक थी। श्रोता उनकी वाणी को सुनकर मुग्ध हो जाते थे। उनके उपदेश से बोध प्राप्त कर कई व्यक्ति सयम-पथ के पथिक भी बने थे।

वे साहित्यकार भी थे। उन्होने अधिकाशत सिद्धान्तपरक साहित्य की रचना की। कर्मग्रन्थो जैसी अत्यन्त उपयोगी कृतिया उनके गभीर आगमिक अध्ययन का निष्कर्ष हैं। उनके कर्मग्रन्थो की सख्या पाच हैं। प्रथम कर्मग्रन्थ की ६० गाथाए, द्वितीय कर्मग्रन्थ की ३४ गाथाए, तृतीय कर्मग्रन्थ की २४ गाथाए, चतुर्थ कर्मग्रन्थ की ८६ गाथाए एव पाचवे कर्मग्रन्थ की १०० गाथाए हैं। प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर इन कर्मग्रन्थो मे कर्मों का स्वरूप और उनके परिणाम को अच्छी तरह से समझाया गया है। इनमे गुणस्थानो का भी विवेचन है। कर्मग्रन्थो पर देवेन्द्र सूरि का स्वोपज्ञ-विवरण है।

सिद्ध पचाशिका सूत्रवृत्ति, धर्म रत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आदि उनकी कई सरस रचनाए हैं। इनमे विविध सामग्री प्रस्तुत है।

वे कवि भी थे। उन्होने दार्शनिक ग्रन्थो के अतिरिक्त दानादि कुलक आदि विविध मधुर स्तवनो की रचना की। उनकी 'वन्दारु वृत्ति ग्रन्थ' श्रावकानुविधि के नाम से प्रसिद्ध है।

विद्यानन्द सूरि और धर्म घोप सूरि उनके विद्वान् शिष्य थे। लघु पौषध-शाला का निर्माण इन्ही से हुआ। बडी पौषधशाला के प्रारम्भ का श्रेय विजयचद्र सूरि के शिष्यो को है।

देवेन्द्र सूरि ने मालव की धरा पर जैन सस्कारो का प्रभूत प्रचार-प्रसार किया और वही पर उनका वी० नि० १७९७ (वि० स० १३२७) मे स्वर्गवास हो गया।

५० शब्द-शिल्पी आचार्य सोमप्रभ

आचार्य सोमप्रभ सूरि तपागच्छ परम्परा के प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० १७८० (वि० स० १३१०) मे हुआ। ग्यारह वर्ष की आल्पावस्था मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की और बाईस वर्ष की लघुवय मे सूरिपद पर आरूढ हुए। उनकी बहुश्रुतता और शास्त्रार्थ-निपुणता प्रसिद्ध थी। चित्तौड मे ब्राह्मण पडितो के सामने विजय प्राप्त कर अपने बुद्धि-कौशल का परिचय दिया। जैनागमो का गभीर ज्ञान भी उनके पास था।

अट्ठाईस चित्रवध-स्तवनो की उन्होने रचना की। उनकी सबसे मधुर कृति 'सूक्ति मुक्तावली' है जो आज 'सिन्दूर प्रकर' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यह सस्कृत कृति है। इसमे विविध विषयो से सम्बन्धित सौ श्लोक हैं। प्रति श्लोक की प्रति पक्ति का शब्द-सौष्ठव, सौम्य भाषा तथा सानुप्रासिक धातु प्रत्ययो का लालित्य सूरि जी के महान् शब्दशिल्पी-कर्म को अभिव्यक्त करता है।

इस कृति मे समागत उल्लेखानुसार कुछ इतिहासकार विजयसिंह सूरि के शिष्य सोमप्रभ सूरि को 'सूक्ति मुक्तावली' के रचनाकार मानते है। प्रस्तुत सोमप्रभ सूरि धर्मघोष सूरि के शिष्य और पद्मानन्द सूरि आदि विद्वान् मुनियो के गुरु थे।

उनका मतिज्ञान अतीव निर्मल था। उन्हे कभी-कभी भविष्य का आभास भी होता था। भीम पल्ली मे घटित अनिष्ट भविष्य की घोषणा उन्होने पहले ही कर दी थी। सूरि जी की यह ज्ञानशक्ति प्राचीन ऋषियो के प्रातिभ ज्ञान का स्मरण कराती और भक्तगण को आश्चर्याभिभूत कर देती।

उनका स्वर्गवास वी० नि० १८४३ (वि० स० १३७३) मे हुआ।

५१ मति-मार्तण्ड आचार्य मल्लिषेण

मेधावी आचार्य मल्लिषेण नागेन्द्र गच्छीय उदयप्रभ सूरि के शिष्य थे। वे व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विभिन्न विषयो के अधिकारी विद्वान् थे। नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमासक, बौद्ध प्रभृति अनेक दशनो के अध्ययन-मनन से उनकी चिन्तन शक्ति प्रौढता प्राप्त कर चुकी थी। वर्तमान मे स्याद्वाद मजरी के अतिरिक्त उनकी कोई भी रचना उपलब्ध नही है।

स्याद्वाद मञ्जरी भी हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका मात्र है। प्रसाद और माधुर्य गुण से मडित यह टीका रत्नप्रभ सूरि की स्याद्वाद रत्नावतारिका से अधिक सरल और सरस है। इसकी कमनीय पदावलिया झरोखे से झाकती हुई शीतकालीन तरुण किरणो की तरह आनन्द प्रदान करती हैं। विविध दर्शनो का मर्मस्पर्शी विवेचन और युक्तिपुरस्सर स्याद्वाद का प्रतिष्ठापन मल्लिषेण की सन्तुलित मेधा का परिचायक है। दर्शनान्तरीय मत के प्रकाशन मे भी उनके प्रति प्रामाणिक, प्रकाण्ड ऋषि आदि बहुत शालीन शब्दो का प्रयोग किया गया है।

विपुल साहित्य न होते हुए भी मल्लिषेण की प्रसिद्धि अपनी इस एकमात्र रचना स्याद्वाद मञ्जरी के आधार पर है।

इस कृति ने जैन-जैनेतर सभी विद्वानो को प्रभावित किया। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसग्रह मे इसका सकेत किया और यशोविजय जी ने इस पर स्याद्वाद मञ्जूषा को लिखा है।

आचार्य मल्लिषेणके जीवन विषय की यत् किंचित् प्रामाणिक सामग्री स्याद्-वाद मञ्जरी के प्रशस्ति श्लोको मे प्राप्त है। वे श्लोक इस प्रकार है

नागेन्द्रगच्छगोविन्दवक्षोलकारकौस्तुभा ।
ते विश्ववन्द्या नन्द्यासुरुदयप्रभसूरय ॥
श्रीमल्लिषेणसूरिभिरकारि तत्पदगगनदिनमणिभि ।
वृत्तिरिय मनुरविमितशाकाब्दे दीपमहसि शनौ ॥
श्रीजिनप्रभसूरीणा साहाय्योद्भिन्नसौरभा ।
श्रुतावुत्तसतु मता वृति स्याद्वादमञ्जरी ॥

इन श्लोको के अनुसार स्याद्वाद मञ्जरी की रचना मे आचार्य मल्लिषेण को जिनप्रभ सूरि का विशेष सहयोग प्राप्त था।

यह कृति वी० नि० १८२० (वि० १३५०) मे शनिवार दीपमालिका के दिन सम्पन्न हुई थी। मल्लिषेण के कालक्रम को जानने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है।

५२ जन-जन-हितैषी आचार्य जिनप्रभ

खरतरगच्छ के प्रभावक आचार्य जिनप्रभ सूरि जिनकुशल सूरि के समकालीन थे। वे स्वच्छ एव निर्मल प्रतिभा के धनी थे। जैन विद्वानो मे सर्वाधिक स्तोत्र-साहित्य के निर्माता वे थे। उन्होंने ७०० स्तोत्रो का निर्माण किया। वर्तमान मे उनके १०० स्तोत्र उपलब्ध हैं।

विविध तीर्थकल्प, विविध मार्गप्रपा, श्रेणिक चरित्र, द्वयाश्रय काव्य आदि कई रचनाए उनकी हैं।

विविध तीर्थकल्प एक ऐतिहासिक कृति है। इस कृति के अध्ययन से उनकी प्रलम्बमान यात्राओं का परिचय भी मिलता है। उन्होने गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश, कर्णाटक, आध्र प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, पजाब आदि विभिन्न क्षेत्रो मे विहरण किया था। इन यात्राओ मे उन्हे विभिन्न देशो, प्रान्तो, क्षेत्रो का जो इतिहास उपलब्ध हुआ और जो विशेषताए उन्होने देखी अथवा जो भी घटनाए जनश्रुति के आधार पर परम्परा मे उन्होंने सुनी, उनको सस्कृत-प्राकृत भाषा मे निबद्ध कर तीर्थकल्प ग्रन्थ की रचना की है। अत ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ अतीव महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे ६२ कल्प हैं एव ३८ तीर्थस्थानो का वर्णन है। भगवान् महावीर के अस्थिग्राम, चम्पा, पृष्ठचम्पा, वैशाली आदि ४२ चातुर्मासिक स्थलो का नामपुरस्सर उल्लेख और पालक, नन्द, मौर्यवश, पुष्पमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नरवाहन, गर्दभिल्ल, शक, विक्रमादित्य आदि राजाओ की काल-सम्बन्धी जानकारी इस ग्रन्थ से प्राप्त की जा सकती है।

इस ग्रन्थ के महावीर कल्प मे पादलिप्त, मल्लवादी, सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि के उल्लेख भी हुए है।

आचार्य जिनप्रभ सूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वी० नि० १८५६ (वि० १३८६) मे की थी।

विधि मार्गप्रपा की रचना आचार्य जिनप्रभ ने अयोध्या मे वी० नि० १८३३ (वि० १३६३) मे की थी। यह ग्रन्थ क्रियाकाण्ड प्रधान है। इसके ४१ द्वार हैं। पौषध विधि, प्रतिक्रमण विधि आदि अनेक धार्मिक क्रियाओ की विधि को इसमे

समझाया गया है। योग विधि मे आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, समवायाङ्ग आदि आगम विषयो का वर्णन भी है।

आचार्य जिनप्रभ ने वी० नि० १८५० (वि० १३८५) मे मुगल सम्राट् 'मुहम्मद तुगलक' को प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसमे जैनशासन की अतिशय प्रभावना हुई और मुगल सम्राटो को प्रतिबोध देने की शृखला मे आचार्य जिनप्रभ प्रथम थे।

आचार्य जिनप्रभ सूरि के गुरु जिनसिंह सूरि थे। उनसे लघु खरतरगच्छ शाखा का विकास हुआ था।

आचार्य जिनप्रभ वी० नि० १९वी शताब्दी (वि० १४वी) के प्रभावक विद्वान् थे।

५३ कुशल शासक आचार्य जिनकुशल

दादा सज्ञा से प्रसिद्धि प्राप्त आचार्यों मे आचार्य मणिधारी जिनचन्द्र के वाद आचार्य जिनकुशल सूरि का नाम आता है।

जिनकुशल सूरि राजसम्मान प्राप्त यशस्वी मत्री जेसल के पुत्र थे। माता का नाम जयन्तश्री था। पूर्ण वैराग्य के साथ लगभग दस वर्ष की लघुवय मे उन्होने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षानाम कुशलकीर्ति था। शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन कर कुशलकीर्ति मुनि ने वहुश्रुतता प्राप्त की तथा शास्त्रेतर साहित्य का अनुशीलन कर वे प्रगल्भ विद्वान् वने।

श्री राजेन्द्रचन्द्राचार्य ने पाटण मे कुशलकीर्ति मुनि को वी० नि० १८४७ (वि० स० १३७७) ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी के दिन 'कलिकाल केवली' विरुद प्राप्त आचार्य जिनचन्द्र सूरि के स्थान पर नियुक्त किया। उनका नाम कुशलकीर्ति से जिनकुशल सूरि हुआ। सिन्ध और राजस्थान (मारवाड) उनके धर्म-प्रचार के प्रमुख क्षेत्र थे।

वे चामत्कारिक आचार्य भी थे एव भक्तो की मनोकामना पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष के समान माने जाते थे। लोग अत्यन्त आदर के साथ उनके वचनो को ग्रहण करते एव उनका आशीर्वाद पाकर पुलक उठते थे। आज भी अनेक स्थानो पर उनकी पादुकाए भक्तिभाव से पूजी जाती हैं। सकट की घडियो मे लोग वडी निष्ठा से उनका स्मरण करते हैं। उनके नाम पर अनेक स्तवन और स्मारक वने हैं।

साहित्य-रचना मे आचार्य जिनकुशल सूरि की प्रमुख रचना 'चैत्य वदन कुलक' वृत्ति है। इसकी रचना वी० नि० १८३३ (वि० स० १३६३) मे हुई थी।

आचार्य जिनकुशल सूरि का जैसा नाम था वैसे ही वे थे। उनके शासनकाल मे सघ सव तरह से कुशल वना रहा। जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

जीवन के सन्ध्याकाल मे शारीरिक शक्तियो को क्षीण होते देखकर उन्होने जिनपद्म सूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। देवराजपुर मे फाल्गुन कृष्ण पक्ष वी० नि० १८५९ (वि० स० १३८९) मे अनशनपूर्वक पूर्ण समाधि के साथ उनका स्वर्गवास हुआ।

५४ महामेधावी आचार्य मेरुतुग

प्रवन्ध चिन्तामणि के रचनाकार आचार्य मेरुतुग नागेन्द्र गच्छ के आचार्य थे। वे परमप्रभावी आचार्य चन्द्रप्रभ के शिष्य थे। मेघदूत काव्य के टीकाकार आचार्य मेरुतुग उनसे भिन्न थे। टीकाकार मेरुतुग का जन्म वी० नि० १८७३ (वि० १४०३) मे एव स्वर्गवास वी० नि० १९४१ (वि० १४७१) मे हुआ था। प्रस्तुत आचार्य मेरुतुग इनसे पूर्व थे। वे वी० नि० १८३२ (वि० स० १३६२) मे विद्यमान थे।

आचार्य मेरुतुग का वैदुष्य इतिहास लेखन मे प्रकट हुआ है। उन्होने महापुरुप चरित्र नामक ग्रन्थ का निर्माण किया था। प्रवन्ध चिन्तामणि की तरह यह कृति भी इतिहास से सबधित है। इस कृति मे जैन शासन के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, सोलहवे तीर्थंकर शान्ति, वाइसवे नेमिनाथ, तेइसवे पार्श्वनाथ एव अतिम तीर्थंकर महावीर का सक्षिप्त जीवन-परिचय है। इतिहास-रसिक पाठको के लिए यह अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है।

आचार्य मेरुतुग का प्रवन्ध-चिन्तामणि ग्रन्थ जैन इतिहास की विपुल सामग्री से परिपूर्ण है। जैन इतिहास की सामग्री को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने वाले मुख्य चार ग्रन्थ माने गए है—१ प्रभावक चरित्र, २ प्रवन्ध चिन्तामणि, ३ प्रवन्ध कोश, ४ विविध तीर्थ कल्प। ये ग्रन्थ परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। कालक्रम की दृष्टि से इनमे प्रभावक चरित्र सर्वप्रथम एव प्रवन्ध चिन्तामणि का स्थान द्वितीय है।

प्रवन्ध चिन्तामणि का विवेचन सक्षिप्त एव सामासिक शैली मे है। इस ग्रन्थ के निर्माण मे विद्वान् धर्मदेव का सराहनीय सहयोग आचार्य मेरुतुग को प्राप्त था। विद्वान् धर्मदेव वृद्ध गुरु भ्राता या अन्य स्थविर पुरुप थे।

आचार्य मेरुतुग के गुणचन्द्र नाम का शिष्य था। वह लेखन कला मे प्रवीण था। उमने इस ग्रन्थ की पहली प्रतिलिपि तैयार की थी। राजशेखर के प्रवन्ध कोश मे प्रवन्ध चिन्तामणि का उपयोग हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण काठियावाड मे हुआ था। ग्रन्थ-रचना की सम्पन्नता का समय वी० नि० १८३० (वि० १३६०) है। इस आधार पर महामेधावी आचार्य मेरुतुग वी० नि० की उन्नीसवी सदी के विद्वान् थे।

५५ गुण-निधान आचार्य गुणरत्न

तपागच्छ मे गुणरत्न नाम के कई आचार्य प्रसिद्धि-प्राप्त हैं। प्रस्तुत आचार्य गुणरत्न कर्मग्रन्थो के रचयिता आचार्य देवसुन्दर के शिष्य थे। उनके आचार्य पदारोहण का काल वी० नि० १९१२ (वि० १४४२) है।

दर्शनशास्त्र एव तर्कशास्त्र के वे विशिष्ट ज्ञाता थे। साहित्य-रचना की दृष्टि से उनकी प्रमुख सेवा अवचूरि साहित्य के रूप मे है।

भक्त-परिज्ञा, आतुर प्रत्याख्यान, चतुश्शरण, सस्तारक इन चार प्रकीर्ण ग्रन्थो पर आचार्य देवसुन्दर कृत कर्मस्तव, वन्ध स्वामित्व आदि पाच ग्रन्थो पर तथा चन्दर्षि महत्तर कृत सप्ततिका पर उन्होने अवचूरि साहित्य लिखा। कर्म-ग्रन्थो पर अवचूरि साहित्य की रचना वि० १४५९ मे की थी।

सस्कृत भाषा मे निवद्ध क्रियारत्न समुच्चय आचार्य गुणरत्न का अति उपयोगी ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र के शव्दानुशासन के आधार पर धातुओ का सकलन कर आचार्य गुणरत्न ने इसका निर्माण वी० नि० १९३६ (वि० स० १४६६) मे किया था। सस्कृत भाषा के विद्यार्थी को इस ग्रन्थ मे सम्यक् सामग्री प्राप्त होती है। ग्रन्थाध्ययन से गुणरत्न का सस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य भी प्रतीत होता है।

'कल्पान्तरवाच्य' ग्रन्थ की रचना आचार्य गुणरत्न ने वी० नि० १९२७ (वि० १४५७) मे की थी। इस ग्रन्थ मे पर्युपण पर्व की महत्ता का विवेचन है तथा तत्प्रसग की अनेक कथाए भी हैं।

'अचलमत निराकरण' प्रभृति परमत खण्डनात्मक ग्रन्थ भी उन्होने लिखे है।

'क्रियारत्न समुच्चय की रचना अवचूरि साहित्य और कल्पान्तर वाच्य ग्रन्थ के वाद की है।

आचार्य गुणरत्न के जीवन मे नामानुरूप योग्यता का विकास था। वे ज्ञानादि गुणो के निधान थे। क्रियारत्न समुच्चय आदि ग्रन्थो मे प्राप्त मिति सवत् के आधार पर आचार्य गुणरत्न का समय वी० नि० १८७० से १९४५ (वि० १४०० से १४७५) तक मान्य किया गया है।

अध्याय ३

नवीन युग के प्रभावक आचार्य

१ वाचोयुक्ति-पटु आचार्य हीरविजय

हीरविजय जी तपागच्छ के आचार्य थे। वे पालनपुर के ओसवाल थे। उनका जन्म वी० नि० २०५३ (वि० १५८३) मे हुआ। उनके पिता का नाम कुरा और माता का नाम नाथीबाई था। उन्होने वी० नि० २०६६(वि० १५९६) मे तपागच्छ के आचार्य विजय सूरि के पास श्रमण दीक्षा ली। धर्मसागर मुनि के साथ नैयायिक ब्राह्मण पडित से न्यायविद्या का विशेष अध्ययन किया। उन्हे वी० नि० २०७७ (वि० १६०७) मे पडित की उपाधि तथा वी० नि० २०७८ (वि० १६०८) मे "वाचक' की उपाधि प्राप्त हुई। मुनि-जीवन का उनका नाम हरिहर्ष था। वे वी० नि० २०८० (वि० १६१०) मे आचार्य बने। आचार्य-काल का नाम हीरविजय हुआ।

आचार्य विजयदान सूरि के स्वर्गवास के बाद उन्होने वी० नि० २१०१ (वि०१६३१)मे तपागच्छ का दायित्व सम्भाला। पुष्प-परिमल की तरह आचार्य हीरविजय जी के सद्गुण मडित व्यक्तित्व की प्रभा सर्वत्र प्रसारित होने लगी।

एक बार मुगल सम्राट् अकबर का आमन्त्रण मिलने पर हीरविजय जी गान्धार से फतेहपुर सिकरी आए, उस समय उन्हे भारी राजसम्मान प्राप्त हुआ था।

आचार्य हीरविजय जी के प्रभाव से मुगल बादशाह ने पर्युषण पर्व पर शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली तथा राज्य मे अमारि की घोषणा करवायी।

अकबर की सभा का उद्भट्ट विद्वान् अब्दुल फजल भी हीरविजय जी के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ। उसके निवेदन पर एक बार अकबर ने हीरविजय जी को सभा मे आमन्त्रित किया और उनके आने पर सभासदो सहित अकबर ने खडे होकर उनका सम्मान किया था।

हीरविजय जी को वी० नि० २११० (वि० १६४०)मे जगद्गुरु की उपाधि मिली। विजयसेन हीरविजय जी के शिष्य परिवार मे सबसे प्रमुख शिष्य थे। उन्हे अहमदाबाद मे हीरविजय जी ने आचार्य पद से विभूषित किया था।

अपने युग मे हीरविजय जी ने मुगल सम्राट् अकबर को प्रतिबोध देने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इससे जैन शासन की प्रभावना हुई। उनका स्वर्गवास वी० नि० २१२२ (वि० १६५२) मे हुआ था।

२-३ वाद-कुशल आचार्य विजयसेन और विजयदेव

आचार्य विजयसेन हीरविजय जी के उत्तराधिकारी थे। वाद-कुशल आचार्यों मे उनको आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था।

एक बार भूषण नामक विद्वान् के साथ चिन्तामणि मिश्र आदि विद्वानो के समक्ष सूरत मे उनका वाद-विवाद हुआ। आचार्य विजयसेन ने उसे बुद्धिबल मे निरुत्तर कर दिया था।

योग शास्त्र के एक श्लोक के सात सौ अर्थ बताकर सबको चमत्कृत कर देने वाली घटना उन्हीके इतिहास के साथ सयुक्त है।

एक बार आचार्य विजयसेन सम्राट् अकबर के आमन्त्रण पर हीरविजय जी के आदेश से लाहौर पहुचे और अपनी उपदेशधारा से सम्राट् अकबर को अत्यधिक प्रभावित किया। इसी अवसर पर सम्राट् अकबर ने सूरि जी को 'कलि सरस्वती' की उपाधि प्रदान कर उनका सम्मान बढाया था।

साहित्य क्षेत्र मे 'सुमित्र रास' नामक ग्रन्थ की रचना की। हीरविजयजी के बाद विजयसेन सूरि ने अपने धर्म-सघ का सफल नेतृत्व किया और बादशाहो पर भी अपना धार्मिक प्रभाव वैसा ही बनाये रखा।

जहागीर को प्रतिबोध देने वाले विजयदेव विजयसेन के उत्तराधिकारी थे। जहागीर के द्वारा विजयदेव को 'जहागीर महात्मा' की उपाधि प्राप्त थी। उदयपुर नरेश जगतसिंह पर उनका विशेष प्रभाव था।

धर्म-प्रचार मे प्रवृत्त आचार्य विजयसेन का वी० नि० २१४१ (वि० स० १६७१) मे स्वर्गवास हुआ था।

गुरु के नाम को उजागर करने वाले सुयोग्य शिष्य होते हैं। आचार्य हीरविजय जी के कई शिष्य थे। उनमे गुरु के यश को अधिक विस्तार देने वाले शिष्य विजयसेन व विजयदेव थे। बुद्धि-वैभव से उन्होने मुगल शासन-काल मे भी सुख्याति अर्जित की। तपागच्छ की परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृखला मे उनका नाम आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

४ जिनधर्म प्रभावक आचार्य जिनचन्द्र (अकबर-प्रतिबोधक)

अकबर-प्रतिबोधक आचार्य जिनचन्द्र सूरि जिनमाणिक्य सूरि के शिष्य थे एव अष्टलक्षी ग्रन्थ के प्रणेता महोपाध्याय समयसुन्दर जी के प्रशिष्य थे। वे चतुर्थ दादा सज्ञक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २०६५ (वि० १५९५) मे हुआ। उन्होने वी० नि० २०७४ (वि० १६०४) मे दीक्षा ग्रहण की। इस समय उनकी उम्र ९ वर्ष की थी। वे वी० नि० २०८२ (वि० १६१२) मे आचार्य पद पर आरूढ हुए।

उनकी प्रवचन शैली गभीर और प्रभावक थी। जनता पर उनके प्रवचनो का जादू-सा असर होता था।

एक वार जैन प्रभावक आचार्यो के विषय मे अकवर द्वारा प्रश्न उपस्थित होने पर किसी सभासद् ने जिनचन्द्र सूरि का नाम प्रस्तुत किया।

कर्मचन्द्र बच्छावत आचार्य जिनचन्द्र का परक भक्त था। अकबर के सकेत और उपासक कर्मचन्द्र की प्रार्थना पर आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने लाहौर चातुर्मास किया। इस चातुर्मास मे आचार्य जिनचन्द्र के प्रवचनो से प्रभावित होकर अकबर वादशाह ने उन्हें युगप्रधान पद से अलकृत किया।

आचार्य जिनचन्द्र के प्रति वादशाह की हार्दिक निष्ठा थी। उन्होने कश्मीर जाते समय आचार्य जिनचन्द्र से आशीर्वाद पाया और सात दिन तक सारे राज्य मे हिंसा न करने की घोषणा की।

वादशाह के द्वारा कृत सम्मान का प्रभाव अन्यत्र भी हुआ। अनेक राज्यो मे कही दस दिन, कही पन्द्रह दिन, कही वीस दिन तक पशुबलि वन्द रही।

वादशाह जहागीर ने वी० नि० २१३९ (वि० स० १६६९) मे सभी साधुओ को देश की सीमा पर से बाहर निकाल देने का आदेश दे दिया था।

इस आदेश से समग्र देश मे विचित्र हलचल थी। श्रमण समाज भ्रान्त और चिन्तित हुआ। इस समय जिनचन्द्र सूरि ने अपने मधुर उपदेश से जहागीर को समझाकर आदेश मे पूर्ण परिवर्तन करा दिया था।

आचार्य जिनचन्द्र सूरि जैन गगनागण मे चन्द्र की तरह चमके। उनका वी० नि० २१४० (वि० १६७०) मे स्वर्गवास हुआ।

५. क्षमा-मुदिर आचार्य ऋषिलव

स्थानकवासी परम्परा मे ऋषिलव जी ऋषि-सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्य थे। क्रियोद्धारक आचार्यो मे सम्भवत वे प्रथम थे। उनका जन्म सूरत मे हुआ। उनकी माता का नाम फूलावाई था।

ऋषिलव जी की वाल्यावस्था मे ही उनके पिता का वियोग हो गया था। उनके नाना वीरजी वोरा थे।

वोरा जी सूरत के समृद्ध श्रेष्ठी थे। उनका गोत्र श्रीमाला था। फूलावाई उनकी एक ही पुत्री थी। वे पति-वियोग हो जाने के कारण वह पुत्र के साथ पिता के यहा रहने लगी थी।

ऋषिलव जी रूप से सुन्दर व बुद्धिमान वालक थे। फूलावाई सायकाल मे सामायिक और प्रतिक्रमण किया करती थी। माता के द्वारा उच्चरित सामायिक पाठ और प्रतिक्रमण के पाठ को सुनते-सुनते ऋषिलव जी को छोटी-सी अवस्था मे भी आवश्यक सूत्र कण्ठस्थ हो गया था।

ऋषि वजरग जी सूरत के प्रसिद्ध यति थे। वोरा जी का परिवार धर्म श्रवणार्थ उनके उपाश्रय मे आया-जाया करता था। फूलाबाई की प्रेरणा से लव जी ने वजरग जी यति के पास से जैनागमो का अभ्यास किया। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग आदि सूत्रो का अध्ययन किया। शास्त्रो के अध्ययन से लव जी को ससार से विरक्ति हुई।

वोरा जी के पास अनुमानत छप्पन करोड की सम्पत्ति थी। उस सवके अधिकारी लव जी होते थे। धन की वैभव का व्यामोह उन्हे अपने पथ से विचलित नही कर सका। नाना वोरा जी की आज्ञा प्राप्त कर उनकी प्रेरणा से लव जी ने वजरग जी यति के पास वी० नि० २१६२ (वि० १६९२) मे दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उन्होने यति जी को वचनवद्ध किया—"आचार-विचार मे भेद न होने तक मैं आपके साथ रहूगा।" यति जी ने इसके लिए पूर्ण स्वीकृति प्रदान कर दी। दीक्षा लेने के वाद दो वर्प तक उनके साथ रहे। यतिवर्ग मे छाए हुए शिथिलाचार को देखकर उनका मन ग्लानि से भर गया। उन्होने यति जी के साथ कई वार इस सवन्ध की चर्चा की। वजरग जी यति का आखिरी उत्तर

था—"मेरी वृद्धावस्था है, मैं कठिन क्रिया का पालन नहीं कर सकता।"

लव जी ने उनसे क्रियोद्धार करने की आज्ञा मागी। वजरग जी यति ने प्रसन्न मन से कहा—"तुम सुखपूर्वक क्रियोद्धार करो, मेरा आशीष तुम्हारे साथ है।"

वजरग जी का आदेश प्राप्त कर लव जी ऋषि ने थोभन जी ऋषि और भानु ऋषि जी के साथ सूरत से खभात की ओर विहार किया। उन्होंने ऋषि सम्प्रदाय के अभिमत से खम्भात मे वी० नि० २१७४ (वि० स० १७०४) मे नवीन दीक्षा ग्रहण की।

लव जी ऋषि जैनागमो के गम्भीर ज्ञाता थे। साध्वाचार का अत्यन्त निर्मल नीति से पालन करना उनका लक्ष्य था।

लव जी का धर्म-प्रचार कार्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। उनके आचार-कौशल की सर्वत्र चर्चा होने लगी। यतियो के शिथिलाचार का सिंहासन डोलने लगा। यति उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गए। लव जी ऋषि के नाना वोरा जी से उन्होंने जाकर कहा—"श्रेष्ठिवर्य लव जी गच्छ मे भेद उत्पन्न कर रहे हैं। वे अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए हमारी निन्दा करते हैं। उनकी गति को न रोका गया तो लोंका-गच्छ का अस्तित्व ही डगमगा जाएगा।"

यतियो के विचार को सुनकर वोरा जी उनसे सहमत हो गए। उन्होंने खभात के नवाब से निवेदन कर लव जी को कारागृह मे बन्द करा दिया। लव जी के मुख पर बन्दीगृह मे भी वही प्रसन्नता थी जो पहले थी। वे वहा पर भी शान्तवृत्ति से साधना और ध्यान मे लगे रहे। उनकी सौम्यवृत्ति का प्रभाव नवाब की पत्नी पर हुआ। उनके कहने से नवाब ने लव जी आदि सतो को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया, इससे लव जी की प्रशसा नगर-भर मे प्रसारित हुई। लव जी को जनता ने पूज्य पद से मडित किया।

लव जी ऋषि की शुद्धनीति और विशुद्ध आचार पद्धति का प्रभाव एक दिन वोरा जी पर हुआ और वे भी ऋषिलव जी के परम भक्त बन गए।

गुजरात के खभात, अहमदाबाद आदि नगर उनके विशेष प्रचार क्षेत्र थे। गुजरात के अतिरिक्त राजस्थान प्रान्त मे भी उन्होंने विचरण किया था।

ऋषिलव जी ने वी० नि० २१८० (वि० २०१०) मे दो व्यक्तियो को दीक्षा प्रदान की थी। उनमे एक दीक्षा ऋषि सोम जी की थी। दीक्षा ग्रहण करते समय सोमजी २३ वर्ष के नवयुवक थे। उन्हे कुछ शास्त्रीय ज्ञान भी था।

लोंकागच्छीय यति शिव जी ऋषि के शिष्य धर्मसिंह जी से भी उनकी कई बार चर्चा-वार्ता हुई। आचार्य धर्मसिंह जी और ऋषिलव जी कई विषयों मे एक मत थे। ऋषिलव जी की प्रेरणा से धर्मसिंह जी भी क्रियोद्धार करने के लिए तत्पर हो गए थे। इससे यतियो मे विद्रोहाग्नि सुलगने लगी।

एक बार ऋषिलव जी के शिष्य भानुऋषि जी को एकान्त मे पाकर विद्वेष

के कारण किसी व्यक्ति ने उनका प्राणान्त कर दिया था। ऋषिलव जी अत्यन्त गम्भीर और क्षमाशील आचार्य थे। उन्होंने इस हृदयविदारक दुर्घटना को समता से सहन किया। किसी प्रकार का प्रतिकार उन्होंने नही किया।

उन्नति को देखकर बुरहानपुर मे ईर्ष्यावश किसी ने उनको विष-मिश्रित मोदक का दान दिया। बेले (दो दिन का व्रत) के पारणे मे उन्होंने भिक्षा मे प्राप्त विष मिश्रित मोदक को खाया। उनका मन मिचलाने लगा। तीव्र वेदना की अनुभूति होने लगी। उन्हे ज्ञात हो गया—किसी ने मुझे भोजन मे अवश्य जहर दिया है।

सोम जी ऋषि से उन्होंने कहा था—"पता नही मैं कब अचेत हो जाऊ। जीवन का कोई विश्वास नही है।" समताभाव से घोर वेदना को सहते हुए ऋषिलव जी ने अनशन स्वीकार कर लिया। परम समाधि मे उनका स्वर्गवास हुआ।

सोम जी ऋषि उनके सफल उत्तराधिकारी बने।

गुजरात की खभात सम्प्रदाय और दक्षिण की ऋषि सम्प्रदाय ऋषिलव जी की शाखाए मानी गयी है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय मे आगमो का हिन्दी अनुवाद करने वाले अमोलक ऋषि जी ऋषिलव जी की परम्परा के थे।

६ धर्मध्वज आचार्य धर्मसिह जी

धर्ममूर्ति आचार्य धर्मसिह जी स्थानकवासी परम्परा के प्रभावी आचार्य थे। वे। उत्तर गुजरात के सखानिया ग्राम के थे। उनके पिता का नाम रेवाभाई एव माता का नाम रम्भा था। श्रीमाली वैश्य परिवार मे उनका जन्म हुआ था। उनकी स्मरण-शक्ति विलक्षण थी। एक सहस्र श्लोक दिन-भर मे कठस्थ कर लेना उनकी बुद्धि को वरदान था। वे अवधानकार भी थे। दो हाथ एव दो पैरो के सहारे चार कलमो से एक-साथ लिख लेना उनकी विरल विशेपता थी।

वचपन से ही उनका सहज आकर्षण धर्म के प्रति था। पन्द्रह वर्ष की छोटी-सी अवस्था मे ही वे रत्नसिह जी के शिष्य यतिदेव जी के पास पिता के साथ दीक्षित हुए। आगमो का गम्भीरता से उन्होने अध्ययन किया। वत्तीस आगमो पर टब्बे लिखे। जैन साहित्य को उनका यह सवसे महत्त्वपूर्ण अनुदान था। उनके टब्बे दरियापुरी टब्बो के नाम से प्रसिद्ध है।

आगम-मर्मज्ञ धर्मसिह जी यथार्थ मे धर्मसिह सिद्ध हुए। वे वहुत निर्भीक साधक थे। लोकाशाह की धर्मक्रान्ति ने उनके मन मे चिनगारी सुलगा दी थी। उनके द्वारा प्रस्तुत नये पथ पर चलने के लिए दीक्षागुरु से अलग होते समय यक्ष के मन्दिर मे रहकर धर्मसिह जी को अत्यन्त कडी परीक्षा देनी पडी थी। पर उनके चरण अपने लक्ष्य पर अविचल थे।

उन्होने वी० नि० २१६२ (वि० १६९२) मे दृढता के साथ अहमदावाद की जनता के वीच लोकाशाह की नीति का विगुल वजा दिया। उनके पास तल-स्पर्शी शास्त्रीय अध्ययन था और वाणी मे ओज था। सहस्रो चरण उनकी ओर वढते चले आए।

श्रमण जीवराज जी ने लोकाशाह के मत का अनुगमन करते हुए सयम-साधना हेतु नियमोपनियम वनाए और आचार्य धर्मसिह जी ने उन्हे दृढता प्रदान की।

उनका विहरण-क्षेत्र मुख्यत गुजरात और सौराष्ट्र था। तैतालीस वर्ष तक सयम पर्याय का पालन कर वी० नि० २१९८ (वि० १७२८) वे स्वर्गवासी वने।

लोकाशाह की धर्मक्रान्ति को प्रज्ज्वलित करने वाले वे महान् आचार्य थे एव तृतीय क्रियोद्धारक थे।

७ दृढप्रतिज्ञ आचार्य धर्मदास जी

धर्म सुधारक आचार्य धर्मदासजी सघ के कुशल सस्थापक थे। बाईस सम्प्रदाय सघ की नीव उन्होने डाली। वे अहमदाबाद जिलान्तर्गत सरखेम गाव के थे और जीवनदास भावसार के पुत्र थे। घर का वातावरण धार्मिक सस्कारो से ओतप्रोत था। बालक का नाम भी धर्मदास रखा। धर्मदास धर्म का सुदृढ उपासक बना। लोकागच्छ के विद्वान् यति तेजसिह जी से बालक ने धर्म की प्राथमिक शिक्षा पायी। धर्म का शुद्ध रूप प्राप्त करने की उसमे आन्तरिक जिज्ञासा जागृत हुई। इसी हेतु से बालक ने अनेक व्यक्तियो से सम्पर्क साधा। श्रावक कल्याणीजी के साहचर्य से दो वर्ष तक पोतिया-बन्ध धर्म की साधना की। ऋपिलव जी और धर्मसिह से भी धार्मिक चर्चाए हुई पर बालक को कही सन्तोष नही हुआ।

साहस का सम्बन्ध कभी आस्था के साथ जुडा हुआ नही है। बालक की अवस्था करीब सोलह वर्ष की ही थी, पर उसमे सोचने-समझने और कार्य करने की उन्मुक्त शक्ति प्रबल वेग धारण कर रही थी। माता-पिता का आदेश प्राप्त कर वी० नि० २१७० (वि० १७००) मे अदम्य उत्साह के साथ बालक ने सात व्यक्तियो के साथ स्वय जैन मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली।

धर्मदास मुनि को प्रथम भिक्षा मे एक कुम्भकार के घर से भस्म प्राप्त हुई। यह शुभ शकुन था। भस्म हवा के साथ उडी। इसी तरह धर्मदास मुनि की धर्मोपदेशना भी विस्तार पा गयी। धर्म सघ की बहुत वृद्धि हुई। निन्यानवे व्यक्तियो ने उनके पास दीक्षा ग्रहण की। उनको वी० नि० २१९१ (वि० १७२१) मे सघ ने आचार्य पद से विभूपित किया।

वे उग्र विहारी, तीव्र तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी और स्वाध्यायी आचार्य थे। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ग्वालियर के महाराज उनके परम भक्त बने। उन्होने वी० नि० २२३४ (वि० १७६४) आपाढ शुक्ला सप्तमी के दिन शिकार और मास-मदिरा का सर्वथा परित्याग कर दिया। इससे जैन धर्म की महती प्रभावना हुई।

आचार्य धर्मदासजी के निन्यानवे शिष्य थे। वे लम्बे समय तक धरा पर धर्म की प्रभावना करते रहे। आचार्य धर्मदास जी धर्म के लिए अपने प्राणो की

भेट चढाने वाले अद्भुत वलिदानी आचार्य थे। धारा नगरी मे उनके शिष्य ने वी० नि० २२४२ (वि० १७७२) मे अनशन किया था।

उत्तम कार्य को सवल व्यक्ति ही सफल कर पाते है। मानसिक दुर्वलता ने मुनि को पथ से विचलित कर दिया। उस समय जैन धर्म के मस्तक को ऊचा रखने के लिए अपना उत्तराधिकार शिष्य मूलचन्द जी को सौपकर शिथिल मुनि का आसन अनशनपूर्वक आचार्य धर्मदास जी ने ग्रहण कर लिया।

अपने सघ की सुव्यवस्था के हेतु उन्होने अपने बाईस विद्वान् शिष्यो के बाईस दल वना दिए और तव से यह सघ वाईस सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा।

आचार्य धर्मदास जी को तीन दिन का अनशन आया। वे वी० नि० २२४२ (वि० १७७२) मे धर्म हेतु इस देह का उत्सर्ग कर अपने नाम को अमर कर गए।

८ प्रबल प्रचारक आचार्य रघुनाथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रभावी आचार्य रघुनाथ जी आचार्य भूधर जी के शिष्य थे। उनका जन्म वी० नि० २२३६ (वि० १७६६) माघ के शुक्ल पक्ष मे हुआ। उनके पिता का नाम नथमलजी था। वे अपने मित्र की मृत्यु के विरह से व्यथित हो चामुण्ड देवी के मन्दिर मे शान्ति प्राप्त करने को जा रहे थे। मार्ग मे श्री भूधर जी का योग मिला। तीन दिन तक उनके साथ चर्चा की। चर्चा का प्रतिफल वोधप्राप्ति के रूप मे प्रकट हुआ। रघुनाथ जी ने साधु-जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया। रत्नवती कन्या के साथ उनका सम्बन्ध किया हुआ था। उस सम्बन्ध को छोडकर रघुनाथ जी वी० नि २२५७ (वि० १७८७) ज्येष्ठ कृष्णा वुधवार को आचार्य भूधर जी के पास दीक्षित हुए। कुछ ही समय के वाद उनका नाम प्रभावक आचार्यो की पक्ति मे गिना जाने लगा।

उनके धर्म-प्रचार के प्रमुख क्षेत्र जालौर, पाली, ममदडी, सादडी, मेडता आदि ७०० गाव थे। आचार्य रघुनाथ जी के हाथ से ५२५ दीक्षाए हुई। उनके गुरुभाई श्रमण श्री जेतसिंहजी, जयमल जी, कुशल जी आदि ९ श्रमण थे।

उस समय यति वर्ग का अत्यधिक प्रभाव जनता पर छाया हुआ था। उनके साथ आचार्य रघुनाथ जी के कई शास्त्रार्थ हुए। उनको अपने धर्म-प्रचार-कार्य मे अनेक कष्टो को सहन करना पडा। विरोधी पक्ष के द्वारा उन्हे भोजन मे जहर भी मिला था पर उन्होने ममता से विद्रोह को सहन किया। टोडरमल जी, नगराज जी आदि उनके प्रमुख विद्वान् शिष्य थे।

जीवन के सध्याकाल मे आचार्य रघुनाथ जी पाली मे थे। उनको १७ दिन का अनशन आया। वे ८० वर्ष की अवस्था मे वी० नि० २३१६ (वि० स० १८४६) माघ शुक्ला ११ के दिन स्वर्ग को प्राप्त हुए।

९ इन्द्रिय-जयी आचार्य जयमल्ल

स्थानकवासी परम्परा के प्रभावक आचार्यों की गणना मे आचार्य जयमल्ल जी का नाम बहुत चर्चित रहा है। वे तपोनिष्ठ, स्वाध्याय-प्रेमी, जितेन्द्रिय एव महान् वैरागी साधक थे। उनका जन्म राजस्थानान्तर्गत लाम्विया ग्राम मे हुआ। वे बीसा ओसवाल थे एव गोत्र से समदडिया महता थे। पिता का नाम मोहनदास जी, माता का नाम महिमादेवी एव अग्रज का नाम रिडमल जी था। बाईस वर्ष की अवस्था मे जयमल्ल जी का विवाह कुमारी लक्ष्मी के साथ हुआ।

व्यापारिक सम्बन्धो के कारण एक बार जयमल्ल जी मेडता गए। स्थानकवासी परम्परा के आचार्य भूधर जी से उन्होने सुदर्शन सेठ का व्याख्यान सुना। ब्रह्मचर्य व्रत की अतिशय महिमा का प्रभाव उनके मानस मे अकित हो गया। उन्होने जीवन की गहराइयो को झाका। भोग-विलास को निस्सार समझ वे आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा मे प्रतिबद्ध हो गए। उनके हृदय मे वैराग्य की तरगे तीव्रगति से तरगित हुईं। अर्न्तमुखी प्रवृत्ति की प्रवलता ने जीवन की धारा को बदला, वे सयम पथ पर बढने के लिए तत्पर बने। उनकी धर्मपत्नी लक्ष्मी गौना लेकर ससुराल लौट ही नही पायी थी। विवाह के अभी छह मास ही सम्पन्न हुए थे। जयमल्ल जी वी० नि० २२५७ (वि०१७८७) अगहन कृष्णा द्वितीया के दिन आचार्य भूधर जी के पास दीक्षित हो गए। ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष मे उनका विवाह हुआ। कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को उन्होने उपदेश सुना एव मार्ग शीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन वे सयम मार्ग मे प्रविष्ट हो गए। धर्मपत्नी लक्ष्मी नाम से लक्ष्मी और गुणो से भी लक्ष्मी ही थी। वह अपने पति के साथ सयम धर्म को स्वीकार कर अलौकिक लक्ष्मी के रूप मे प्रकट हुई। जयमल्ल जी का जन्म वी० नि०२२३५ (वि० १७६५) है। दीक्षा लेने के वाद उन्होने तप साधना को अपने जीवन का प्रमुख अग बनाया। तेरह वर्ष तक निरन्तर एकान्तर तप किया। दीक्षा गुरु आचार्य भूधर जी के स्वर्गारोहण के पश्चात् सो कर नीद न लेने का महासकल्प लिया एव पच्चास वर्ष तक पूर्ण जागरूकता के साथ इस दुर्धर सकल्प को निभाया। "निद्द च न बहु मन्नेज्जा" भगवान् महावीर की वाणी का यह पद्य उनकी जीवन-

साधना का प्रमुख अग बन गया था।

दिल्ली, आगरा, पजाब, मालवा एव राजस्थान उनके प्रमुख विहार-क्षेत्र, स्वधर्म प्रचार-क्षेत्र थे। बीकानेर मे सर्वप्रथम धार्मिक बीजवपन का श्रेय स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से उन्हे है।

आचार्य जयमल्ल जी तपस्वी थे, धर्म-प्रचारक थे एव साहित्यकार भी। उनके जीवन मे तप साधना एव श्रुतसाधना का अनुपम योग था। उनकी साहित्य-रचना सरस एव सजीव थी। जिस किसी विषय को उठाया उसका मुक्त भाव से विवेचन किया है। स्तवनपधान, उपदेशप्रधान एव जीवन-चरित्रप्रधान गीतिकाओ से गुम्फित जयवाणी आचार्य जयमल्ल जी की विविध रचनाओ का सकलन है।

तेरापथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु के क्रान्तिकारी विचारो के वे प्रवल समर्थक थे। आचार्य भिक्षु ने स्थानकवासी परम्परा मे दीक्षा आचार्य रुघनाथ जी के पास ग्रहण की थी। आचार्य जयमल्ल जी तथा आचार्य रुघनाथ जी गुरु भाई थे। दोनो मे आचार्य रुघनाथ जी वडे थे। अत आचार्य भिक्षु के आचार्य जयमल्ल जी चाचा गुरु थे।

स्थानकवासी सघ से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाने के वाद भी आचार्य भिक्षु से जयमल्ल जी का कई वार सौहार्दपूर्ण मिलन हुआ। शास्त्रीय आधार पर चिन्तन-मनन भी चला। विचार-सरिता की दो धाराए अत्यधिक निकट आ गयी थी पर किसी परिस्थितिवश वे एक न हो पायी। आचार्य जयमल्ल जी की हार्दिक सहानुभूति उनके साथ बनी रही।

तेरापथ के द्वितीय आचार्य भारमल जी स्वामी के पिता किसनोजी कई दिन आचार्य भिक्षु के पास रहे। किसनोजी की प्रकृति कठोर थी। सघर्पमय स्थिति मे उनका निभ पाना कठिन था। तेरापथ सघ की नवीन दीक्षा ग्रहण करते समय आचार्य भिक्षु ने जयमल्ल जी को उन्हे सौप दिया था। जयमल्ल जी द्वारा भी उनका सहर्प स्वीकरण प्रकारान्तर से आचार्य भिक्षु के प्रति सहानुभूति का ही एक रूप था। प्रस्तुत घटना का उल्लेख जयमल्ल जी के शव्दो मे इस प्रकार हुआ है—"भीखण जी वडे चतुर व्यक्ति है, उन्होने एक ही काम से तीन घरो मे 'वधामणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य वढ गया, किसनो जी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वय भीखण जी ने समझा कि चलो, वला टल गयी।"

आचार्य जयमल्ल जी की प्रभावना के कारण उनका सम्प्रदाय जयमल सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके उत्तराधिकारी आचार्य परम्परा मे क्रमश रायचन्द जी, आसकरण जी, शवलदास जी, हीराचन्द जी, किस्तूरचन्द जी आदि आचार्यो ने कुशलतापूर्वक उनके सघ का नेतृत्व किया।

वृद्धावस्था मे आचार्य जयमल्ल जी का सानिध्य तेरह वर्प तक नागौरवासियो

प्राप्त हुआ। इक्कतीस दिवसीय अनशन के साथ वी० नि० २३२३ (वि०
१८५३) वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन उनका स्वर्गवास हुआ।

सादडी सम्मेलन के अवसर पर इस सम्प्रदाय ने गहरी सूझ-बूझ से अपना
स्तित्व श्रमण सघ मे विलीन कर दिया था।

१०. मंगल प्रभात आचार्य भिक्षु

तेरापथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु थे। वे युगप्रवर्तक, कान्तद्रष्टा, आत्म-सगीत के उद्‌गाता एव सत्य के महान् अनुसधाता थे। उनके जीवन का सर्वस्व ही सत्य था। आगम मथन करते समय प्राप्त सत्य की स्वीकृति मे सम्प्रदाय का व्यामोह, सुविधावाद का प्रलोभन एव पद सम्मान का आकर्षण उनके लिए बाधक नही बन सका। जहा भी जब भी उन्हे जिस रूप मे सत्य की अनुभूति हुई, दुनिया के सामने उन्होने निर्भीकतापूर्वक उस सत्य की अभिव्यक्ति दी। उनके सार्वभौमिक अहिंसात्मक घोष से धार्मिक जगत् मे एक नई क्रान्ति का जन्म हुआ और मानवता के मगल प्रभात का उदय हुआ।

आचार्य भिक्षु का प्रारम्भिक नाम 'भीखण' था। उनका जन्म वी० नि० २२५३ (वि० १७८३) आपाढ शुक्ला त्रयोदशी के दिन जोधपुर प्रमण्डल मे कटालिया ग्राम मे हुआ। उनके पिता का नाम शाह बल्लू जी व माता का नाम दीपा बाई था। दीपा बाई की कुक्षि से जन्मा मकलेचा परिवार का यह कुलदीप यथार्थ मे ही कुल दीप सिद्ध हुआ। पुत्र की गर्भावस्था मे माता ने सिंह का स्वप्न देखा था। यह स्वप्न शिशु के शुभ भविष्य का सकेत था। आचार्य भिक्षु सयम-साधना-पथ पर सिंह की भाति निर्बाध गति से अविरल बढते रहे।

आचार्य भिक्षु का शिशु-जीवन विविध जिज्ञासाओ से भरा हुआ उभरा और वैराग्य रस से परिपूर्ण होकर धार्मिकता की ओर ढलता गया। विविध धर्म-सम्प्रदायो के सम्पर्क ने आचार्य भिक्षु को सत्य का अनुसन्धित्सु बना दिया। स्थानकवासी परम्परा ने जिज्ञासु हृदय को अधिक प्रभावित किया।

एक कुलीन कन्या के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। गृहस्थ जीवन मे आबद्ध होकर भी वे कमलतुल्य निर्लेप थे। उनके अन्त स्तल मे विरक्ति का निर्झर बह रहा था। पूर्ण सयमी जीवन स्वीकार कर लेने की भावना उनमे लम्बे समय तक परिपाक पाती रही। पत्नी के स्वर्गवास से विरक्ति की धारा और तीव्र हो गयी। मा के लिए सतोषप्रद व्यवस्था का निर्माण कर वे वी० नि० २२७८ (वि० १८०८) मे स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी से दीक्षित हुए।

आठ वर्ष तक उनके साथ रहे। आगम ग्रन्थो का उन्होने गम्भीर अध्ययन

किया। उनके सत्यान्वेषी मानस को प्रचलित परम्पराओ से कही सतोष न मिल सका। विचार-भेद के कारण २२८७ (वि० १८१७) चैत्र शुक्ला नवमी के दिन वे चार साथियो सहित स्थानकवासी परम्परा से सम्बन्ध विच्छेद कर पृथक् हो गए। चौतीस वर्ष की अवस्था मे चिन्तनपूर्वक उठाया हुआ उनका यह कदम पूर्व-परम्पराओ को चुनौती व अध्यात्मशान्ति का सूत्रपात था।

आचार्य भिक्षु के सामने अनेक सघर्ष आए। सकटमयी विकट परिस्थितिया चट्टान की भाति उनके पथ मे उपस्थित हुई। पर सयम के पथ पर बढते हुए उनके चरणो को काल व देशजनित कोई बाधा अवरुद्ध न कर सकी।

आचार्य भिक्षु के इस क्रान्तिकारी निर्णय का लक्ष्य विशुद्ध आचार परम्परा का वहन था। उन्होने नाम व सम्प्रदाय निर्माण करने की कोई भी योजना पहले नही सोची थी और न अपने दल का कोई नामकरण किया।

उनकी सख्या अन्य श्रमणो के साथ और मिल जाने से तेरह हो गयी थी। जोधपुर के तत्कालीन दीवान फतेहचन्द जी सिंघवी ने आचार्य भिक्षु के विचारो के अनुसार तेरह श्रावको को दुकान मे सामायिक करते देखा। उनसे आचार्य भिक्षु के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त करते समय पता लगा—उनके साथ श्रमणो की सख्या भी तेरह ही है। पार्श्व मे खडे एक भोजक कवि ने तत्काल एक पद की रचना कर तेरह की सख्या के आधार पर आचार्य भिक्षु के दल को 'तेरापथी' दल सम्बोधित किया। भोजक कवि के मुख से दिया हुआ यह नाम मुख-मुख पर चर्चित होता हुआ आचार्य भिक्षु के कानो तक पहुचा। उनकी अर्थप्रधान मेधा ने तेरापथी शब्दावली के साथ व्यापक अर्थ योजना घटित की। तेरापथ को प्रभु का मार्ग बताकर उस नाम को स्वीकार कर लिया। तात्त्विक भूमिका पर तेरापथ शब्द की व्याख्या मे पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो की साधना का सम्बन्ध जोडा।

आचार्य भिक्षु ने वी० नि० २२८७ (वि० १८१७) मे आषाढ शुक्ला पूर्णिमा के दिन बारह साथियो सहित नई दीक्षा ग्रहण की। यही तेरापथ स्थापना का प्रथम दिवस था।

दीर्घदर्शी, सुविनीत श्रमण थिरपाल जी व फतेहचन्द जी की युगल सन्तो की विशेष प्रार्थना पर वे तप-आराधना के साथ जन-उद्बोधन कार्य मे प्रवृत्त हुए। उनके आगम-आधारित उपदेशो का जनमानस पर अप्रत्याशित प्रभाव बढता गया। लोगो के चरण उनके पीछे डोर से खीचे पतग की भाति बढते चले आए। कई व्यक्ति श्रावक भूमिका मे प्रविष्ट हुए। कई श्रमण बने। चार वर्ष तक किसी बहिन की श्रमण दीक्षा नही हुई। एक व्यक्ति ने आकर भिक्षु से कहा—"भिक्षु जी! तुम्हारे सघ मे तीन तीर्थ हैं।" आचार्य भिक्षु मुस्कराते हुए बोले—"इस बात की मुझे कोई चिन्ता नही, मोदक खण्डित है पर शुद्ध सामग्री से बना है।"

तेरापथ स्थापन-काल मे साधुओ की सख्या तेरह थी। उसी वर्ष मे यह सख्या कम होकर छह के अक पर पहुच गयी। आगम-विशेषज्ञ हेमराज जी स्वामी की दीक्षा वी० नि० २३२३ (वि०१८५३) मे हुई। उससे पहले सन्तो मे १३ की सख्या पुन कभी पूर्ण नही हो पायी थी। हेमराज जी स्वामी की दीक्षा के समय तेरह का अक पूर्ण हुआ तथा उसके बाद आगे बढता गया।

आचार्य भिक्षु के शासनकाल मे १०४ दीक्षाए हुई। उनमे से ३७ व्यक्ति पृथक् हो गए पर आचार्य भिक्षु के सामने सख्या का व्यामोह नही, आचार-विशुद्धि का प्रश्न प्रमुख था।

अनुशासन की भूमिका पर उनकी नीति स्वस्थ व सुदृढ थी। उन्होने पाच साध्वियो को एकसाथ सघमुक्त कर दिया पर अनुशासनहीनता व आचार-हीनता को प्रश्रय नही दिया।

तेरापथ सघ के द्वितीय आचार्य भारीमलजी स्वामी को उन्होने वी० नि० २३०२ (वि० १८३२)मे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसी समय सर्व-प्रथम उन्होने सघीय मर्यादाओ का निर्माण भी किया। एक आचार्य मे सघ की शक्ति को केन्द्रित कर उन्होने सुदृढ सगठन की नीव डाली। इससे अपने-अपने शिष्य बनाने की परम्पराओ का मूलोच्छेद हो गया। भावी आचार्य के चुनाव का दायित्व भी उन्होने वर्तमान आचार्य को सौंपा।

आज तेरापथ सघ सुसगठित और सुव्यवस्थित है, इसका प्रमुख श्रेय आचार्य भिक्षु की उन मर्यादाओ को तथा एक आचार्य, एक समाचारी और एक विचार इस महत्त्वपूर्ण त्रिपदी को है।

आचाय भिक्षु सहज कवि थे व गम्भीर साहित्यकार थे। उन्होने लगभग अडतीस हजार पद्यो की रचना कर जैन साहित्य को समृद्ध किया। उनकी रचना राजस्थानी भाषा मे एव राजस्थान मे प्रचलित राग-रागिनियो मे गेय रूप है। कुछ रचनाए गद्यमयी है।

आचार्य भिक्षु का विहरण-क्षेत्र राजस्थानान्तर्गत प्राचीन सज्ञा से अभिहित मारवाड-मेवाड-ढूढाड था। अत उनकी रचनाओ मे मारवाडी, मेवाडी भाषा का सम्मिश्रण है। राजस्थान का यह भूभाग गुजरात के नजदीक होने के कारण कही-कही गुजराती शब्दो के प्रयोग भी हैं।

आचार्य भिक्षु कवि थे, पर उन्होने जीवन मे कवि बनने का प्रयत्न नही किया और न उन्होने कभी भाषाशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलकारशास्त्र एव रसशास्त्र का प्रशिक्षण पाया पर उनके द्वारा रचे गए पद्यो मे सानुप्रासिक आलकारिक प्रयोग पाठक को मुग्ध कर देते है। मिश्र धर्म के निरसन मे उनके पद्य है

'साभर केरा सीग मे—सीग सीग मे सीग।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी वात मे धीग धीग मे धीग॥

चोर मिले उजाड मे, करे झपट झपट मे झपट ।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी वात मे कपट कपट मे कपट ।।
वाजर सेत गावे जरे बूट बूट मे बूट ।
ज्यू मिश्र परूपे त्यारी वात मे, झूठ झूठ मे झूठ ।।

आचार्य भिक्षु की साहित्य-रचना का प्रमुख विषय शुद्ध आचार परम्परा का प्रतिपादन, तत्त्व दर्शन का विश्लेपण एव धर्म सघ की मौलिक मर्यादाओ का निरूपण था। उनकी रचनाओ मे प्राचीन वैराग्यमय आख्यान भी निवद्ध है, जो व्यक्ति को अध्यात्मवोध प्रदान कर जीवनकाव्य के मर्म को समझाते हैं।

आचार्य भिक्षु के क्रान्त विचार उनकी पद्यावलियो मे स्पष्ट रूप से उभरे है ।

आचार्य भिक्षु जिन वाणी के प्रति अटूट आस्थावान् थे । आगम के प्रत्येक विधान पर उनका सर्वस्व वलिदान था। एक वार किसी व्यक्ति ने उनसे कहा—"आपकी वुद्धि अत्यन्त प्रखर है। गृहस्थ जीवन मे रहकर आप विशाल राज्य के सचालक वन सकते थे।"

उसके उत्तर मे आचार्य भिक्षु तत्काल वोले

वुद्धि वाहि सराहिए, जो सेवे जिनधर्म ।
वा वुद्धि किण काम री, जो पडिया वान्धे कर्म ।।

"मैं उसी वुद्धि की प्रशसा करता हू जो जिन-धर्म का सेवन करे। मुझे उस वुद्धि से कोई प्रयोजन नही है जिससे कर्मों का वन्धन होता है।'

आचार्य भिक्षु के साहित्य ने साध्वाचार की शिथिलता, शिष्यो की जागीरदारी प्रथा पर तीव्र प्रहार किया है।

आचार्य भिक्षु का सर्वोत्कृष्ट मौलिक कार्य नए मूल्यो की स्थापना है। अहिंसा व दान-दया की व्याख्या उनकी सर्वथा वैज्ञानिक थी।

आचार्य भिक्षु की अहिंसा सार्वभौमिक क्षमता पर आधारित थी। वडो के लिए छोटो की हिंसा व पचेन्द्रिय जीवो की सुरक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियो के प्राणो का हनन आचार्य भिक्षु की दृष्टि मे जिनशासनानुमोदित नही था।

अध्यात्म व व्यवहार की भूमिका भी उनकी भिन्न थी। उन्होंने कभी और किसी प्रसग पर दोनो को एक तुला से तोलने का प्रयत्न नही किया। उनके अभिमत से व्यवहार व अध्यात्म को सर्वत्र एक कर देना, सममूल्य के कारण घृत व तम्वाकू को समिश्रित कर देने जैसा है।

दान-दया के विषय मे भी आचार्य भिक्षु ने लौकिक एव लोकोत्तर की भेद-रेखा प्रस्तुत कर जैन समाज मे प्रचलित मान्यता के समक्ष नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उस समय सामाजिक सम्मान का माप दण्ड दान-दया पर अवलम्बित था। स्वर्गोपलब्धि और पुण्योपलब्धि की मान्यताए भी दान-दया के साथ सम्बद्ध-

थी। आचार्य भिक्षु ने लौकिक दान-दया की व्यवस्था को कर्त्तव्य व सहयोग बताकर मौलिक सत्य का उद्घाटन किया। साध्य-साधन के विषय मे भी आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण स्पष्ट था। उनके अभिमत से शुद्ध साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति सभव है। रक्त-सना वस्त्र कभी रक्त से शुद्ध नही होता, हिंसा प्रधान प्रवृत्ति कभी अध्यात्म के पावन लक्ष्य तक नही पहुचा सकती।

दुनिया मे नए चिन्तन का प्रारम्भिक स्वागत प्राय विरोध से होता है। आचार्य भिक्षु के जीवन मे भी अनेक कष्ट आए। पाच वर्ष तक पर्याप्त भोजन भी नही मिला। स्थानाभाव की असुविधाओ से भी उन्हे जूझना पडा। स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर सबसे पहला विश्राम श्मशान भूमिका मे एव प्रथम चातुर्मास केलवा की अधेरी कोठरी मे उन्होने किया था। आचार्य भिक्षु महान् कष्ट-सहिष्णु, दृढसकल्पी एव स्वलक्ष्य के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। किसी भी विरोध की चिन्ता किए बिना वे कुशल चिकित्सक की भाति सत्य की कटु घूट जनता को पिलाते रहे और आगम पर आधारित साधना का रूप अनावृत करते रहे।

आचार्य भिक्षु की सत्यस्पर्शी, स्पष्टोक्तिया, गम्भीर तत्त्व का प्रतिपादन, सार्वभौम अहिंसा का सदेश उनके अन्तर्मुखी विराट् व्यक्तित्व का सूचक था। आचार्य भिक्षु के साहित्य को पढकर आधुनिक विद्वान् उन्हे हेगल और 'काट' की तुला से तौलते है।

आगमनिष्ठ, सत्य के अनुसधित्सु आचार्य भिक्षु ने पच्चीस वर्ष की अवस्था मे श्रमण दीक्षा ग्रहण की। वे ७७ वर्ष तक एकनिष्ठ होकर जैन धर्म की प्रभावना मे प्रवृत्त रहे। उनका स्वर्गवास सिरियारी मे वी० नि० २३३० (वि० १८६०) भाद्रपद शुक्ला १३ को त्रीदिवसीय अनशन के साथ हुआ।

११. प्रज्ञा-प्रदीप आचार्य जय

तेरापथ के चतुर्थ अधिनायक जयाचार्य थे। वे प्रखर प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होने जैन श्रुत की विलक्षण उपासना की एव आगमपरक जैन साहित्य की अभिनव वृद्धि की।

आचार्यजय का जन्म वी० नि० २३३० (वि० १८६०) को ओसवाल वशीय गोलछा परिवार मे हुआ था। वह पूरा परिवार जैन सस्कारो से ओत-प्रोत था। उनकी बुआ अजबू जी ने पहले ही भागवती दीक्षा स्वीकार कर ली थी। सस्कारो की बात है जयाचार्य सात वर्ष के थे तभी उन्होने दीक्षा लेने की मन मे ठान ली। कभी-कभी वे झोली मे पात्रियो के स्थान पर कटोरिया रख गोचरी जाने का अभिनय भी किया करते थे। जयपुर मे आचार्य भारीमाल जी के उपपात मे उन्होने पच्चीस बोल, चर्चा, तेरह द्वार आदि अनेक ग्रन्थो को कठाग्र कर साधु जीवनोचित भूमिका पूर्णत निर्माण कर ली थी। उनका दीक्षा सस्कार तेरापथ के तृतीय आचार्य ऋषिराय महाराज (मुनि अवस्था मे) के हाथ से हुआ। उस समय जयाचार्य की अवस्था मात्र नौ वर्ष की थी।

हेमराज जी स्वामी तेरापथ के महान् आगम विज्ञ सन्त थे। उनके पास जयाचार्य ने बहुत लम्बे समय तक प्रशिक्षण पाया तथा उनके सम्पूर्ण ज्ञान-सिन्धु को वे अगस्त्य ऋषि की तरह पी गए थे। जयाचार्य की प्रतिभा को प्रकृति का वरदान था। ग्यारह वर्ष की अवस्था मे उन्होने 'सत गुण माला' का निर्माण किया और अठारह वर्ष की आयु मे पन्नवणा सूत्र जैसे ग्रन्थ का राजस्थानी भाषा मे पद्यानुवाद कर डाला।

साहस और बुद्धि ये दो गुण न दिए जाते है और न लिए जाते हैं। इनका जन्म, जन्म के साथ ही होता है। जयाचार्य के पास एक ओर अतुल बुद्धि सम्पदा थी तो दूसरी ओर साहस भी उनके हृदय मे भरा था।

द्वितीयाचार्य भारीमाल जी द्वारा अपने उत्तराधिकारी के रूप में दो नामो का लिखित उल्लेख किए जाने पर जयाचार्य ने ही पूज्यश्री के पास पहुचकर एक नाम रखने का साहस भरा निवेदन किया था। जयाचार्य की उस समय अवस्था छोटी ही थी पर उनकी विनम्र प्रार्थना मे शतवर्षीय वृद्धावस्था का-सा गहरा अनुभव

प्रकट हो रहा था। भारीमाल जी स्वामी बालमुनि की इस बात पर बहुत प्रसन्न हुए और एक ही नाम उन्होंने पत्र पर रखा।

जयाचार्य चौदह वर्ष तक युवाचार्य पद पर रहे। तृतीय आचार्य रायचन्दजी के बाद वी० नि० २३७८ (वि० १६०८) मे उन्होंने तेरापथ धर्म सघ का नेतृत्व सम्भाला था। उनके शासनकाल मे तेरापथ सघ एक शताब्दी को पार कर दूसरी शताब्दी मे चरण न्यास कर रहा था। वह युग विचारो के सक्रमण का युग था। तेरापथ की आन्तरिक व्यवस्थाए परिवर्तन माग रही थी। जयाचार्य का आगमन उपयुक्त समय पर हुआ। उन्होंने अत्युत्तम सूझ-बूझ के द्वारा अनेक नई व्यवस्थाओ को सघ मे जन्म दिया।

उस समय पुस्तको पर स्वामित्व सभी सन्तो का अपना था। जयाचार्य ने सबकी उपयोगिता के लिए उनका सघीकरण किया। पुस्तको की सामग्री के लिए प्रति अग्रगामी पर गाथा प्रणाली का कर लागू किया। इस प्रकार आहार और श्रम-प्रदान की सम-व्यवस्थाए भी जयाचार्य के शासनकाल मे हुई। महासती सरदारा जी भी इन क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो मे महान् निमित्त बनी है।

मर्यादा-महोत्सव अपने-आपमे अनूठा महोत्सव है। इस अवसर पर विभिन्न स्थलो मे विहरण करने वाले सैकडो साधु-साध्वियो का आचार्य की सन्निधि मे मिलन और सघीय मर्यादाओ का वाचन होता है। आगामी चातुर्मासो के आदेश-निर्देश भी प्राय इस प्रसग पर मिलते है। इसीलिए चातुर्मास सम्पन्न होते ही सबका ध्यान इस महोत्सव के साथ जुड जाता है। सहस्रो नर-नारी इस सम्मेलन मे एकत्रित होते हैं। मर्यादा-महोत्सव मनाया जाता है। इन पर्वो पर साधु-साध्वियो की योग्यताए सामने आती है और विशिष्ट उपलब्धिया सघ की होती है। इस महोत्सव के प्रारम्भीकरण का श्रेय जयाचार्य को ही है।

जैन समाज को जयाचार्य की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उनका विशाल साहित्य है। उन्होंने साढे तीन लाख पद्य परिमाण साहित्य की रचना की। गम्भीर साहित्य का निर्माण एकान्त के क्षणो मे होता है। आचार्य का जीवन प्रवृत्ति-बहुल होने के कारण उन्हे ऐसे क्षणो की उपलब्धि कठिन ही होती है। पर युवाचार्य मघवागणी ने बहुत-सी प्रवृत्तियो का सचालन अपने पर झेल लिया था। इससे जयाचार्य बहुत निश्चिन्तता से एकान्त के क्षणो मे डूबकर गम्भीर साहित्य की सृजना कर सके थे।

वे आगम टीकाकारो मे पद्यबद्ध रचना करने वाले प्रथम टीकाकार थे। उन्होंने सात आगमो की टीकाए की। भगवती सूत्र जैसे महान् आगम पर अस्सी हजार श्लोक परिमाण पद्य-रचना उनकी महामनीषा का चमत्कार था। एक दिन मे वे तीन सौ पद्य बना लिया करते थे। जैनागम भारती की यह आराधना जैन-शासन की अत्युत्तम प्रभावना थी।

उनकी रचनाओ को पढने से लगता है कि वीर-वाणी के प्रति वे सर्वतोभावेन समर्पित हो गए थे। किसी भी सैद्धान्तिक विषय के विवेचन मे वे आगम प्रमाणो का पर्याप्त उपयोग करते थे। उनकी हर रचना आगमिक आधार पर अवलम्बित है।

इतिहास लेखन मे भी उनकी लेखनी का अनुपम अनुदान है। जैन इतिहास के साथ तेरापथ का इतिहास भी उनसे बहुत समृद्ध हुआ। 'भिक्षु जस रसायन' स्वामी जी के केवल गुणानुवाद ही नही अपितु विविध दृष्टान्तो के आधार पर तात्त्विक विवेचन भी है। इतिहास लिखने की यह सुन्दर परम्परा तेरापथ धर्म सघ मे जयाचार्य ने स्थापित की। उन्होने अनेक साधु साध्वियो के तथा श्रावक-श्राविकाओ के जीवन-चरित्र भी लिखे हैं।

जयाचार्य उच्च कोटि के भाष्यकार थे। आचार्य भिक्षु की प्रत्येक रचना का उन्होंने भाष्य कर दिया। आगम वाणी पर उनका भाष्यमय साहित्य अत्यन्त मर्मस्पर्शी है जो युग-युग तक जैनागम मे प्रवेश पाने वाले विद्यार्थी के लिए आलोक-स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। उनकी उन विरल विशेषताओ के कारण उन्हे जैन मुकुटमणि सम्बोधन दिया है।

जयाचार्य की स्वाध्याय-साधना भी अतुल थी। जीवन के अन्तिम आठ वर्षो मे उन्होंने लगभग ८६,६७,४५० गाथाओ का स्वाध्याय किया।

जैन दर्शन मे सयमी जीवन का जितना महत्त्व है उससे भी कही अधिक महत्त्व पण्डित मरण का है। जैन शासन की महान् प्रभावना करते हुए जयाचार्य ने जितना सुन्दर ढग से सयमी जीवन जीया उससे कही अधिक उन्होंने अन्तिम क्षणो को सवारा।

वे प्रतिक्षण जागरूक थे। देहशक्ति क्षीण होने का आभास होते ही उन्होने अनशन की स्थिति को स्वीकारा। पूर्ण जागरूक अवस्था मे तीन हिचकी के साथ आख खुलते ही उनका स्वर्गवास वी० नि० २४०८ (वि० १९३८) भाद्रव कृष्णा द्वादशी को हो गया था।

१२. विद्या-विभाकर आचार्य विजयानन्द

आचार्य विजयानन्द सूरि को विद्यानन्द सूरि कहना अधिक उपयुक्त होगा। ज्ञान के क्षेत्र मे उन्होने अतिशय योग्यता प्राप्त की। वेद, वेदाग और भारतीय विभिन्न दर्शनो का अवगाहन करने से उनकी बुद्धि काफी परिष्कृत हो चुकी थी। वी० नि० २३६३ (वि० १८९३) मे वे जन्मे। बचपन मे ही उनके मस्तक पर से पिता के प्यार का साया उठ गया। भाग्य से बालक को धार्मिक सस्कारो का बल मिला और वह स्थानकवासी सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गया।

मुनि बनने के बाद उनका धीरे-धीरे मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय की ओर झुकाव होने लगा। एक दिन बुद्धि-विजय जी के पास वी० नि० २४०२ (वि० १९३२) मे उन्होने मन्दिरमार्गी दीक्षा स्वीकार कर ली। पहला नाम उनका आत्माराम था। दूसरा नाम आनन्द विजय हुआ।

उनको वी० नि० २४१३ (वि० १९४३) मे जैनाचार्य पद से अलकृत किया। आचार्य बनने के बाद वे आनन्द विजय से विजयानन्द हो गए।

विजयानन्द सूरि जी समर्थ आचार्य थे। ये ही वे आचार्य थे, जिन्होने समूचे भारत मे अध्यात्म का शखनाद फूका और विदेशो तक अपने शिष्य वीरचन्द राघव को प्रेषित कर आत्मज्ञान की पीयूष-स्रोतस्विनी प्रवाहित की।

शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन के अवसर पर राघव जी का वक्तव्य हुआ। वक्तव्य सुनकर विदेशी लोग जैन धर्म की वैज्ञानिकता पर मुग्ध हुए और उन्होने पहली बार अनुभव किया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। जैन धर्म-प्रचारार्थ यूरोपीय देशो मे कई सस्थाओ को स्थापित करने का श्रेय भी आचार्य विजयानन्द जी को है।

पाश्चात्य देशो से निकट सम्पर्क साधने वाले वे प्रथम आचार्य थे। विदेशो मे उन्हे बुलाने के लिए कई निमन्त्रण भी आए पर उनका जाना नही हुआ।

आचार्य विजयानन्द जी की स्मरणशक्ति बहुत तीव्र थी। एक दिन मे ३०० श्लोक वे कण्ठस्थ कर लेते थे।

उनकी साहित्य-सेवा भी बेजोड थी। तत्त्व निर्णय प्रसाद, अज्ञान तिमिर भास्कर, शिकागो प्रश्नोत्तर, सम्यक्त्व शल्योद्धार, जैन प्रश्नोत्तर, नव तत्त्व सग्रह,

आत्मविलास, आत्मबावनी, जैन मत वृक्ष आदि विभिन्न ग्रन्थो की उन्होने रचना की।

उन्होंने वी० नि० २४०७ (वि० १९३७) के वर्ष मे सहस्रो की सख्या मे अजैन व्यक्तियो को जैन बनाकर जैन धर्म को विशेष रूप से उजागर किया।

उनका सम्पूर्ण जीवन एक प्रकार से जागरण का सन्देश था। इस भौतिक देह का विसर्जन भी उन्होंने जागरूकता के साथ किया।

वी० नि० २४२३ (वि० १९५३) ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सध्या के समय प्रतिक्रमण किया। तदनन्तर वे परिपार्श्व मे बैठे हुए मुनि वृन्द से क्षमा-याचना करते हुए बोले, "हम जा रहे हैं।" इतना कहकर रुके ही थे। अर्हन्-अर्हन् की ध्वनि के साथ उनका स्वर्गवास हो गया।

१३. अज्ञान-तिमिरनाशक आचार्य अमोलक ऋषि

स्थानकवासी परम्परा मे ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य अमोलक ऋषि जी अपने युग के विश्रुत विद्वान् थे। वे मेडता-निवासी श्री कस्तूरचन्द जी ओसवाल के पौत्र और श्री केवलचन्द के पुत्र थे। उनकी माता का नाम हुलासी था। अमोलक ऋषि जी का जन्म वी० नि० २४०४ (वि० १९३४) को भोपाल मे हुआ। उनके छोटे भाई का नाम अमीचन्द था। अमोलक ऋषि जी को बाल्यावस्था मे मातृ-वियोग की सकटमयी घडी का सामना करना पडा। पिता केवलचन्द जी ने मुनि जनो से बोध प्राप्त कर सयम-दीक्षा स्वीकार कर ली।

धार्मिक वातावरण अमोलक ऋषि के परिवार से सहज प्राप्त था। पिता की दीक्षा ने उन्हे सयम मार्ग के प्रति आकृष्ट किया। उन्होने वीर नि० २४१४ (वि० स० १९४४) मे भागवती-दीक्षा ग्रहण की।

अमोलक ऋषि जी बुद्धिबल से सम्पन्न श्रमण थे एव गुरुजनो के प्रति विनम्र भी थे। उन्होने शास्त्रो का गम्भीर अध्ययन श्री रत्नऋषि जी के पास किया और उनके साथ गुजरात आदि अनेक देशो मे विचरे। रत्नऋषि जी के साथ अमोलक ऋषि जी सात वर्ष तक रहे थे।

उन्हे ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार, वी० नि० २४५९ (वि० १९८९) मे आचार्य पद से विभूषित किया गया। पिछले कई वर्षों से ऋषि सम्प्रदाय मे आचार्य पद रिक्त था।

आगमो का अमोलक ऋषि जी को गम्भीर ज्ञान था। सिकन्दराबाद (हैदराबाद) मे तीन वर्ष तक विराज कर उन्होने बत्तीस सूत्रो का सरल हिन्दी अनुवाद किया था। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करते समय वे निरन्तर एकातर तप करते और सात-सात घण्टो तक अबाध गति से लिखते थे। प्राकृत भाषा को न जानने वाले आगमार्थ पिपासु साधको के लिए यह अनुवाद उपयोगी सिद्ध हुआ।

आगमो के अतिरिक्त उन्होने विशाल जैन साहित्य की रचना की। जैन तत्त्व प्रकाश आदि ७० ग्रथ उनके है। उनमे कई गेय आख्यान हैं। कई ग्रथ जैन तत्त्व ज्ञान से सम्बन्धित भी है। उनके कुल ग्रथो की सख्या आगमो को सम्मिलित कर देने पर १०२ हो जाती है। उनके ग्रथो की आवृत्तिया गुजराती, मराठी, कन्नड और

उर्दू भाषा मे भी प्रकाशित है।

अमोलक ऋषि जी का स्थानकवासी समाज पर अच्छा प्रभाव था। धर्म-प्रचार की दृष्टि से उन्होने मालव आदि क्षेत्रों मे विशेष रूप से विहरण किया। वृद्धावस्था मे भी उन्होंने पजाब की यात्रा की। उनका वी० नि० २४६२ (वि० स० १९९२) चातुर्मास दिल्ली मे था। कोटा, बूदी, रतलाम आदि क्षेत्रों मे विहरण कर वी० नि० २४६३ (वि० स० १९९३) का चातुर्मास उन्होने खानदेश मे किया। इस चातुर्मास मे उनके कर्ण वेदना हुई। उपचार करने पर भी वेदना उपशान्त नही हुई। जीवन के अत समय मे भादपद कृष्णा चतुर्दशी के दिन उन्होने अनशन किया। परम समता भाव मे वे स्वर्गगामी बने।

१४. चिन्मय चिराग आचार्य विजयराजेन्द्र

विजयराजेन्द्र सूरिश्वर जी सौधर्म वृहत्तपोगच्छीय श्वेताम्बराचार्य थे। वे अनेक भाषाओ के विज्ञ और महान् साहित्यकार थे। अभिधान राजेन्द्र कोष उनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है।

विविध सामग्री से परिपूर्ण इस कोप को समग्र जैन वाड्मय मे अपना अनूठा स्थान प्राप्त है।

उनकी शिष्य मडली मे इतिहास-प्रेमी, व्याख्यान-वाचस्पति यतीन्द्रविजय जी थे। यतीन्द्रविजय जी की दीक्षा वी० नि० २४२४ (वि० १९५४) आषाढ कृष्णा द्वितीया सोमवार को खाचरोद मे हुई थी। उन्होने विजयराजेन्द्र सूरि जी की सन्निधि मे बैठकर सस्कृत, प्राकृत भाषा का अध्ययन किया और अभिधान राजेन्द्र-कोष की रचना मे आठ वर्ष तक सह-सम्पादक के रूप मे रहकर उन्होने सफलता-पूर्वक काम किया।

काल किसीके लिए एक क्षण भी प्रतीक्षा नही करता। विजयराजेन्द्र सूरिश्वर जी कोष-निर्माण मे निष्ठा के साथ लगे थे। कोष-निर्माण का कार्य पूर्ण नही हो पाया उससे पहले ही काल ने आकर उनके जीवन-द्वार पर दस्तक लगा दी।

वे वी० नि० २४३३ (वि० १९६३) मे पौप शुक्ला षष्ठी शनिवार को स्वर्ग-वासी हो गए और उनका महान् स्वप्न अधूरा रह गया।

उनके स्वर्गवास के पश्चात् कोप-निर्माण का कार्य विद्वान् सत दीपविजय जी और यतीन्द्रविजय जी की देख-रेख मे चलता रहा। सात भागो मे पूर्ण वह राजेन्द्र कोष वी० नि० २४४२ (वि० १९७३) मे 'राज सस्करण' की अभिधा से अलकृत होकर जनता के सामने आया और शोध पाठको के लिए वहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

१५. करुणा-स्रोत आचार्य कृपाचन्द्र

आचार्य कृपाचन्द सूरि खरतरगच्छ के प्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २३८३ (वि० १६१३) मे हुआ। यतियो से पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

वे आगमज्ञ थे और व्याकरणशास्त्र तथा न्यायशास्त्र पर भी उनका अच्छा अधिकार था। यति से वे मुनि बने। वी० नि० २४४२ (वि० १९७२) को बम्बई मे उन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ था।

मारवाड, गुजरात, काठियावाड और मालव मे विहरण कर जैन शासन के उपवन को उन्होंने अपनी सदुपदेश धारा से सींचा। कई पाठशालाओं और पुस्तकालयों की स्थापना भी उनकी प्रेरणा से हुई।

आज भी खरतरगच्छ मे करुणास्रोत आचार्य कृपाचन्द्र सूरि का नाम गौरव से स्मरण किया जाता है।

१६. शास्त्र-विशारद आचार्य विजयधर्म

तपागच्छीय आचार्य विजयधर्म सूरि जी प्रख्याति-प्राप्त आचार्य थे। उनका जन्म वी० नि० २३९४ (वि० १९२४) मे एक सम्पन्न परिवार मे हुआ। वालक का नाम मूलचन्द था। पढने की रुचि वालक मे विल्कुल नही थी। प्रति व्यक्ति के मानस घटक परमाणु भिन्न-भिन्न होते हैं। घोडे को तालाव पर ले जाया जा सकता है पर विना रुचि के उसे पानी नही पिलाया जा सकता।

पिता ने वालक मूलचन्द को व्यापारी वनाना चाहा पर उसका मन सट्टा करने मे फस गया था। पिता भी अपने वच्चे की इस प्रवृति से चिन्तित थे।

'सत्सगति कि न करोति पुसाम्' दुनिया का कौन-सा भला कार्य सत्सगति के द्वारा नही होता। पतित से पतित व्यक्ति सत्सगति से पावन वन जाते है। भाग्य से मूलचन्द वालक को सन्तो का पावन सान्निध्य मिला। विचारो की धारा वदली। सट्टे के जीवन से मुक्त होकर वालक वैरागी वना और वह वी० नि० २४१३ (वि० १९४३) मे मुनि श्री वृद्धिचन्द जी के पास दीक्षित हुआ। साधु-जीवन का नाम धर्मविजय रखा गया।

नए जीवन का प्रारम्भ होते ही अध्ययन के प्रति रुचि वढ गयी। विद्या से घृणा करने वाले का नाम धुरन्धर विद्वानो की श्रेणी मे आने लगा।

उनको वी० नि० २४३४ (वि० १९६४) मे काशी नरेश के सभापतित्व मे अनेक विद्वानो के वीच 'शास्त्र-विशारद' की उपाधि से अलकृत कर जैनाचार्य के पद से विभूषित किया गया।

आचार्य वनने के वाद धर्मविजय के स्थान पर वे विजयधर्म सूरि जी के नाम से सम्वोधित होने लगे। धर्म प्रचारार्थ गुजरात, विहार, वगाल, वनारस, इलाहावाद और कलकत्ता आदि क्षेत्रो मे विहरण किया। अनेक विद्वानो ने उनसे जैन धर्म की दीक्षा स्वीकार की।

उनके व्यक्तित्व का प्रभाव विदेशो तक भी पहुचा। कई विदेशी विद्वान् उनके निकट मित्र की तरह थे। उद्भट्ट मनीषी हर्मन जेकोवी तक ने उनके व्यक्तित्व की मुक्तकठ से प्रशसा की।

१७. विशद विचारक आचार्य विजयवल्लभ

मन्दिरमार्गी परम्परा के प्रभावक आचार्यो मे विजयवल्लभ सूरि का नाम विश्रुत है। वे गम्भीर विचारक थे एव समन्वय वृत्ति के पोषक थे। उनके प्रवचन का मुख्य प्रतिपाद्य था, "मेरी आत्मा चाहती है—साम्प्रदायिकता से दूर रहकर जैन समाज श्री महावीर स्वामी के झडे के नीचे एकत्रित होकर महावीर की जय बोले।" इस दिशा मे उन्होने समय-समय पर स्तुत्यात्मक प्रयत्न भी किये।

विजयवल्लभ सूरि का जन्म वी० नि० २३९७ (वि० १९२७) मे वडौदा (गुजरात) मे हुआ। उनके पिताश्री का नाम दीपचन्दभाई व माता का नाम इच्छाबाई था। बचपन मे उन्हे छगन नाम से पुकारते थे। माता-पिता के धार्मिक सस्कारो का उन पर प्रभाव हुआ। ससार से विरक्त होकर वे वी० नि० २४१४ (वि० १९४४) मे राधनपुर मे श्रीमद विजयानन्द सूरि के पास दीक्षित हुए और हर्षविजय जी के शिष्य बने। उनका दीक्षा का नाम विजयवल्लभ था। उन्होने दीक्षा लेने के बाद आगमो का गम्भीर अध्ययन किया।

आचार्य पद पर आरूढ होकर विजयवल्लभ ही नही वे जनवल्लभ भी बन गए। उनकी प्रवचन शैली सरस, सरल व आकर्षक थी। जनता जनार्दन को जैन सस्कारो मे सस्कारित करने के लिए वे विशेष प्रयत्नशील थे। जैनो को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वावलम्बन, सगठन, शिक्षा और जैन साहित्य का निर्माण—इन चारो बातो पर वे अधिक बल देते थे।

वे समता के पुजारी थे। सम्पर्क मे आने वाले जैन, जैनेतर सभीसे समव्यवहार करते थे।

बम्बई मे तेरापथ के प्रभावी आचार्य श्री तुलसी के साथ जैन एकता के समन्वय मे उनका विचार-विमर्श भी हुआ। उस चर्चा-प्रसग की जैन समाज मे सुन्दर प्रतिक्रिया रही। उसके थोडे समय बाद शीघ्र ही बम्बई मे वी० नि० २४८१ (वि० २०११) मे उनका स्वर्गवास हो गया।

१८. योग-साधक आचार्य बुद्धिसागर

योगियो की परम्परा मे बुद्धिसागर सूरि जी का नाम प्रख्यात है। वे जाति के पटेल थे और महान् योग साधक थे। पौने चार मन का उनका शरीर था तथा भरपूर मस्ती का उनका जीवन था। उनकी अगुलियो मे अट्ठारह चक्र थे।

बुद्धिसागर जी वास्तव मे ही बुद्धि के सागर थे। वे वी० नि० २४०० (वि० १९३०) मे जन्मे और वी० नि० २४२७ (वि० १९५७) मे उन्होने सुखसागर जी के पास जैन दीक्षा ग्रहण की। उनकी सयम-साधना उच्चकोटि की थी और रसनेन्द्रिय पर उनकी उत्कृष्ट विजय थी। वे उग्रविहारी और साहित्य-पाठन के तीव्र रसिक थे। उन्होने अपने जीवन मे लगभग २५०० पुस्तको का वाचन किया। एक 'अध्यात्मसागर' नामक पुस्तक को उन्होने सौ बार पढा था।

साहित्य-सेवा भी उनकी अनुपम थी। एक सौ आठ कृतियो के सृजनहार वे अकेले महापुरुष थे। हजार पृष्ठो का विशालकाय महावीर ग्रन्थ लिखकर उन्होने अध्यात्म-साहित्य को गौरवमय उपहार भेंट किया। आनन्दघनजी के अध्यात्मपरक पद्यो के विवेचन का श्रेय भी उन्हे है।

वे सस्कृत और गुजराती भाषा भी जानते थे। इन दोनो ही भाषाओ मे उन्होने सरस स्तवनो की रचना की है।

वे प्रमुख रूप से साहित्यकार नही, योग साधक थे। साहित्य उनकी योग-साधना की एक स्थूल निष्पत्ति थी।

वे वी० नि० २४४० (वि० १९७०) मे आचार्य पद पर आरूढ हुए। ग्यारह वर्ष तक उन्होने अपने सघ का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। उनका वी० नि० २४५१ (वि० १९८१) मे स्वर्गवास हो गया।

१६. समता-सागर आचार्य सागरानन्द

आचार्य सागरानन्द सूरिजी तपागच्छ के आगमोद्धारक आचार्य थे। वे कप्पड-गज के श्रेष्ठी मगनलाल गाधी के सुपुत्र और मणिलाल गाधी के लघु भ्राता थे। वी० नि० २४०१ (वि० १९३१) मे उनका जन्म और सत्तरह वर्ष की आयु मे जवेरसागर जी मुनि के पास उनकी दीक्षा हुई। दीक्षा नाम आनन्दसागर था। ज्ञान के क्षेत्र मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त कर विद्यासागर बने।

उनको वी० नि० २४३० (वि० १९६०) मे पन्यास पद तथा गणीपद और वी०नि० २४४४ (वि० १९७४) मे विमलकमल सूरि द्वारा आचार्य पद से अलकृत किया गया।

सूरत मे उनके नाम पर 'आनन्द पुस्तकालय' अध्यात्म साहित्य-प्रधान सुविशाल पुस्तकालय है।

आगमोद्धार के लक्ष्य से उन्होने उदयपुर, सूरत आदि शहरो मे लगभग पन्द्रह समितियो की स्थापना की। आचार्य सागरानन्द की इस प्रवृत्तिका जनता मे अच्छा सम्मान बढा और उन्हे आगमोद्धारक उपाधि से भूषित किया गया। उन्होने अपने जीवन मे अनेक सत्प्रयत्नो से जैन शासन की श्री वृद्धि की।

२०. कमनीय कलाकार आचार्य कालूगणी

तेरापथ धर्म सघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी थे। वे तेजस्वी एव वर्चस्वी आचार्य थे। जैन धर्म की प्रभावना मे उनका विविध रूपो मे योगदान है।

आचार्य कालूगणी का जन्म वी० नि० २४०३ (वि० १९३३) को छापर-निवासी कोठारी परिवार मे हुआ। छापर वर्तमान मे चुरु जिले के अन्तर्गत है। श्री कालूगणी जी मूलचन्द्र जी के इकलौते कुलदीप थे। उनकी माता जी का नाम छोगा जी था।

छोगा जी निर्भय और धर्मनिष्ठ महिला थी। कालूगणी जब तीन दिन के थे छोगाजी को भयकर दैत्याकार काली छाया अपनी ओर बढती हुई दिखाई दी। एक हाथ से उन्होने पुत्र की रक्षा की तथा दूसरे हाथ से उस डरावनी कायाकृति को पछाडकर सिंहनी की तरह निर्भयता का परिचय दिया था।

मातृगुणो का सहज सक्रमण सतान मे होता ही है। छोगा जी के गुणो का विकास कालूगणी के व्यक्तित्व मे हुआ। शिशु-अवस्था मे ही उनके जीवन मे धार्मिक सस्कारो की नीव गहरी हो गयी।

माता छोगा जी के साथ वे ग्यारह वर्ष की उम्र मे वी० नि० २४१४ (वि० १९४४) मे आचार्य मघवागणी से दीक्षित हुए। मघवागणी तेरापथ धर्म सघ के पचम आचार्य थे। प्रकृति से वे अत्यन्त कोमल थे। उनकी सन्निधि मे रहकर कालूगणी ने साधना-शिक्षा के क्षेत्र मे बहुमुखी विकास किया। तेरापथ धर्म सघ के सप्तम आचार्य डालगणी के बाद वी० नि० २४३६ (वि० १९६६) मे वे आचार्य पद पर आसीन हुए। दीक्षा-जीवन से आचार्य पद पर आरूढ होने तक का बाईस वर्ष का काल उनके लिए व्यक्तित्व-निर्माण का सर्वोत्तम था। इस प्रलम्बमान अवधि मे शिक्षा-साधना के साथ अनेक अनुभवो का सबल उन्हे प्राप्त हुआ।

तेरापथ धर्म सघ के छठे आचार्य श्री माणकगणी के स्वर्गवास के बाद कालूगणी को आचार्य पद पर आरूढ करने की अतरग चर्चाए चली। पर उम्र कम होने के कारण वैसा नही बन सका। यह भेद उस दिन खुला जब सप्तमाचार्य डालगणी ने एक दिन मगन मुनि (मत्री) से कहा—"सघ ने मेरा नाम मेरी अनुमति के बिना कैसे चुना ? मै इस पद को नही स्वीकारता तो दूसरा नाम किसका सोचा

था ?" मगन मुनि ने इस अवसर पर डालगणी के सामने विकल्प मे कालूगणी का नाम प्रस्तुत किया। डालगणी का ध्यान तब से ही भावी आचार्य के रूप मे कालूगणी पर केन्द्रित हो गया था।

कालूगणी का आचार्य पद के लिए निर्णय अत्यत रहस्यपूर्ण ढग से हुआ। डालगणी ने चार दिन पूर्व ही पत्र मे नाम लिख दिया था। पर अन्तिम समय तक यह भेद न खुल सका। युवाचार्य पद पर चार दिन तक सर्वथा गुप्त रूप मे रहे, ऐसा होना कालूगणी के अनुकूल ही था। वे कभी अपना प्रदर्शन नही चाहते थे और पद-लालसा से भी सर्वथा दूर थे।

आचार्य कालूगणी शरीर सम्पदा से भी सम्पन्न थे। लम्बा कद, चमकीली आखें, गेंहुआ वर्ण और प्रसन्न आकृति उनके बाह्य व्यक्तित्व की झाकी है। उनका अन्तरग व्यक्तित्व मघवागणी का वात्सल्य, माणकगणी की उपासना और डालगणी के कठोर अनुशासन के निकष पर उत्तीर्ण निर्दोप कनक था।

तेरापथ धर्म सघ की उनके शासनकाल मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। साधना, शिक्षा, कला, साहित्य आदि विविध धर्मपक्षो मे उन्होने नए कीर्तिमान स्थापित किए।

सस्कृत भाषा को तेरापथ धर्मसघ मे विकास देने का श्रेय आचार्य कालूगणी को है। जयाचार्य ने सस्कृत का बीज बोया। मघवागणी ने उसे परिसिंचन दिया, पर अनुकूल परिस्थितियो के सहयोगाभाव मे उसका विकास अवरुद्ध हो गया था।

आचार्य कालूगणी भाग्यशाली आचार्य थे। उनकी प्रगति के लिए प्रकृति ने स्वय द्वार खोले। विकास योग्य साधन सामग्री उन्हे सहज प्राप्त हो जाती थी। भगवती सूत्र जैसे दुर्लभ ग्रथ की ३६ प्रतियो की उपलब्धि सघ को उनके शासन-काल मे हुई।

श्रमण-श्रमणी परिवार की भी तेरापथ धर्म सघ मे उस समय अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आचार्य श्री कालूगणी ने कुल चार सौ दस दीक्षाए प्रदान की। उनमे अधिक-तर लघुवय श्रमण-श्रमणियो की दीक्षाए थी। कई दम्पती दीक्षार्थी भी थे।

आचार्य श्री कालूगणी स्वय एक कुशल कलाकार थे। उनकी अनुपम कृति आचार्य श्री तुलसी के रूप मे हमारे सामने है। इन्हे देखकर आचार्य श्री कालूगणी की कुशल कलाकारिता का सहज स्मरण हो आता है। इस अमूल्य कृति के लिए जनमानस उन्हे सौ-सौ वधाइया देता है।

तेरापथ धर्म सघ मे श्रमणी-श्रमण सफल साहित्यकार, प्रवण वैयाकरण, कुशल वाग्मी, उग्र चर्चावादी और प्रबल प्रचारक बनकर युग के सामने आए। उन सबके विकास-पथ मे ऊर्जाकेन्द्र आचार्य श्री कालूगणी थे।

जैन धर्म का व्यापक प्रचार करने हेतु विहार-क्षेत्र को उन्होने विस्तृत किया। उनके शासनकाल मे साधु-साध्वियो की प्रलम्बमान यात्राए प्रारभ हुई। गुजरात,

महाराष्ट्र और दक्षिण भारत मे साधु-साध्वियो को प्रेषित करने का प्रथम श्रेय उन्हे है। पूर्वाचार्यों के समय मे तेरापथ धर्म सघ के मुनियो का मुख्य विहरण-स्थल राजस्थान था। मध्य प्रदेश की यात्रा भी उस समय सुदूर यात्रा मानी जाती थी।

आचार्य श्री कालूगणी सक्षम व्यक्तित्व के धनी थे। एक बार सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोवी ने उनके दर्शन किए। डा० हर्मन जेकोवी अनेक भाषाओ के विज्ञ विद्वान् थे और जैन दर्शन के गम्भीर अध्येता थे। तेरापथ धर्म सघ की एकात्मकता ने उन्हे अत्यधिक प्रभावित किया। कालूगणी के सामने उन्होंने अपनी अन्तर् जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए कहा—"अहिसा, अपरिग्रह के सन्देशवाहक जैन तीर्थकर मास भक्षण करते है। यह बात मेरे अन्तर्मन ने कभी स्वीकार नही की थी, पर आचाराग का अनुवाद करते समय 'मस वा मच्छ वा' पाठ देखकर मेरी प्राचीन धारणा उलट गयी।"

आचार्य श्री कालूगणी ने 'भगवती' आदि के आगमिक आधार पर चूर्णिकारो तथा टीकाकारो का ससदर्भ कथन प्रस्तुत करते हुए 'मस वा मच्छ वा' पाठ का विवेचन किया और पन्नवणा सूत्र मे आए हुए वनस्पति के साथ इस पाठ का उद्धरण देते हुए वताया—"मस वा मच्छ वा' नाम वनस्पति-विशेष से सबधित है।"

आचार्य श्री कालूगणी से प्रामाणिक आधार पाकर डा० हर्मन जेकोवी की भ्राति दूर हो गयी और वह परम सन्तुष्ट होकर लौटा। जूनागढ की सभा मे एक वक्तव्य मे आचार्य श्री कालूगणी की सन्निधि का वर्णन करते हुए उन्होने कहा—"मैं अपनी इस यात्रा मे भगवान् महावीर की विशुद्ध परम्परा के वाहक श्रमण और श्रमणियो को देख पाया हू। तेरापथ धर्म सघ के आचार्य कालूगणी से मुझे 'मस वा मच्छ वा' पाठ का सम्यक् अर्थबोध हुआ है ओर इससे मेरी भ्रात धारणा का निराकरण हो गया है।"

डा० हर्मन जेकोवी जैसे विद्वान् को प्रभावित कर देना जैन दर्शन का अतिशय प्रभावनाकारक कार्य था जो आचार्य श्री कालूगणी के द्वारा सभव हो सका।

विविध गुणो का समवाय आचार्य श्री कालूगणी का जीवन था। वे विनम्र होते हुए भी स्वाभिमानी थे। पापभीरु होते हुए भी अभय थे। अनुशासन की प्रतिपालना मे दृढ होते हुए भी सौम्य स्वभावी थे। आगमो के प्रति अगाध आस्थाशील होते हुए भी प्रगतिगामी विचारो के धनी थे और जैन धर्म प्रभावना मे सतत प्रयत्नशील थे। उनका स्वर्गवास गगापुर, मेवाड मे वी० नि० २४६३ (वि० १९९३) मे भाद्रव शुक्ला ६ को हुआ।

प्रभावक आचार्यों की परम्परा मे उनका नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

२१. प्रवचन-प्रवीण आचार्य जवाहर

साधुमार्गी परम्परा के विद्वान् आचार्य जवाहरलाल जी आचार्य श्रीलाल जी के उत्तराधिकारी थे। उनका जन्म वी० नि० २४०२ (वि० स० १९३२) मे हुआ। लगभग सोलह वर्ष की किशोरावस्था मे उन्होने पूर्ण वैराग्य के साथ भागवती-दीक्षा ग्रहण की। तैंतालीस वर्ष की अवस्था मे वे आचार्य बने। विभिन्न दर्शनो का उन्हे ज्ञान था।

वह युग शास्त्रार्थ प्रधान था। जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्मसघ के साथ उनके कई शास्त्रार्थ हुए। धर्मचर्चाए चली। विशाल आगम-सागर का इस निमित्त आशातीत मथन हुआ। सैद्धान्तिक विषयो का पुन -पुन आवर्तन, परावर्तन, प्रत्यावर्तन हुआ। चिन्तन, मनन एव निदिध्यासन हुआ। जनसाधारण के लिए ये शास्त्रार्थ ज्ञानवर्धक सिद्ध हुए एव विद्वद् वर्ग को भी जैन दर्शन की गम्भीर दृष्टियो को समझने का अवसर मिला।

आचार्य जवाहरलाल जी की साहित्य-सेवाए भी उल्लेखनीय है। उनके तत्त्वावधान मे सूत्रकृताग जैसे गम्भीर सूत्र की सस्कृत टीका का हिन्दी अर्थसहित सम्पादन हुआ। इससे प्रस्तुत आगम के कठिनतम पाठो के अर्थ हिन्दी पाठको के लिए सुगम हो गए है।

जनकल्याणोपयोगी, विविध सामग्री से परिपूर्ण उनके अनेक प्रवचन 'जवाहर किरणावली' नामक कृति के कई भागो मे प्रस्तुत है।

आचार्य जी के नाम पर समाज मे अनेक प्रवृत्तियो का सचालन हुआ। बीकानेर जिलान्तर्गत भीनासर मे प्राचीन एव नवीन सहस्रो ग्रथो का भडार जवाहर पुस्तकालय उनके कर्मनिष्ठ जीवन की स्मृति करा रहा है।

आचार्य जवाहरलाल जी की वाणी मे ओज था एव वक्तव्य देने की कला प्रभावक थी। जैन-जैनेतर सभी प्रकार के लोग उनके उपदेशो से प्रभावित हुए है। देश तथा समाज की सामयिक समस्याओ पर भी वे अपना चिन्तन प्रस्तुत करते रहते थे।

स्थानकवासी सघो की एकता के लिए अजमेर श्रमण सम्मेलन पर उन्होने

अपने श्रम और समय का यथेष्ट योगदान दिया। आचार्य पद को कुशलतापूर्वक वहन करते हुए वे वि० नि० २४७० (वि० स० २०००) मे स्वर्गगामी बने।

उनके उत्तराधिकारी आचार्य गणेशीलाल जी थे। जिन्होने श्रमण सघ के उपाचार्य का पद भी सम्भाला था। श्री गणेशीलाल जी के उत्तराधिकारी वर्तमान मे आचार्य नानालाल जी है।

२२. शान्ति-सुधाकर आचार्य विजयशान्ति

भारतीय शासक गण का मस्तक जिनके चरणो में श्रद्धा से झुक गया, वे महान् प्रभावी आचार्य विजयशान्ति सूरि जी थे। उनका जन्म वी० नि० २४१५ (वि० १९४५) में हुआ। धर्मविजय जी और तीर्थविजय जी उनके शिक्षक थे। तीर्थविजय जी से १६ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर १६ वर्ष तक उन्होंने विभिन्न प्रान्तो में धर्म प्रचारार्थ यात्राए की। पुस्तको के वे विद्वान् नहीं थे पर योगजन्य विद्या का अद्भुत चामत्कारिक बल उन्हे प्राप्त था।

माउण्ट आबू उनकी विशेष साधनास्थली था। उनका वी० नि० २४४७ (वि० १९७७) में सर्वप्रथम पदार्पण वहां हुआ था।

उनको वी० नि० २४६० (वि० १९९०) में 'जीवदया-प्रतिपालक, योग-लब्ध राजराजेश्वर' की उपाधि से अलकृत किया गया।

वीर वाटिका में उनको 'जगत गुरु' का पद मिला। इसी वर्ष के मार्ग शीर्ष महीने में उन्होंने आचार्य पद का दायित्व सभाला।

उदयपुर में नेपाल राजवंशीय डेपुटेशन द्वारा 'नेपाल राजगुरु' सम्बोधन देकर अपने राज्य की ओर से उनका सम्मान किया था। नेपाल के अतिरिक्त अन्य विदेशी लोग भी उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। एक अंग्रेज ने उनका पूर्णत शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था।

उनकी उपदेशामृत-वाणी से अनेक व्यक्तियो ने शराब और मास का परित्याग किया तथा सैकडो राजाओ और जागीरदारो ने पशुवलि तक बन्द कर दी।

आबू का सुरम्य-शान्त वातावरण उनके मन को अधिक पसन्द आ गया था। वे विशेषत वही रहे और माटोली स्थान पर उनका स्वर्गवास हुआ।

२३. शील-सिन्धु आचार्य शान्तिसागर

दिगम्बर परम्परा मे आचार्य शान्तिसागर जी अतिशय प्रभावक आचार्य हुए है। उनकी प्रख्याति योगिराज एव महान् तपस्वी के रूप मे भी है। उनका जन्म दक्षिण भारत के वेलगुल गाव मे वी० नि० २३६६ (वि० स० १९२९) मे हुआ। वे भीमगोडा पाटिल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम सरस्वती था। गृहस्थ जीवन मे शान्तिसागर जी का नाम सातगोडा था। उनका परिवार सुखी एव समृद्ध था। माता-पिता विशेष धार्मिक रुचि के थे।

शान्तिसागर जी का विवाह नौ वर्ष की अवस्था मे कर दिया गया था। सयोग से विवाह के कुछ समय वाद ही पत्नी की मृत्यु हो गयी। माता-पिता ने उनका विवाह पुन करना चाहा पर वे पूर्णत अस्वीकृत हो चुके थे। मुनि जनो के प्रसग मे आने के कारण उनकी धार्मिक भावना उत्तरोत्तर विकास पाती रही। ब्रह्मचर्य का आजीवन व्रत स्वीकार कर तथा भोजन मे घृत, तेल आदि का परिहार कर उन्होने गृहस्थ जीवन मे तपस्वी जैसा जीवन जीना प्रारम्भ कर दिया।

माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के वाद मुनि देवेन्द्रकीर्ति से उन्होने वी० नि० २४४० (वि० स० १९७०) मे क्षुल्लक-दीक्षा स्वीकार की। उनकी मुनि दीक्षा वी० नि० २४४७ (वि० स० १९७७) मे हुई थी। श्रमण भूमिका मे प्रविष्ट हो जाने के वाद उनका नाम शान्तिसागर जी रखा गया था।

आचार्य शान्तिसागर जी के व्यक्तित्व का वहिरग पक्ष जितना सवल था उससे अधिक सवल अतरग पक्ष भी था। लोगो के जीवन पर उनके साधनाशील जीवन का दिन-प्रतिदिन प्रभाव वढता गया। गृहस्थ जीवन मे भी वे विशेष तप-साधना किया करते थे। मुनि-जीवन स्वीकार करने के वाद उन्होने कठोर योग-साधना एव ध्यान-साधना प्रारम्भ कर दी। कोन्नूर प्रदेश की भयानक गुफाओ मे भी वे एकाकी ध्यान-साधना किया करते थे। एक वार गिरिकन्दरा मे फणिधारी नागराज ने ध्यानस्थ शान्तिसागर जी पर आक्रमण किया। पर वे अपनी साधना से तिलमात्र भी विचलित नही हुए। उनकी भावना मे अहिंसा और अभय की सरिता प्रवाहित होती रही।

शान्तिसागर जी समता, क्षमा आदि गुणो से सम्पन्न सुयोग्य मुनि थे। चतुर्विध

संघ के समक्ष आचार्य पद उनकी नियुक्ति हुई।

धर्म-प्रचार की दृष्टि से भी आचार्य शान्तिसागर जी ने महान् कार्य किया। दक्षिण भारत से उत्तर भारत मे उनका आगमन हुआ। यह उनकी दिगम्बर इतिहास मे उल्लेखनीय यात्रा थी। इस यात्रा से पूर्व कई शताब्दियो तक दिगम्बर मुनियो का मुख्य विहरण-स्थान दक्षिण भारत ही बना हुआ था। अत उत्तर भारत मे वर्षो से अवरुद्ध दिगम्बर मुनियो के आवागमन के मार्ग को उद्घाटित करने का श्रेय आचार्य शान्तिसागर जी को है।

वृद्धावस्था मे उनकी नेत्र ज्योति क्षीण हो गयी थी। उनकी आत्मज्योति अधिक प्रकाश के साथ प्रकट हुई। कुन्थुल गिरि पर ८३ वर्ष की अवस्था मे उन्होने आहार-मात्र का परित्याग कर देहासक्ति पर विजय पायी। परम समाधि के साथ ३६ दिवसीय सल्लेखना मे वी० नि० २४८२ (वि० स० २०१२) मे उनका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य शान्तिसागर जी के तपोमय जीवन ने दिगम्बर परम्परा को तेजस्विता प्रदान की है एव उनके श्रमनिष्ठ जीवन से नए इतिहास का निर्माण हुआ है।

२४. श्रमनिष्ठ आचार्य घासीलाल

स्थानकवासी परम्परा के मरुधर सत घासीलाल जी बीसवी सदी के यशस्वी विद्वान् थे। जैन-जैनेतर सम्प्रदायो मे वे प्रसिद्ध थे। उनका जन्म मेवाड मे हुआ। आचार्य जवाहरलाल जी के पास वी० नि० २४२८ (वि० १९५८) माघ शुक्ला त्रयोदशी बृहस्पतिवार को उन्होने भागवती-दीक्षा स्वीकार की।

प्रारभ मे उनकी बुद्धि बहुत मद थी। एक नवकार मत्र को कठाग्र करते उन्हे अठारह दिन लगे। कवि ने कहा है

करत-करत अभ्यास ते, जडमति होत सुजान।
रसरी आवत जात है, शिल पर परत निशान॥

इस पद्य को उन्होने अपने जीवन मे चरितार्थ कर दिखाया। एकनिष्ठा से वे सरस्वती की उपासना मे लगे रहे। व्याकरण, न्याय, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र मे उन्होने प्रवेश पाया और एक दिन वे हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती, फारसी, अग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओ के विज्ञ बन गये।

धर्म-प्रचारार्थ उन्होने अनेक गावो और नगरो मे विहरण किया।

तीस वर्षों मे बत्तीस सूत्रो की टीका-रचना कर आगमो की व्याख्या को सस्कृत, गुजराती और हिंदी मे प्रस्तुत किया। टीकाओ के अतिरिक्त अन्य साहित्य भी उन्होने रचा है। उनकी सरल-सौम्य वृत्ति का जनता पर अच्छा प्रभाव रहा।

आगम टीकाओ के कार्य को सफलतापूर्वक निर्वहण के लिए सरसपुर (अहमदाबाद) मे सोलह वर्ष तक रहे। इस कार्य के सम्पन्न होते ही उन्होने अनशन-पूर्वक ४-१-७३ को तदानुसार वी० नि० २५०० (वि० २०३०) को इस जगत् से विदा ले ली।

२५. प्रख्याति-प्राप्त आचार्य आत्मारामजी

ख्यातिप्राप्त आचार्य आत्माराम जी स्थानकवासी श्रमण सघ के मनोनीत प्रथमाचार्य थे। वे पजाब के थे। उनका जन्म 'राहो' नगर-निवासी क्षत्रिय चोपडा परिवार मे हुआ। जन्म समय वी० नि० २४०६ (विक्रमाब्द १९३९) भाद्रव शुक्ला द्वादशी का दिन था। उनके पिता का नाम मनसाराम एव माता का नाम परमेश्वरी था। आत्माराम जी का गृहस्थ जीवन सघर्षो मे बीता। शिशु अवस्था मे माता-पिता को खो देना बालक के लिए सकट की घडी होती है। आत्माराम जी दो वर्ष के थे तभी माता का वियोग हो गया। आठ वर्ष की अवस्था मे पिता के विरह का भयकर आघात लगा। माता-पिता से निराश्रित बालक का पालन-पोषण कुछ समय तक दादी मा ने किया। दस वर्ष की अवस्था मे उनका यह सहारा भी टूट गया। कुछ दिन तक मामा के यहा रहे। चाची का सरक्षण भी उन्हे मिला पर उनका मन कही नही लगा। सौभाग्य से एक दिन वे सतो की सन्निधि मे पहुच गए। "सत्सगति कथय कि न करोति पुसाम्" कवि की यह उक्ति उनके जीवन मे साकार हुई। तत्वज्ञान का प्रशिक्षण पाकर उन्होने एक दिन सत की भूमिका मे प्रवेश पाया। श्रमण दीक्षा स्वीकरण का यह समय वी० नि० २४२९ (वि० स० १९५९) था। इस समय उनकी अवस्था बीस वर्ष की थी। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" इस उक्ति के अनुरूप युवक सत आत्माराम जी का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। सत गणपतराय जी से उन्होने दीक्षा ग्रहण की एव सतत स्वाध्यायी जीवन मे रत, आगम मन्थन करने मे जागरूक आचार्य मोतीराम जी के वे विद्याशिष्य बने। ज्ञानमुक्ता-मणियो को उनसे प्राप्त कर सत आत्माराम जी ने प्रकाण्ड वैदुष्य वरा।

पजाब सम्मेलन के अवसर पर वी० नि० २४३८ (वि० स० १९६८) फाल्गुन मास अमृतसर मे सन्त आत्माराम जी को उपाध्याय पद से विभूपित किया गया।

आगम विद्वान् सन्त मोतीराम जी के उत्तराधिकारी आचार्य सोहनलाल जी थे। उनका उत्तराधिकार आचार्य काशीराम जी को मिला। काशीराम जी के स्वर्गवास के बाद वी० नि० २४७३ (वि० स० २००३) मे महावीर जयन्ती के दिन श्रमण सघ ने मिलकर सन्त आत्माराम जी को आचार्य पद का दायित्व सौपा।

ज्योतिषविद्या के मेधावी आचार्य सोहनलाल जी का पाण्डित्य एव काशीराम जी का गम्भीर व्यक्तित्व आत्माराम जी मे समन्वित होकर बोल रहा था।

सादडी सम्मेलन के अवसर पर विशाल श्रमण समाज उपस्थित हुआ था। सघ-एकता की दिशा मे स्थानक वासी समाज की ओर से वह आयोजन किया गया था। यह समय वी० नि० २४७६ (वि० स० २००६) था। इस आयोजन मे सबकी दृष्टि एक ऐसे विश्वासपात्र सक्षम व्यक्ति को खोज रही थी जो समूचे श्रमण सघ का समर्पण निगर्वी भाव से झेल सके और सबको सन्तोषजनक नेतृत्व दे सके।

एकसाथ सबकी दृष्टि अनुभवसिद्ध, वयोवृद्ध आत्माराम जी पर जा टिकी। तत्काल श्रमण सघ के नाम पर सघ एकता का प्रस्ताव पारित हुआ और उल्लास-मय वातावरण मे आत्माराम जी को वैशाख शुक्ला नवमी के दिन श्रमण सघ का नेता चुन लिया गया। यह समस्त स्थानकवासी समाज का मनोनीत चयन था।

आचार्य आत्माराम जी आगम के विशिष्ट व्याख्याता थे। उनके वक्तव्य मे प्रभावकता थी। लोकरजन के लिए ही उनके उपदेश नहीं होते थे, प्रवचन मे शास्त्रीय आधार भी रहता था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, जर्मन विद्वान् रोथ, डा० शुलर आदि विशिष्ट व्यक्ति उनके सम्पर्क मे आए थे।

आचार्य आत्माराम जी साहित्यकार भी थे। दशाश्रुतस्कन्ध, अनुत्तरोपपातिक-दशा, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक आदि कई सूत्रो का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया। उत्तराध्ययन सूत्र का हिन्दी अनुवाद एव सम्पादन जैन समाज मे बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ।

उन्होंने जैन ग्रथो का गम्भीरता से अध्ययन कर तुलनात्मक साहित्य भी लिखा। 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम समन्वय' नामक कृति तुलनात्मक दृष्टि से लिखी गयी ज्ञानवर्द्धक रचना है। "सचित्र अर्धमागधी कोष ग्रथ, भगवती, ज्ञाता सूत्र एव दशवैकालिक इन तीनो सूत्रो का सकलन है।" कई सन्तो ने मिलकर इस कोष को तैयार किया था। इसमे आत्माराम जी का प्रमुख सहयोग था। 'जैनागमो मे स्याद्वाद' उनकी एक और कृति है। इसमे स्याद्वाद से सम्बन्धित आगम-पाठो का सुन्दर सकलन है। आगम-साहित्य के अतिरिक्त सामयिक साहित्य पर भी उनकी लेखनी चली। आठ भागो मे जैन धर्म शिक्षावली इसी ओर बढता चरण था।

जैनागमो मे अष्टागयोग, जैनागमन्याय सग्रह, वीरत्थुई, जीवकर्म-सवाद आदि-आदि स्वनिर्मित पचासो ग्रथो का मूल्यवान् उपहार सरस्वती के चरणो मे उन्होने समर्पित किया।

सियालकोट मे उन्हे 'साहित्यरत्न' की उपाधि प्राप्त हुई। जैनो के प्रमुख केन्द्र रावलपिंडी मे स्थानकवासी समाज ने उन्हे 'जैनागम-रत्नाकर' पद से भूषित किया।

आचार्य आत्माराम जी की बहुमुखी साहित्य-साधना एव श्रमण सघ को उनके द्वारा प्राप्त सफल नेतृत्व इतिहास की भव्य कडी है।

२६. निर्भीक नायक आचार्य देशभूषण

दिगम्बर परम्परा के आचार्य-रत्न देशभूषण जी कन्नड, मराठी, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, गुजराती आदि कई भाषाओ के विद्वान् है। सरल भाषा मे प्रस्तुन उनके हृदयग्राही प्रवचन प्रभावक होते है। उनमे युवक का-सा उत्साह है और साहित्य-सृजन की अदम्य उत्कठा है।

हिन्दी, सस्कृत, गुजराती, कन्नड, मराठी और अग्रेजी मे उनकी लगभग चालीस रचनाए प्रकाशित होकर जनता के हाथो मे पहुच गई है।

साहित्य-सृजन की दिशा मे उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन कन्नड भाषा के गौरव-मय साहित्य को हिन्दी मे अनूदित करना है।

कन्नड भाषा दक्षिण की समृद्ध भाषा है। उसमे जैन का विशाल साहित्य उपलब्ध है। पर दाक्षिणात्य भाषाओ से अनभिज्ञ पाठक अपनी इस बहुमूल्य निधि का उपयोग करने से सर्वथा वचित रह जाते हैं।

आचार्य देशभूषण जी ने कई कन्नड ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद कर कन्नड साहित्य से हिन्दी पाठको को लाभान्वित किया है।

वे हिन्दी को समृद्ध बनाने के साथ-साथ जैन वाङ्मय की उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं।

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थो का सग्रह और उनका सूक्ष्म अध्ययन तथा तत्प्रकार की अन्य अनेक प्रवृत्तियो का सचालन उनकी हार्दिक लगन का ही परिणाम है।

आचार्य देशभूषण जी के कई प्रवचन युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी जी के साथ भी हुए हैं। एक मच पर जैन के उभय सम्प्रदायो के आचार्यो का मिलन धार्मिक एकता का सुन्दर चरण है। ऐसे सामूहिक आयोजनो पर देशभूषण जी को सुनने का अवसर मिला है। उनके उपदेश सरल और सुबोध होते है।

धर्म-प्रचारार्थ आचार्य जी ने भारत भूमि पर प्रलम्ब यात्राए की है। वर्तमान मे दिगम्बर परम्परा के प्रभावक आचार्यों की शृखला मे उनका अपना स्थान है।

२७ सौम्यस्वभावी आचार्य आनन्दऋषि

आनन्दऋषि जी स्थानकवासी परम्परा श्रमण सघ के प्रमुख आचार्य हैं। वे ऋषि सम्प्रदाय की परम्परा के हैं। ऋषि सम्प्रदाय की परम्परा मे ऋषिलव जी, सोम जी, मोतीराम जी, सोहनलाल जी, काशीराम जी आदि अनेक प्रभावी आचार्य हुए हैं। वर्तमान मे आनन्द ऋषि जी इस परम्परा को उजागर कर रहे हैं तथा श्रमण सघ के दयित्व को भी सम्भाल रहे हैं।

आनन्दऋषि जी का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के अहमद नगर जिले के अन्तर्गत सिराल चिंचोडी ग्राम के गूगलिया परिवार मे वी० नि० २४२७ (वि० पू० १९५७) मे हुआ था। उनके पिता का नाम देवीचन्द्र जी था एव माता का नाम हुलासी बाई था। उनके ज्येष्ठ भ्राता का नाम उत्तमचन्द जी था। आनन्दऋषि जी का नाम गृहस्थ जीवन मे नेमिचन्द्र जी था।

आनन्दऋषि जी के पिता का देहान्त उनकी बाल्यावस्था मे हो गया था। अत माता हुलासी देवी ही बालक का पालन-पोषण करने मे माता-पिता दोनो की भूमिका कुशलतापूर्वक वहन करती थी।

हुलासी देवी का धर्मप्रधान जीवन था। वह पाचो पर्व-तिथियो पर उपवास करती एव प्रतिदिन सामायिक करती, पाक्षिक प्रतिक्रमण करती एव अन्य बहिनो की धर्म-साधना मे सहयोग प्रदान करती थी।

मा के धार्मिक सस्कारो का जागरण बालक मे भी हुआ। हुलासी देवी से प्रेरणा प्राप्त कर बालक ने आचार्य रत्नऋषि जी से सामायिक पाठ, प्रतिक्रमण, तात्त्विक ग्रथ एव अध्यात्म प्रदान स्तवन कठस्थ किए थे।

बालक मे वैराग्य-भाव का अभ्युदय हुआ। माता से आदेश प्राप्त कर वी० नि० २४४० (वि० पू० १९७०) मे मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी के दिन उन्होने आचार्य रत्नऋषि जी से दीक्षा ग्रहण की थी। इस समय उनकी अवस्था तेरह वर्ष के लग-भग थी। दीक्षा नाम उनका आनन्दऋषि जी रखा गया।

दीक्षा लेने के बाद उन्होने व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, स्मृतिग्रथ, काव्या-नुशासन और नैषधीय चरित आदि उच्च कोटि के काव्य ग्रन्थो को पढा तथा सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, गुजराती, फारसी, राजस्थानी, उर्दू, अग्रेजी आदि विभिन्न

भाषाओं पर प्रशिक्षण पाया। मराठी उनकी सहज मातृभाषा थी। उनके कंठ मधुर थे। ध्वनि प्रचंड थी। संगीतविद्या में अधिक अभिरुचि थी।

उत्तरोत्तर उनके जीवन में विकास होता रहा। वे उपाध्याय, युवाचार्य, प्रधानाचार्य, मंत्री, प्रधानमंत्री आदि विविध उपाधियों से अलंकृत होकर स्थानकवासी सम्प्रदाय में सम्मानित स्थान प्राप्त करते रहे।

चतुर्विध संघ के सम्मुख वी० नि० २५२६ (वि० १९९९) में उनकी ऋषि-परम्परा में आचार्य पद पर नियुक्ति हुई।

महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, मारवाड़, मेवाड़ आदि अनेक क्षेत्रों में विहरण कर उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया है।

स्थानकवासी परम्परा का बृहद् श्रमण सम्मेलन सादड़ी में वी० नि० २४७९ (वि० सं० २००९) में हुआ था। आनन्दऋषि जी को इस अवसर पर श्रमण संघ में उपाचार्य पद पर विभूषित किया गया था।

वर्तमान में वे श्रमण संघ के प्रथमाचार्य आत्माराम जी के उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त हैं। उनके जीवन की विशेषता उनका निगर्वी व्यवहार है।

श्रमण संघ के दायित्व को कुशलतापूर्वक वहन करते हुए सौम्यस्वभावी आचार्य आनन्दऋषि जी जैन धर्म की प्रभावना में रत हैं।

२८. युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी
(अणुव्रत-अनुशास्ता)

जैन धर्म को जनधर्म का व्यापक रूप देकर उसकी गरीयसी गरिमा को प्रतिष्ठित करने मे अहर्निश प्रयत्नशील, आगम अनुसधान के महत्त्वपूर्ण कार्य मे प्रवृत्त, साधना, शिक्षा और शोध की सगमस्थली, जैन विश्व भारती के अध्यात्म-पक्ष को उन्नयन करने मे दत्तचित्त, अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से नैतिक मदाकिनी को प्रवाहित कर वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चारित्र को सुदृढ वनाने की दिशा मे जागरूक, मानवता के मसीहा, युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी का नाम प्रभावक आचार्यों की श्रेणी मे सहज ही उभर आता है।

महापुरुष का जन्म सर्वसामान्य मनुज की तरह किसी एक परिवार मे ही होता है और सीमित रेखाओ के वीच मे वे पलते है, पर समस्त विश्व के साथ सहानुभूति, पर व स्व का वोध, द्वैत मे अद्वैत भाव, आत्मौपम्य भावना की प्रवल प्रेरणा, परोपकार-परायण की प्रवृत्ति, औदार्य-कारुण्य आदि गुणो का विकास उन्हे उच्चता के सिंहासन पर आरूढ करता है।

अणुव्रत अनुशास्ता के नाम से प्रख्यात युगपुरुष, सन्तश्रेष्ठ, आचार्य श्री तुलसी का जन्म वी० नि० २४४१ (वि० स० १९७१) कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थानान्तर्गत लाडनू शहर के खटेड वश मे हुआ। पिताश्री का नाम झूमरमल जी व माता का नाम वदना जी था। वालक तुलसी के वाल्यकाल का प्रथम दशक मा की ममता, परिवार का अमित स्नेह एव धार्मिक वातावरण मे वीता। जीवन के दूसरे दशक के प्रारम्भ मे पूर्ण वैराग्य के साथ जैन श्वेताम्वर तेरापथ सघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से ज्येष्ठ भगिनी लाडा जी सह वी० नि २४५२ (वि० स० १९८२) मे दीक्षित हुए। ज्येष्ठ वन्धु चम्पालाल जी उनसे पूर्व दीक्षित थे।

सयम साधना का पथ स्वीकार कर लेने के पश्चात् उनकी चितनात्मक एव मननात्मक शक्ति का स्रोत पठन-पाठन मे केन्द्रित हुआ। व्याकरण, कोष, सिद्धान्त, काव्य, दर्शन, न्याय आदि विविध विषयो का उन्होने गभीर अध्ययन किया। वे सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषा मे नैपुण्य प्राप्त प्रौढ विद्वान वने।

दुरावगाह ग्रन्थो की पारायणता के साथ लगभग वीस हजार श्लोको को कठस्थ कर लेना उनकी शीघ्रग्राही स्मृति का परिचायक है।

सोलह वर्ष की लघु वय मे ही वे विद्यार्थी मुनियो के शिक्षाकेन्द्र का सफलतापूर्वक सचालन करने लगे थे। उनके आत्मीयतापूर्ण नेतृत्व से विद्यार्थी बालमुनियो को अन्न तोष प्राप्त हुआ। यह उनकी अनुशासन-कुशलता का सजीव निदर्शन था।

सयमी जीवन की निर्मल साधना, विनय-विवेक का जागरण, सूक्ष्म ज्ञानशक्ति का विकास, सहनशीलता, धीरता आदि विविध विशेषताओ की अभिव्यक्ति के कारण बाईस वर्ष की अवस्था मे सन्त तुलसी के कोमल किन्तु सुदृढ कन्धो पर महामनीषी आचार्य कालूगणी ने वी० नि० २४६३ (वि० स० १९९३) को गगापुर मे आचार्य पद का गुरुतर दायित्व स्थापित किया।

तेरापथ जैसे मर्यादित सगठन को युवक साधक का नेतृत्व मिला। यह जैन सघ के इतिहास की विरल घटना थी, पर अवस्था एव योग्यता का कोई अनुबन्ध नहीं होता।

तरुण का-सा उत्साह, नभ की विशालता, हस-मनीषा का विवेक लिए युवक सन्त नेता ने अपना कार्य सम्भाला। प्रतिक्षण जागरूकता के साथ चरण आगे बढे। उद्‌बुद्ध विवेक हस्तस्थित दीपक की भाति मार्गदर्शक बना। सर्वप्रथम तेरापथ के अन्तरग विकास के लिए उनका ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हुआ। प्रगतिशील सघ का प्रमुख अग शिक्षा है, श्रुतोपासना है। आचार्य श्री तुलसी ने सर्वप्रथम प्रशिक्षण का कार्य अपने हाथ मे लिया। साधु समाज का विद्याविकास पूज्य कालूगणी से प्रारम्भ हो चुका था। आचार्य श्री तुलसी की दीर्घदृष्टि साध्वी समाज पर पहुची। यह विषय पूज्य कालूगणी के चिन्तन मे भी था पर कुछ परिस्थितियो के कारण वह फलवान् नहीं हो सका। उसकी पूर्ति आचार्य श्री तुलसी ने की। साध्वियो की शिक्षा के लिए वे प्रयत्नशील बने। उनकी चतुर्मुखी प्रगति के लिए शिक्षाकेन्द्र और कलाकेन्द्रो की नियुक्ति हुई। परीक्षाकेन्द्र भी लगे। योग्य, योग्यतर व योग्यतम के रूप मे नवीन पाठ्यक्रम स्थापित हुआ। तब से अब तक पाठ्यक्रम के कई रूप परिवर्तित हो गए है।

इन प्रयत्नो के फलस्वरूप साध्वी समाज के लिए विकास का द्वार उद्‌घाटित हुआ। योग्यतम परीक्षाओ मे उत्तीर्ण होकर उन्होने पूज्य कालूगणी के अधूरे स्वप्न को साकार किया है और जैन साध्वी समाज का भाल ऊचा किया है।

वर्तमान मे तेरापथ का साध्वी समाज उच्चस्तरीय शिक्षा के पठन-पाठन मे, गभीर साहित्य सृजन मे व आगम-शोध के महत्त्वपूर्ण कार्य मे प्रवृत्त है। भारतीय एव भारतीयेतर भाषाओ पर भी उनका अधिकृत अध्ययन है। कवि, आशुकवि, लेखक, वैयाकरण, साहित्यकार के रूप मे श्रमण-श्रमणी मडली आचार्य श्री कालूगणी की वृहद कृपा एव आचार्य श्री तुलसी की श्रमशीलता का सुमधुर परिणाम है। अध्ययन-अध्यापन मे तेरापथ धर्म सघ अत्यधिक स्वावलम्बी है।

साहित्य-जगत् मे आचार्य श्री तुलसी की सेवाए अनुपम है। उनके भव्य प्रयासो

से धार्मिकता के साथ दर्शन, न्याय और काव्य-जगत् भी उपकृत है।

'जैन सिद्धात दीपिका', 'भिक्षु न्याय कर्णिका' और 'मनोनुशासनम्' सिद्धात, न्याय तथा योगविषय की सुन्दर प्रकाशिकाए है।

'कालू यशोविलास' पूज्य कालूगणी पर लिखा गया राजस्थानी गेय काव्य है। इसकी रचना मे लेखक का महान् शब्दशिल्पी रूप निखर आया है। विषय-वर्णन की शैली भी बेजोड है। माणक महिमा, डालम-चरित्र व मगन-चरित्र से जीवन-चरित्र लिखने की दिशाए अत्यन्त स्पष्ट हुई है, तथा भरत मुक्ति, आषाढ-भूति आदि रचनाओ से काव्यधारा को बल मिला है। साहित्य-जगत् को उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन आगम-वाचना है। आगम-साहित्य का टिप्पण, सस्कृत छाया सहित आधुनिक सदर्भ मे सुसम्पादन और हिन्दी अनुवाद का कार्य आगम-वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के निर्देशन मे सुव्यवस्थित चल रहा है। निर्मल प्रज्ञा के धनी, प्रकाण्ड विद्वान व गभीर दार्शनिक मुनि श्री नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य महाप्रज्ञ) आगम ग्रन्थो के सम्पादक व विवेचक हैं। अब तक आगम-सबधी विपुल साहित्य जनता के हाथो पहुच गया है। कई पुस्तकें मुद्रणाधीन है, और कई पुस्तको की पाण्डुलिपिया तैयार हो गयी है।

तुलसी प्रभा, भिक्षु शब्दानुशासन की लघुवृत्ति, तुलसी मञ्जरी, तेरापथ का इतिहास तत्प्रकार का अन्य मौलिक साहित्य, कथा-साहित्य, मुक्तक-साहित्य, शोध-निबध, सगीत, कला, काव्य, कोश, विज्ञान, एकागी, गद्य, पद्य, एकाह्निक, शतक, एकाह्निक पचशति तेरह घटो मे एक सहस्र श्लोक-रचना, सौ, पाच सौ, डेढ हजार तक अवधानो से स्मरण शक्ति के प्रभावक प्रयोग प्रभृति विभिन्न प्रवृत्तिया आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल की विशिष्ट उपलब्धिया है।

वे योगवाहक आचार्य है। उन्होने ध्यान, योग व बहुत लम्बे समय तक की एकात साधनाओ से अपने सयम योग के विशिष्ट भावेन उत्कर्ष दिया है और अपने सघ को भी योग-साधना मे विशेष प्रगतिशील बनाने के लिए प्रणिधान कक्ष व अध्यात्म शिविरो का प्रयोग किया है। उपासक सघ जैसे प्रलम्बकालीन साधना-शिविरो से श्रावकश्राविका समाज मे भी नए चैतन्य का जागरण हुआ है।

आचार्य श्री तुलसी के शासनकाल मे तपोयोग की भूमिका भी बहुत विस्तृत हुई है। भद्रोतर तप, लघुसिंह तप, तेरह महीनो का आयम्बिल, एक सौ आठ दिन का निर्जल तप, आछ प्रयोग पर छह मासी, नव मासी, बारह मासी तप जैन शासन के तपोमय इतिहास की सुन्दर कडी है।

जैन समन्वय की दिशा मे भी वे अनवरत प्रयत्नशील है। एक ही भगवान महावीर को अपना आराध्यदेव मानने वाला जैन समाज आज कई शाखाओ मे विभक्त है। आधुनिक परिस्थितियो के सदर्भ मे एक-दूसरे का नैकट्य व समन्वय की भूमिका पर विचार-विनिमय अपेक्षित ही नही अनिवार्य हो चुका है। उन्होने

आज से कई वर्ष पहले इस अनिवार्यता को समझा और अपने चिंतन को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए सपूर्ण जैन समाज के सामने पचसूत्री योजना प्रस्तुत की, वह इस प्रकार है

१ मण्डनात्मक नीति वरती जाए, अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप नही किए जाए।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३ दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा, तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४ कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाय।

५ धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

जैन एकता की दिशा मे पचसूत्री योजना की महत्त्वपूर्ण देन उनकी सम्प्रदाय-मुक्त भूमिका का ही परिणाम है।

जनकल्याण हेतु आचार्य श्री तुलसी के निर्देशानुसार वी० नि० २४७५ (वि० २००५) मे अणुव्रत अभियान प्रारम्भ हुआ।

अणुव्रत नैतिक आचार सहिता है। वह धर्म एव अध्यात्म का आधुनिक रूप मे प्रस्तुतीकरण है। समाज की धमनियो मे नई चेतना का सचार करने हेतु वसत है। स्वस्थ परम्परा का उज्जीवक है। जीवन-शुद्धि, भारतीय सस्कृति, राष्ट्रीय चारित्र्य व मानवीय मूल्यो का उत्प्रेरक है। जाति, लिंग, वर्ण, सम्प्रदाय की सीमा से दूर मानवता के उन्नयन की दिशा मे यह आन्दोलन कार्य कर रहा है।

"सयम खलु जीवन"—सयम ही जीवन है। यह इस अभियान का समुद्-घोष है। प्रत्येक मनुष्य को इसे अपने जीवन मे ढालने की पूरी कोशिश करनी चाहिए।

अणुव्रत की आवाज आज झोपडी से लेकर महलो तक पहुच गयी है। लक्षाधिक व्यक्तियो ने अणुव्रत दर्शन का गभीरता से अध्ययन किया है और सहस्रो व्यक्तियो ने अपने जीवन मे भी उतारा है।

स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, डा० जाकिर हुसेन, प्रधानमत्री जवाहर-लाल नेहरू तथा सर्वोदय नेता जयप्रकाश नारायण, आचार्य विनोवा भावे एव डा० सपूर्णानन्द आदि शीर्षस्थ नेताओ ने इस अभियान की भूरि-भूरि प्रशसा की है।

सदियो से उपेक्षित नारी-जागरण हेतु भी आचार्य श्री तुलसी ने गम्भीर चिन्तन किया। जीवन-अभ्युत्थान के लिए नये मोड की सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत कर उन्हे जीने की कला सिखायी। 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रशिक्षण देकर अर्थहीन मूल्यो, अन्धविश्वासो, रूढ परम्पराओ से भी नारी समाज को मुक्त किया

है। आज आचार्य श्री तुलसी का अनुयायी नारी समाज अध्यात्म की गहराइयो व सामाजिक दायित्व को समझने लगा है। अखिल भारतीय तेरापथ महिला मडल के नाम से उनका अपना सवल सगठन है। आचार्य श्री के नेतृत्व मे प्रतिवर्ष उनका वार्षिक सम्मेलन होता है। इसमे आज की प्रशिक्षित नारिया नारी समाज की विभिन्न गतिविधियो के सन्दर्भ मे चिन्तन करती है और साम्य योगी, परम् कारुणिक, नारी-उद्धारक आचार्य श्री तुलसी से प्रेरणा पाती है।

आचार्यश्री तुलसी की प्रवृत्तिया सर्वजनहिताय हैं। वर्णभेद, वर्गभेद, जातीयता और प्रान्तीयता की दीवारे कभी उनके कार्य क्षेत्र मे खडी न हो सकी। उन्होने एक ओर धनाधीशो को बोध दिया तथा दूसरी ओर दलित वर्ग के हृदय की हीन ग्रन्थियो का विमोचन किया है।

दलित वर्ग सस्कार-निर्माण उनके मानवतावादी दृष्टिकोण का सबसे महत्व-पूर्ण पहलू है। आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य मे विराट् हरिजन सम्मेलन भी हुए है। उन्होने उन सम्मेलनो को हरिजनोद्धार सम्मेलन नही मानवोद्धार सम्मेलन कहा है।

आचार्य श्री तुलसी जैन श्वेताम्वर तेरापथ सप्रदाय का सचालन कर रहे हैं, पर उन्होने सघ-विस्तार से अधिक मानवता की सेवा को प्रमुख माना है। वहुत वार वे अपने परिचय देते समय कहते है, "मै पहले मानव हू, फिर जैन और फिर तेरा-पथी हू।" आचार्य श्री तुलसी के विचारो की यह उन्मुक्तता एव व्यवहार मे अनाग्रही प्रवृत्ति उनके गरिमामय व्यक्तित्व की सकेतक है।

वे धर्म के आधुनिक भाष्यकार है। उन्होने धर्म के क्षेत्र मे नए मूल्यो की प्रतिष्ठा की है। जो धर्म परलोक-सुधार की वात करता था उसे इहलोक के साथ जोडा है। उनकी परिभाषा मे वह धर्म धर्म नही है जिसमे वर्तमान क्षण को आनन्द-मय वनाने की वात नही है। उन्होने जैन धर्म को जन-जन का धर्म कहकर जन-तन्त्रीय व्यवस्था मे धर्म का लोकप्रिय रूप प्रस्तुत किया है। यह जैन सघ की सर्वव्यापी प्रभावना है।

पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण तक भारत के अधिकाश भूभाग मे विशाल श्रमण सघ के साथ विहरण कर आचार्य श्री तुलसी ने जैन धर्म की जो प्रभावना की है वह जैन-अजैन सभीके द्वारा सहज समादृत हुई है। उनकी निष्पक्ष धर्म प्रचारकनीति, उच्चस्तरीय साहित्य-निर्माण, उदार चिंतन एव विशुद्ध अध्यात्म भाव ने सभीको अपनी ओर आकृष्ट किया है।

आचार्यश्री की पजाव, वगाल आदि प्रलम्वमान यात्राओ मे दक्षिण की यात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृतिक सौन्दर्य का धनी, भारतीय सस्कृति का पुजारी, पहाडियो से गर्वोन्नत, नहरो से परिपूरित, झरनो से अभिषिक्त, प्रकृति नदी का क्रीडा स्थल, हरियाली से हरा-भरा, वसन्त की तरह सरसब्ज, वृक्षो से झूमता,

पक्षियो से चहकता, सुमनो से महकता, नील गुलावी शाल ओढे, विशाल वनो मे परिवृत्त दक्षिण भारत भौतिक सम्पदा से सम्पन्न है और अध्यात्म-वैभव से भी समृद्ध है।

इस धरती की सुविशाल नदियो के कल-कल निनाद ने सुदूर के पर्यटको, व्यापारियो व शिक्षा-पिपासु हृदयो को खीचा है, दूसरी ओर अध्यात्म-उपासको ने धर्माचार्यो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। कभी यहा जैन, वौद्ध, शैव, वैष्णव चारो सरिताएं एकसाथ वहती थी।

जैन धर्म का जन्म उत्तर मे हुआ। उसका पल्लवन दक्षिण भारत मे हुआ। अनेक जैनाचार्यो ने दक्षिण भारत मे अध्यात्म को सिंचन दिया है। सहस्रो वर्ष पूर्व इसी पावन धारा पर आचार्य भद्रवाहु (द्वितीय) श्रमण परिवार सहित पधारे थे। ऐसा इतिहासकारो का मत है। आचार्य श्री तुलसी ने दक्षिण भारत को अपने चरणो से पवित्र कर आचार्य भद्रबाहु के इतिहास को पुनरुज्जीवित कर दिया। आचार्य भद्रवाहु दक्षिण के कुछ ही भाग को अपने चरणो से पवित्र कर स्पर्श कर पाए थे। आचार्य श्री तुलसी के चरण अनेक प्रमुख स्थलो का स्पर्श करते हुए कन्या कुमारी तक पहुचे। उन्होने गाव-गाव व शहर-शहर मे जाकर जन-जन को भगवान महावीर का पावन सदेश सुनाया व घर-घर मे अध्यात्म की लौ प्रज्वलित की। अणुव्रत आदोलन के माध्यम से मानवता की दिशा को उजागर करने की दिशा मे यह सर्वोन्नत चरण था।

दक्षिण यात्रा की सम्पन्नता पर महायशस्वी आचार्य श्री तुलसी को उनके द्वारा विहित जन-कल्याणकारी कार्यों के परिणामस्वरूप सघ ने युगप्रधान पद से अलकृत किया।

वर्तमान मे उनका विराट् व्यक्तित्व अणुव्रत प्रभृति व्यापक कार्यो की भूमिका पर राष्ट्रीय व अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करता हुआ जन-जन के मानस मे अकित हो गया है।

वालक तुलसी से ग्यारह वर्ष की अवस्था मे मुनि तुलसी के रूप मे परिवर्तन, वाईस वर्ष की अवस्था मे आचार्य पदारोहण, सघ-सचालन की दिशा मे स्वभगिनी स्वर्गीया साध्वीश्री लाडा जी की एव वर्तमान मे विदुषी साध्वीश्री कनकप्रभा जी की साध्वी-प्रमुखा पद पर नियुक्ति, धर्मशासन की प्रभावना मे वहुमुखी प्रयास, चौतीस वर्ष की अवस्था मे अणुव्रत आन्दोलन के रूप मे मानवता-जागरण का अभियान, नैतिक भागीरथी को प्रवाहित करने के लिए ससघ इस महायायावर की सहस्रो मील की पदयात्राए, आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने के उपलक्ष्य मे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा सम्मानस्वरूप उन्हे तुलसी अभिनन्दन ग्रथ का समर्पण, दक्षिणाचल की चतुर्वर्षीय सुदीर्घ यात्रा की सम्पन्नता पर वी० नि० २४९७ (वि० स० २०२७) मे लगभग वीस हजार मानव-मेदिनी के वीच युगप्रधान के रूप मे उनका

सम्मान, भारत के तात्कालीन राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि द्वारा इस अवसर पर विशेष सदेश-प्रदान, यूनेस्को के डाइरेक्टर लूथर इवेन्स, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ वेकननाम आदि विदेशी हस्तियो द्वारा उनकी नीति का समर्थन, मैक्समूलर भवन के डायरेक्टर जर्मन विद्वान् होमियो रॉउ द्वारा विदेश-पदार्पण के लिए आमन्त्रण, अमेरिकन युवक जिम मोरगिन द्वारा सात दिन के लिए मुनिकल्प जैन दीक्षा का स्वीकरण, शिक्षाशोध-साधना की सगमस्थली जैन विश्वभारती के माध्यम से भगवान महावीर के दर्शन का सर्वतोभावेन उन्नयन तथा विस्तार निस्सन्देह श्रमण परम्परा के सबल प्रतिनिधि, आधुनिक युग के महर्षि, भारतीय सस्कृति के प्राण, स्वस्थ परम्परा के सवाहक, प्रकाश-स्तम्भ, आगम-वाचना-प्रमुख जैन श्वेताम्बर तेरापथ धर्म सघ के आचार्य श्री तुलसी के असाधारण नेतृत्व एव उनके प्रगतिगामी कर्तृत्व के परिचायक है।

प्रसन्नचेता अध्यात्मसाधक, क्रान्तदर्शी मानवीय मूल्यो के प्रतिष्ठापक, युग-प्रधान आचार्य श्री तुलसी का जीवन विभिन्न अनुभूतियो से अनुविद्ध एक महाकाव्य है। इसका प्रतिसर्ग साहस और अभय की कहानी है। हर सर्ग का प्रति श्लोक अहिंसा व मैत्री का छलकता निर्झर है तथा हर श्लोक की प्रत्येक पक्ति शौर्य, औदार्य व माधुर्य की उभरती रेखा है।

□□□

परिशिष्ट १

आचार्य और उनकी जीवनी के आधारभूत ग्रन्थ

आचार्य	आधार
	आगम युग
१ सुधर्मा—	१ आवश्यक निर्युक्ति विवरण, पत्नाक ३३ से ३४०
	२ आवश्यक चूर्णि, पत्नाक ३३४ से ३३९ तक
	३ विशेषावश्यक भाष्य
	४ विविध तीर्थकल्प, पत्नाक ७५ व ७६
२ जम्बू—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, ३, ४
	२ उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामी चरिय), पत्नाक १२४ से १८५
३ प्रभव—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२. उपदेशमाला विशेष वृत्ति (जम्बू स्वामी चरिय)
	३ पट्टावली समुच्चय (प्रथम भाग)
	४ दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पत्न १० व ११
४ शय्यभव—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
	२ दशवैकालिक हरिभद्रीय वृत्ति, पत्नाक ९ से १८ व २८३, २८४
	३ दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा, १२ से १८ तक
५ यशोभद्र—	१ नन्दी स्थविरावली
	२ कल्प सूत्र स्थविरावली
	३ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६

६ सम्भूतविजय—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २ उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति, पत्राक २३७, २३८, २४२ ३ लक्ष्मीवल्लभगणीकृत उत्तरा टीका, पृ० ८५
७ भद्रबाहु—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, ८ २ आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्राक १८७ ३ तित्थोगाली पइन्नय, ७१४ से ८०२
८ स्थूलभद्र—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८ २ उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति, पत्राक २३३ से २४३ ३ लक्ष्मीवल्लभगणीकृत, उत्तरा० टीका ७७ से से ८६
९ महागिरि— १० सुहस्ती—	१ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११ २ उपदेशमाला, पत्राक ३६९ व ३७० ३ निशीथ चूर्णि ४ कल्प चूर्णि ५ वृहत् कल्प निर्युक्ति भाष्य वृत्ति ६ आवश्यक चूर्णि
११ वलिस्सह और १२ गुणसुन्दर—	१ नन्दी स्थविरावली २ हिमवन्त ,, ३ कल्पसूत्र ,,
१३ सुस्थित और १४ सुप्रतिबुद्ध—	१ कल्पसूत्र स्थविरावली २ हिमवन्त ,, ३ पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग
१५ श्याम और १६ पाडिल्य—	१ नन्दी स्थविरावली २ वीर निर्वाण सवत् और जैनकाल

	३ विचार श्रेणी
	४ रत्नसचय प्रकरण, पत्र ३२
१७ समुद्र,	१ नन्दी स्थविरावली
१८ मगू और	२. हिमवन्त ,,
१९ भद्रगुप्त—	३ नन्दी चूर्णि
२० कालक—	१ प्रभावक चरित्र, पृ० २२ से २७
	२ निशीथ चूर्णि, उ० १० से १६
	३ आवश्यक चूर्णि
	४ वृहत् कल्प भाष्य चूर्णि
	५ कल्पसूत्र चूर्णि, पृ० ८९
	६ व्यवहार चूर्णि, उ० १०
२१ खपुट—	१ प्रभावक चरित्र, पृ० ३३ से ३६
	२ प्रबन्धकोश, पत्राक ९ से ११
	३ निशीथ भाष्य चूर्णि
२२ पादलिप्त—	१ प्रभावक चरित्र, पत्राक २८
	२ प्रबन्धकोश, पत्राक ११ से १४
	३ प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्राक ११९
	४ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक ३७६, ३७७
२३ वज्र स्वामी—	१ आवश्यक चूर्णि, पत्राक ३९० से ३९६
	२ प्रभावक चरित्र, पत्राक ३ से ८ तक
	३ परिशिष्ट पर्व, सर्ग १२
	४ उपदेशमाला विशेष वृत्ति, पत्राक २०६ से २२०
	५ आवश्यक मलयवृत्ति, पत्राक ३८३ से ३९१
२४ कुन्दकुन्द—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २९७-३०१

	२ न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्तावना
	३ सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना
	४ पञ्चास्तिकाय सग्रह प्रस्तावना
२५ आर्य-रक्षित—	१ प्रभावक चरित, पत्राक ९ से १८
	२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
	३ आवश्यक चूर्णि, पत्राक ३९७ से ४१३
	४ लक्ष्मीवल्लभगणीकृत उत्तरा० टीका, पत्राक ६६ से ६८
२६ दुर्बलिका पुष्यमित्र—	१ आवश्यक मलयवृत्ति, द्वितीय भाग, पृ० ३९८ से ४०२
	२ लक्ष्मीवल्लभगणीकृत, उत्तरा० टीका, पृ० १६४ व १६५
	३ प्रभावक चरित, पत्राक १५ से १७
	४ आवश्यक चूर्णि, पृ० ४०९ से ४१३
२७ वज्रसेन—	१. परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३
	२ आवश्यक मलय वृत्ति, द्वितीय भाग, पृ० ३९५-३९६
	३ उपदेशमाला विशेषवृत्ति २१९ व २२०
२८ अर्हद्-वलि—	१ महाबन्ध प्रस्तावना
२९ धरसेन—	१ महावन्ध प्रस्तावना
	२ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २७८
३० गुणधर—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २९० से २९३
	२ कसाय पाहुड सुत्त प्रस्तावना
३१ पुष्पदन्त और	१ महावन्ध प्रस्तावना
३२ भूतवलि	२ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक २७४ से २७७

	३ महापुराण प्रस्तावना
३३ उमास्वाति—	१ तत्त्वार्थ भाष्य कारिका
	२ आप्त परीक्षा प्रस्तावना
	३ तत्त्वार्थ सूत्र (विवेचन सहित)
३४ स्कन्दिल व	१ नन्दी चूर्णि
३५ नागार्जुन	२ हिमवन्त स्थविरावली
	३ वीर निर्वाण सवत् और जैन काल-गणना
३६ विमल—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक ५२७ से
	२ भिक्षु स्मृति ग्रन्थ (द्वितीय खण्ड, पृ० ८५ से)
३७ देवर्द्धिक्षमाश्रमण—	१ नन्दी सूत्र स्थविरावली
	२ नन्दी प्रस्तावना (मुनि पुण्यविजय)
	३ पट्टावली समुच्चय
	४ वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना
	उत्कर्ष युग
३८ वृद्धवादी और	१ प्रभावक चरित, पत्राक ५४ से ५७ तक
३९ सिद्धसेन—	२ प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्राक ६ व ७
	३ प्रबन्धकोश, पत्राक १५ से २१
४० मल्लवादी—	१ प्रबन्धकोश, पत्राक २१ से २३ तक
	२ प्रभावक चरित, पत्राक ७७ से ७९ तक
	३. प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्राक १०७
४१ समन्तभद्र—	१ जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश
	२ न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
४२ देवनन्दी (पूज्यपाद)	१ समाधितन्त्र प्रस्तावना
	२ 'सर्वार्थ सिद्धि' प्रस्तावना, पत्राक ८१
	३ समाधितन्त्र और इष्टोपदेश प्रस्तावना

४३ भद्रवाहु (द्वितीय)	१ प्रवन्धकोश, पत्राक २ से ४ तक
	२ प्रवन्ध चिन्तामणि, पत्राक ११८ से ११९
	३ पुरातन प्रवन्ध सग्रह, पत्राक ९१
४४ जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण—	१ जैन साहित्य का वृहद इतिहास, भाग ३— प्रस्ताविक, पत्राक १३ से १५
	२ विशेपावश्यक भाष्य
४५ पात्र स्वामी—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पत्राक २४ व २५
	२ आदि पुराण प्रस्तावना
	३ सिद्धिविनिश्चय टीका प्रस्तावना
४६ आचार्य मानतुग—	१ प्रभावक चरित, पत्राक ११२ से ११७
	२ पुरातन प्रवन्ध सग्रह, पत्राक १५ व १६
	३ प्रवन्ध चिन्तामणि, पत्राक ४४ व ४५
४७ अकलक—	१ न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
	२ अकलक ग्रन्थ त्रय
४८ जिनदास महत्तर—	१ नन्दीसूत्र प्रस्तावना
	२ निशीथ एक अध्ययन
	३ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३, पत्राक ३१-३२
४९ हरिभद्र—	१ प्रभावक चरित, पत्राक ६२ से ७५
	२ प्रबन्धकोश, पत्राक २४ से २६
	३ पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पत्राक १०३ से १०५
५० वप्पभट्टि—	१ प्रबन्धकोश-वप्पभट्टि सूरि प्रवन्ध, पत्राक २६ से ४६
	२ विविध तीर्थकल्प, पत्राक १८ व १९
	३ प्रभावक चरित, पत्राक ८० से १११
	४ पुरातन प्रवन्ध सग्रह, पत्राक ९८ व ९९
	५ प्रबन्ध चिन्तामणि, पत्राक १२३

५१ उद्योतन—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्नाक ४१६ से
५२ वीरसेन—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्नाक २७५ २ जैन साहित्य व इतिहास, पत्नाक १३०से१३२ ३ आदि पुराण (४), उत्तरपुराण (५), हरिवश पुराण प्रस्तावना
५३ जिनसेन—	१ जैन साहित्य व इतिहास पत्नाक १३०से१३२ २ प्राकृत साहित्य का इतिहास पत्नाक २७५ ३ आदि पुराण (४), उत्तरपुराण (५), हरिवश पुराण प्रस्तावना
५४ विद्यानन्द—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना २ न्यायकुमुद्रचन्द्र प्रस्तावना
५५ अमृतचन्द्र—	१ जैन साहित्य व इतिहास पत्नाक ३०९ से ३११
५६ आचार्य सिद्धर्षि—	१ प्रभावक चरित, पत्नाक १२ १से १२५ २ पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पत्नाक १०५ से १०६ ३ प्रबन्धकोश, पत्नाक २५ व २६
५७ शीलाक—	१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ३८२ २ सूत्रकृताग, टीका ३ सिद्धि विनिश्चय टीका प्रस्तावना
५८ सूर—	१ प्रभावक चरित, पृ० १५२ से १६०
५९ उद्योतन—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष
६० सोमदेव—	१ उपासकाध्ययन प्रस्तावना, पत्नाक १३ से
६१ अमितगति—	१ अमितगति श्रावकाचार-अमितगति आचार्य-परिचय, पत्नाक ५, ६, ७

	२ पञ्च सग्रह प्रस्तावना
६२ माणिक्यनन्दि—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० २६ से २७ २ न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
६३ अभयदेव—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३६ २ न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना
६४ वादिराज—	१ न्यायविनिश्चयविवरण प्रस्तावना
६५ शान्ति—	१ प्रभावक चरित, पृ६ १३३ से १३७ २ जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ३८६ से ३८९
६६ प्रभाचन्द्र—	१ आप्त परीक्षा प्रस्तावना, पृ० ३० से ३३ २ न्यायकुमुदचन्द्र प्रस्तावना, पृ० ११९
६७ नेमिचन्द्र— (सिद्धान्त-चक्रवर्ती)	१ वृहद् द्रव्य सग्रह प्रस्तावना २ प्राकृत साहित्य का इतिहास ३ द्रव्य सग्रह प्रस्तावना ४ गोमट्टसार प्रस्तावना
६८ जिनेश्वर—	१ खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९० २ प्रभावक चरित (श्री अभयदेव चरित), पृ० १६१, १६२ ३ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह ४ युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ०१० से १२
६९ अभयदेव टीकाकार—	१ पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृ० ९५ से ९६ २ प्रभावक चरित, पृ० १६१ से १६६ ३ प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १२१ ४ खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ० ६ से ८
७० जिनवल्लभ—	१ ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह

	२ युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ० १२
	३ खरतरगच्छ बृहद गुर्वावलि, पृ० ६०
७१ वीर—	१ प्रभावक चरित, पृ० १६८ से १७०
७२ अभयदेव (मल्लधारी)—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
७३ जिनदत्त—	१ खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ६१ व ६२
	२ खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० ३१ से ४४
	३ ऐतिहासिक जैन सग्रह
	४ युगप्रधान श्री जिनदत्त सूरि
७४ नेमिचन्द्र—	१ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, पृ० ४४७-४८
७५ शुभचन्द्र—	१ ज्ञानार्णव प्रस्तावना
७६ हेमचन्द्र (मल्लधारी)—	१ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्राक ५०५
७७ वादिदेव—	१ प्रभावक चरित, पृ० १७१-१८२
	२ रत्नाकरावतारिका-सम्पादकीय
७८ हेमचन्द्र—	१ प्रभावक चरित, पृ० १८३ से २१२
	२ प्रबन्धकोश, पृ० ४६ से ५४
	३ प्रमाण मीमासा प्रस्तावना
७६ मलयगिरि—	१ जैन साहित्य का इतिहास, भाग ३, पृ० ४१५ व ४१७
	२ न्याय कुमुदचन्द्र प्रस्तावना
८० जिनचन्द्र (मणिधारी)—	१ खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० ४४ से ५१
	२ युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि, पृ० १३
	३ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह, पृ० ८ से ६
८१ रामचन्द्र—	१ हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल
	२ प्रभावक चरित, पृ० १८३

	३ प्रवन्धकोश, पृ० ६८
८२ उदयप्रभ—	१ प्रवन्धकोश, पृ० १०१ २ ओसवाल जाति का इतिहास, पृ० १०६ व ११०
८३ रत्नप्रभ—	१ रत्नाकरावतारिका-सम्पादकीय २ सपा० प्र० दलसुख मालवणिया
८४ जगचन्द्र—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० ४
८५ रत्नाकर—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष
८६ देवेन्द्र—	१ सटीकश्चत्वार कर्मग्रन्थ प्रस्तावना, पृ० १६ से १८ २ प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३३७ व ३३८
८७ सोमप्रभ—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० ६
८८ मल्लिषेण—	१ स्याद्वाद मजरी प्रस्तावना, पृ० १५ से १७
८९ जिनप्रभ—	१ विविध तीर्थकल्प प्रस्तावना २ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह, पृ० ६८ व ६९ ३ खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि, पृ० ९४ से ९६
९० जिनकुशल—	१ ऐतिहासिक जैन काव्य-सग्रह २ युगप्रधानश्री जिनचन्द्रसूरि, पृ० १५ ३ खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १४६ से १७०
९१ मेरुतुग—	१ प्रवन्ध चिन्तामणि प्रस्तावना
९२ गुणरत्न—	१ षड्दर्शन समुच्चय प्रस्तावना, पृ० १८

नवीन युग

९३ हीरविजय—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (वशवृक्ष विभाग), पृ० १३
	२ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १२
	३ पट्टावली समुच्चय (सूरि परम्परा), पृ० १४६-१४७
९४ विजयसेन—	१ पट्टावली समुच्च (सूरि परम्परा) पृ० १४६-१४७
९५ विजयदेव—	२ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १२
९६ जिनचन्द्र— (अकबर-प्रतिबोधक)	१ युग-प्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि
९७ ऋषिलव—	१ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० १० से
९८ धर्मसिंह—	१ मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
९९ धर्मदास—	१ मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
१०० रघुनाथ—	१ मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
१०१ जयमल्ल—	१ जयवाणी अन्तर्दर्शन पृ० २० से २४ तक
	२ तेरापथ का इतिहास
१०२ भिक्षु—	१ तेरापथ का इतिहास
	२ भिक्षु स्मृतिग्रन्थ
१०३ जय—	१ तेरापथ का इतिहास
	२ भिक्षु स्मृतिग्रन्थ
१०४ विजयानन्द—	१ तपागच्छ श्रवण वश वृक्ष (वशवृक्ष विभाग), पृ० ८
	२ विवेचन विभाग, पृ० १४

१०५ अमोलक ऋषि—	१ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास पृ० १५९ से १६५ तक
१०६ विजयराजेन्द्र—	१ अभिधान राजेन्द्र कोष प्रस्तावना
१०७ कृपाचन्द्र—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
१०८ विजयधर्म—	१ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (चित्र-परिचय विभाग), पृ० १५-१७ २ तपागच्छ श्रमण वशवृक्ष (विवेचन विभाग), पृ० १६
१०९ विजयवल्लभ—	१. ओसवाल जाति का इतिहास
११० बुद्धिसागर—	१ तपागच्छ श्रमण वश-वृक्ष (वशवृक्ष विभाग) पृ० ६
१११ सागरानन्द—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
११२ कालूगणी—	१ तेरापथ का इतिहास
११३ जवाहर—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
११४ विजय शान्ति—	१ ओसवाल जाति का इतिहास
११५ शान्ति सागर—	१ पत्र-पत्रिकाओ से
११६ घासीलाल—	१ पत्र-पत्रिकाओ से
११७ आत्माराम—	१ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० ७५-७६
११८ देशभूषण—	१ पत्र-पत्रिकाओ से
११९ आनन्दऋषि—	१ ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास, पृ० २२९
१२० आचार्य तुलसी—	१ आचार्य तुलसी जीवन और दर्शन २ आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

परिशिष्ट २

प्रयुक्त-ग्रन्थ विवरण

अकलक ग्रन्थ त्रय
सम्पादक—पडित महेन्द्र कुमार शास्त्री
प्रकाशक—सिंघी जैन ग्रन्थमाला

अनुयोग द्वार
आर्य रक्षित कृत
प्रकाशक—राय धनपत सिंह

अनुयोग द्वार चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदास गणी महत्तर

अनुयोग द्वार वृति
वृत्तिकार—आचार्य हेमचन्द्र

अभिधान चिन्तामणि
लेखक—आचार्य हेमचन्द्र
प्रकाशक—चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी

अभिधान राजेन्द्र कोष
लेखक—विजय राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्वर समस्त सघ, रतलाम

अमितगति श्रावकाचार
लेखक—आचार्य अमितगति

प्रकाशक—मूलचन्द किशनचन्द कापडिया

आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ
प्रबन्ध सम्पादक—अक्षय कुमार जैन
प्रकाशक—आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली

आचार्य चरितावली
सम्पादक—श्रीचन्द रामपुरिया
प्रकाशक—श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता

आचार्य तुलसी—जीवन-दर्शन
लेखक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स

आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एक दृष्टि)
लेखक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—आदर्श साहित्य सघ, चूरू

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ
प्रकाशक—श्री जैन श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता

आचार्य सम्राट्
लेखक—ज्ञानमुनि जी
प्रकाशक—सेठ रामजीदास जैन, लोहिया

आचाराग चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—श्री ऋषिभदेव जी केसरीमल जी श्वेताम्बर सस्था

आचाराग निर्युक्ति
लेखक—आचार्य भद्रबाहु
प्रकाशक—

आचारांग वृत्ति
वृत्तिकार—शीलांकाचार्य
प्रकाशक—

आदि पुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्ति देव जैन ग्रन्थमाला

✓आप्त परीक्षा
लेखक—श्रीमद् विद्यानन्द
प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर, सरसावा

आयारो
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

आवश्यक चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदासगणी महत्तर
प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई

आवश्यक भाष्य

आवश्यक मलयगिरि वृत्ति

आवश्यक हारिभद्रीया वृत्तिटिप्पणक
मल्लधारी हेमचन्द्र कृत

आर्हत् आगमोनु अवलोकन
प्रणेता—हीरालाल रसिकदास कापडिया

✓इष्टोपदेश
लेखक—देवनन्दी (पूज्यपाद)

प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल

उत्तर पुराण
लेखक—आचार्य गुणभद्र
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ

उत्तराज्झयाणि
वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूं

उत्तराध्ययन वृत्ति
लक्ष्मीवल्लभगणी कृत

उपदेशमाला दोघट्टीवृत्ति
रत्नप्रभ कृत
प्रकाशक—धनजी भाई देवचन्द्र जौहरी, बम्बई

उपासकाध्ययन
सम्पादक—कैलाशचन्द्र शास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ऋषि मण्डल स्तोत्र
प्रकाशक—श्री जैन विद्याशाला, अहमदाबाद

ऋषि सम्प्रदाय का इतिहास
लेखक—मुनिश्री मोतीऋषि जी महाराज
प्रकाशक—श्री रत्नजैन पुस्तकालय, पाथर्डी (अहमदाबाद)

ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह
सम्पादक—अगरचन्द भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

ओघनिर्युक्ति
निर्युक्तिकार—श्रीमद् भद्रवाहु स्वामी 'श्रुतकेवली'
प्रकाशक—आगमोदय समिति, वम्बई

ओसवाल जाति का इतिहास
प्रकाशक—श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन ग्रन्थमाला, वम्बई

औपपातिक वृत्ति

अग सुत्ताणि
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

कल्पसूत्र
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी
प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाव

कसाय पाहुड सुत्त
गुणधराचार्य प्रणीत
प्रकाशक—वीर शासन सघ, कलकत्ता

कहावली
भद्रेश्वर सूरि कृत

कषाय पाहुड
प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन सघ

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न
लेखक—गोपालदास जीवाभाई पटेल
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

कुवलयमाला

उद्योतनसूरि कृत

खरतरगच्छ का इतिहास
सम्पादक—महोपाध्याय विनयसागर
प्रकाशक—दादा जिनदत्त सूरि अष्टम शताब्दी महोत्सव स्वागत

गोम्मटसार
लेखक—नेमिचन्द सिद्धान्त-चक्रवर्ती
प्रकाशक—श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

ज्योतिपकरण्डक टीका

जयवाणी
लेखक—आचार्य जयमल्ल जी
प्रकाशक—सम्मति ज्ञानपीठ, आगरा

जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

जैनग्रन्थ व ग्रन्थकार
सम्पादक—फतेहचन्द वेलानी
प्रकाशक—जैन सस्कृति सशोधन मण्डल

जैन गौरव स्मृतिया
लेखक—श्री मानमल जैन, श्री बसन्तीलाल नयावाया

जैन दर्शन
लेखक—डा० मोहन लाल मेहता

जैन धर्म
लेखक—कैलाशचन्द्र शास्त्री

जैन धर्म नु प्राचीन इतिहास

पण्डित श्रावक हीरालाल (जामनगर काठियावाड)

जैन परम्परा का इतिहास
लेखक—मुनि नथमल जी (युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—आदर्श साहित्य सघ, चूरू

जैनपुस्तक प्रशस्ति संग्रह
प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन

जैन शासन
लेखक—प० सुमेरुचन्द्र दिवाकर

जैन शिलालेख सग्रह भाग १, २, ३
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति

जैन शिलालेख सग्रह, भाग ४
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

जैन साहित्य और इतिहास
लेखक—नाथूराम प्रेमी
प्रकाशक— यशोधर, विद्याधर मोदी, व्यवस्थापक सशोधित साहित्यमाला

जैन साहित्य व इतिहास पर विशद प्रकाश
लेखक—जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—छोटेलाल जैन, मन्त्री श्री वीर शासन सघ

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३
लेखक—प० बेचनदास दोषी
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम, शोध सस्थान, जैनाश्रम

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४
लेखक—डा० मोहनलाल मेहता

जैन साहित्य नु सक्षिप्त इतिहास

लेखक—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई

जैनाचार्य श्री आत्माराम जी जन्म शताब्दी ग्रन्थ
सम्पादक—मोहनलाल दुलीचन्द देसाई
प्रकाशक—जन्म शताब्दी स्मारक समिति, बम्बई

ठाण
वाचना प्रमुख—आचार्यश्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

✓तत्त्वानुशासन
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार

✓तत्त्वार्थ राजवार्तिक
लेखक—आचार्य अकलक

✓ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक
लेखक—आचार्य विद्यानन्द
प्रकाशक—गाधी नाथारग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

तत्त्वार्थ-सूत्र
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—भारत जैन महामण्डल, वर्धा

तत्त्वार्थधिगम
लेखक—उमास्वाति

तपागच्छ पट्टावली
लेखक—उपाध्याय श्री मेघविजयगणी जी

तित्थोगालिय पइन्ना
वीर निर्वाण सवत् व जैन काल-गणना से प्राप्त

तेरापथ का इतिहास
लेखक—मुनि बुद्धमल जी, साहित्य परामर्शक
प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापथी सभा, कलकत्ता

दशवैआलिय
वाचनाप्रमुख—आचार्य श्री तुलसी
सम्पादक, विवेचक—मुनि नथमल जी (वर्तमान मे युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ)
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनू

दशवैकालिक चूर्णि
लेखक—अगस्त्यसिह
प्रकाशक—आगमोदय समिति, वम्बई

दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति

दशवैकालिक निर्युक्ति
निर्युक्तिकार—भद्रवाहु (द्वितीय)

दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति
लेखक—भद्रवाहु (द्वितीय)

द्रव्य-सग्रह
सम्पादक—दरवारीलाल कोठिया, गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थमाला

दादा श्री जिनकुशल श्री
लेखक—अगरचन्द भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—

The Jain sources of the history of ancient India writer · Jyoti Parsad Jain

द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका-१, २, ३, ४, ५
सम्पादक—विजय सुशील सूरि

प्रकाशक—विजय लावण्य सूरीश्वर, ज्ञान मन्दिर

दुपमाकाल श्री श्रमण सघ स्तोत्र अवचूरि
लेखक—धर्मघोष सूरि
(पट्टावली समुच्चय, प्रथम भाग से प्राप्त)

धर्म विन्दु
लेखक—आचार्यश्री हरिभद्र सूरि
प्रकाशक—नागजी भूधर की पोल, अहमदावाद

नन्दी चूर्णि
जिनदासगणी महत्तर कृत
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी

नन्दी सुत्त
सम्पादक—मुनि पुण्यविजय जी

न्याय कुमुद्रचन्द्र
लेखक—श्रीमद् प्रभाचन्द्राचार्य

न्याय विनिश्चय विवरण
सम्पादक—महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य

न्यायावतार वार्तिक वृत्ति
सम्पादक—पूर्णतल्लगच्छीय श्री शान्ति सूरि विरचित
प्रकाशक—भारतीय विद्या भवन, बम्बई

न्याय तीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सम्पादक—प० दलसुख मालवणिया

निशीथ सूत्रम्

सम्पादक—उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि, मुनि श्री कन्हैयालाल (कमल)
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

निशीथ चूर्णि
चूर्णिकार—जिनदास महत्तर गणी

निशीथ भाष्य
भाष्यकार—विशाखगणी

पञ्च सग्रह
लेखक—आचार्य अमितगति
प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर (जैन ग्रन्थमाला समिति, सोमगढ, सौराष्ट्र)

पञ्चास्तिकाय सग्रह
कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत
प्रकाशक—दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पट्टावली समुच्चय
सम्पादक—मुनि दर्शन विजय
प्रकाशक—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला

प्रवन्धकोश
लेखक—जिनविजय, विश्वभारती, शान्ति निकेतन

प्रवन्ध चिन्तामणि
लेखक—मेरुतुगाचार्य
प्रकाशक—सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्ति निकेतन

प्रभावक चरित्र
लेखक—श्रीप्रभाचन्द्राचार्य
प्रकाशक—सिन्धी जैन ज्ञानपीठ

प्रमाण-मीमासा

लेखक—हेमचन्द्राचार्य
सम्पादक—प० सुखलाल सिंघवी
प्रकाशक—सिन्धी जैन ग्रन्थमाला

परिशिष्ट पर्व
लेखक—हेमचन्द्राचार्य

प्रशमरति प्रकरण
लेखक—उमास्वाति
प्रकाशक—जीवनचन्द्र साकरचन्द्र जह्वेरी

प्राकृत साहित्य का इतिहास
लेखक—डा० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०, पी०एच०डी०
प्रकाशक—चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

पिण्ड निर्युक्ति
लेखक—श्रीमद् भद्रबाहु स्वामी

पुरातन प्रबन्ध सग्रह
सम्पादक—जिन विजय मुनि
प्रकाशक—सिन्धी जैन ग्रन्थमाला

भारतीय इतिहास—एक दृष्टि
लेखक—डा० ज्योतिप्रसाद जैन
प्रकाशक—

भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योगदान
लेखक—डा० हीरालाल जैन
प्रकाशक—

मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि
लेखक—अगरचन्द भवरलाल नाहटा

महापुराण
लेखक—आचार्य पुष्फदन्त
प्रकाशक—माणिक्य चन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति

महाबन्ध
सम्पादक—प० सुमेरुचन्द्र दिवाकर, शास्त्री न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

मुनिश्री हजारीमल जी स्मृतिग्रन्थ
प्रकाशक—हजारीमल स्मृति ग्रन्थ प्रकाशक समिति

युक्त्यनुशासन
लेखक—स्वामी समन्तभद्र

युगप्रधान श्री जिनचन्द्र सूरि
लेखक—अगरचन्द भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

युगप्रधानश्री जिनदत्त सूरि
लेखक—अमरचन्द भवरलाल नाहटा
प्रकाशक—शकरदान शुभैराज नाहटा, कलकत्ता

योगदृष्टि समुच्चय, योग विन्दुश्च
प्रकाशक—श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा

रत्नाकरावतारिका
सम्पादक—प० दलसुख मालवणिया
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय सस्कृति विद्या मदिर, अहमदाबाद

व्यवहार चूर्णि

वसुनन्दी श्रावकाचार
सम्पादक—प० हीरालाल जैन, सिद्धान्त शास्त्री, न्यायतीर्थ
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

✓विविध तीर्थकल्प
सम्पादक—जिनविजय, विश्वभारती, शान्ति निकेतन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

विशेपावश्यक भाष्य
सम्पादक—प० दलसुख मालवणिया
प्रकाशक—लालभाई दलपतभाई, भारतीय सस्कृति विद्या मदिर, अहमदाबाद

वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना
लेखक—मुनि कल्याण विजय
प्रकाशक—क० वि० शास्त्र समिति, जालोर (मारवाड)

बृहद् कल्प सूत्र
सम्पादक—मुनि चतुरविजय, पुण्यविजय
प्रकाशक—भावनगरस्था श्री जैन आत्मानन्द सभा

✓बृहद् द्रव्य सग्रह
लेखक—जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धन्तिदेव विरचित
प्रकाशक—श्रीमद्राजचन्द्र जैन ग्रन्थमाला

शब्दो की वेदी अनुभव के दीप
लेखक—मुनि दुलहराज
प्रकाशक—आदर्श साहित्य सघ, चूरू

✓षट्खण्डागम
लेखक—पुष्पदन्त, भूतवलि
प्रकाशक—जैन सस्कृति सरक्षण सघ, शोलापुर

✓षड्दर्शन समुच्चय
लेखक—डा० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायचार्य एम०ए०, पी०-एच०डी०

✓स्तुति विद्या
लेखक—स्वामी समन्तभद्र

स्थानांग वृत्ति
लेखक—अभयदेव सूरि
प्रकाशक—श्री आगमोदय समिति, बम्बई

स्याद्वाद मंजरी
लेखक—आचार्य मल्लिसेन

स्वयम्भू स्तोत्र
लेखक—समन्तभद्र

स्वामी समन्तभद्र
लेखक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—श्री वीर शासन संघ

सटीकाश्चत्वार कर्मग्रन्था
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

समाधि-तन्त्र
सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश
अनुवादक—परमानन्दशास्त्री, देवनन्दी (पूज्यपाद) विरचित
प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर सोसाइटी (दिल्ली)

सर्वार्थसिद्धि
सम्पादक—फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सर्वज्ञसिद्धि
लेखक— हरिभद्र सूरि
प्रकाशक—श्री जैन साहित्य वर्धक सभा

सिद्धि विनिश्चय टीका
लेखक—अकलक देव विरचित
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

हरिवंश पुराण
लेखक—आचार्य जिनसेन
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

हारिभद्रीय आवश्यक वृत्ति
लेखक—हेमचन्द्र सूरि
प्रकाशक—शाहनगीन भाई घेलाभाई जव्हेरी

हिमवन्त स्थविरावली
वीर निर्वाण सवत् और जैन कालगणना ग्रन्थ से प्राप्त

हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल
लेखक—भोगीलाल साडसेरा, एम०ए०, पी०-एच० डी०
प्रकाशक—जैन सस्कृति सशोधन मण्डल, वाराणसी

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य
सम्पादक—मुनि चरणविजय
प्रकाशक—श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर

ज्ञानार्णव
लेखक—आचार्य शुभचन्द्र
प्रकाशक—रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला।